मोक्षमार्गप्रकाशक का सार

पहला प्रवचन

मंगलाचरण

(दोहा)

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान।।

पण्डितों के पण्डित महापण्डित आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी और उनकी कालजयी क्रान्तिकारी कृति मोक्षमार्गप्रकाशक जैनदर्शन के अमूल्य रत्न हैं।

जिनागम को समझने में जो भूलें अज्ञानी जगत करता है, उन भूलों को निकालने वालों को पण्डित कहा जाता है; पर पण्डित टोडरमलजी उन पण्डितों में हैं; जिन्होंने न केवल अज्ञानी जगत की भूलों को निकाला, अपितु जो अपने को जिनागम का अभ्यासी समझते हैं; फिर भी उसका मर्म नहीं समझ पाने से सद्धर्म को तो प्राप्त नहीं कर पाते, अपितु बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझकर रह जाते हैं; उनके द्वारा की जाने वाली भूलों की ओर ध्यान दिलाकर उनका भी मार्गदर्शन किया है। मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें और आठवें अधिकार इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

यही कारण है कि मैं उन्हें **पण्डितों के पण्डित कहता हूँ।**

यद्यपि वे आचार्य नहीं थे, पर उन्होंने **सत्साहित्य के क्षेत्र में आचार्यों के समान महान कार्य किया है; इसकारण उन्हें आचार्यकल्प कहा जाता है।**

ऐसे पण्डित तो इस लोक में बहुत मिलेंगे, जिन्होंने शास्त्रों को पढ़ा है; पर ऐसे पण्डित मिलना दुर्लभ हैं, जिन्होंने शास्त्रों के साथ-साथ आत्मा को भी पढ़ा हो। कदाचित् ऐसे पण्डित भी मिल जायेंगे कि

जिन्होंने शास्त्रों के साथ-साथ आत्मा को भी पढ़ा हो; पर ऐसे पण्डित मिलना अत्यन्त दुर्लभ हैं कि जिन्होंने शास्त्रों को पढ़ा हो, आत्मा को पढ़ा हो, आत्मानुभव किया हो और इस जगत को भी पढ़ा हो। पण्डित टोडरमलजी उन पण्डितों में हैं; जिन्होंने **शास्त्रों को पढ़ा था, आत्मा को पढ़ा था, आत्मा का अनुभव किया था और जगत को भी पढ़ा था।**

इसका प्रमाण मोक्षमार्गप्रकाशक का २२०वाँ पृष्ठ है, जिस पर उन्होंने लौकिकजनों की धर्माराधना का विकृत चित्र प्रस्तुत किया है।

उन्होंने लिखा है ''अब, इनके धर्म का साधन कैसे पाया जाता है सो विशेष बतलाते हैं

वहाँ कितने ही जीव कुलप्रवृत्ति से अथवा देखा-देखी लोभादि के अभिप्राय से धर्म साधते हैं, उनके तो धर्मदृष्टि ही नहीं है।

यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कहीं है, दृष्टि घूमती रहती है और मुख से पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते हैं; परन्तु यह ठीक (इस बात का पता) नहीं है कि मैं कौन हूँ, किसकी स्तुति करता हूँ, किस प्रयोजन के अर्थ (लिये) स्तुति करता हूँ, पाठ में क्या अर्थ है, सो कुछ पता नहीं है।

तथा कदाचित् कुदेवादिक की भी सेवा करने लग जाता है; वहाँ सुदेव-गुरु-शास्त्रादि व कुदेव-गुरु-शास्त्रादिक की विशेष पहिचान नहीं है।

तथा यदि दान देता है तो पात्र-अपात्र के विचार रहित जैसे अपनी प्रशंसा हो, वैसे दान देता है।

तथा तप करता है तो भूखा रहकर महंतपना हो, वह कार्य करता है; परिणामों की पहिचान नहीं है।

तथा व्रतादिक धारण करता है तो वहाँ बाह्य क्रिया पर दृष्टि है; सो भी कोई सच्ची क्रिया करता है, कोई झूठी करता है; और जो अन्तरंग रागादिभाव पाये जाते हैं, उनका विचार ही नहीं है। तथा बाह्य में रागादि के पोषण के साधन करता है।

तथा पूजा-प्रभावनादि कार्य करता है तो वहाँ जिसप्रकार लोक में बड़ाई हो व विषय-कषाय का पोषण हो; उसप्रकार कार्य करता है। तथा बहुत हिंसादिक उत्पन्न करता है। सो यह कार्य तो अपने तथा अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के अर्थ (लिये) कहे हैं। तथा वहाँ किंचित् हिंसादिक भी उत्पन्न होते हैं, परन्तु जिसमें थोड़ा अपराध हो और गुण अधिक हो; वह कार्य करना कहा है। सो परिणामों की तो पहिचान नहीं है और यहाँ अपराध कितना लगता है, गुण कितना होता है ऐसे नफा-टोटे का ज्ञान नहीं है व विधि-अविधि का ज्ञान नहीं है।

तथा शास्त्राभ्यास करता है तो वहाँ पद्धतिरूप प्रवर्तता है। यदि बाँचता है तो औरों को सुना देता है, यदि पढ़ता है तो आप पढ़ जाता है, सुनता है तो जो कहते हैं, वह सुन लेता है; परन्तु जो शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है, उसे आप अन्तरंग में अवधारण नहीं करता।

इत्यादि धर्मकार्यों के मर्म को नहीं पहिचानता।

कितने तो जिसप्रकार कुल में बड़े प्रवर्तते हैं; उसीप्रकार हमें भी करना; अथवा दूसरे करते हैं; वैसा हमें भी करना; व ऐसा करने से हमारे लोभादिक की सिद्धि होगी इत्यादि विचार सहित अभूतार्थ धर्म को साधते हैं।

तथा कितने ही जीव ऐसे होते हैं जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है, कुछ धर्मबुद्धि भी है; इसलिये पूर्वोक्त प्रकार का धर्म का साधन करते हैं।''

उस समय अज्ञानी जगत में धर्म के नाम पर किसप्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जाती थी; उनका यह सजीव चित्रण है।

एक ही पृष्ठ में पण्डितजी ने तथाकथित भक्तों, दानियों, तपस्वियों, व्रतियों, पूजा-प्रभावना करनेवालों और शास्त्रों का अभ्यास करनेवालों का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि आज भी समाज में उसीप्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने में आ रही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अज्ञानियों की

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

प्रवृत्तियाँ तो सदा और सर्वत्र एकसी ही होती हैं; इसलिए उनके सन्दर्भ में मार्गदर्शन करने के लिये महापंडित टोडरमलजी जैसे ज्ञानीजनों की आवश्यकता भी सदा और सर्वत्र रहती ही है।

मुक्तिमार्ग पर प्रकाश डालने वाले इस मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र की रचना उस समय की जैननगरी जयपुर में विक्रम संवत् १८१८ से १८२४ के मध्य हुई थी।

मार्ग तो हमेशा खुला ही रहता है; परन्तु दिन में सूर्य के प्रकाश में उसपर आवागमन होने लगता है और रात्रि में घने अँधकार के कारण आवागमन अवरुद्ध-सा हो जाता है। समुचित प्रकाश की व्यवस्था होने पर थोड़ा-बहुत आवागमन चलता भी रहता है।

सर्वज्ञ भगवानरूपी सूर्य का अस्त तो हो ही गया है; अतः अब सन्तों, आचार्य भगवन्तों और ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा लिखित ग्रंथ (शास्त्र) रूपी दीपक ही उसपर प्रकाश डालते हैं। **यह मोक्षमार्गप्रकाशक भी एक ऐसा ही दीपक (ग्रंथ) है कि जो इस कलिकाल में मुक्ति के मार्ग पर प्रकाश डाल रहा है और आगे भी डालता रहेगा।**

पंडित टोडरमलजी ने ग्रंथ के आरंभ में ही इस बात को सयुक्ति प्रस्तुत किया है; इस ग्रन्थ के मोक्षमार्गप्रकाशकपने को सिद्ध किया है; इसकी आवश्यकता और उपयोगिता पर प्रकाश डाला है; जो मूलतः पठनीय है।

मोक्षमार्गप्रकाशक अर्थात् मुक्ति के मार्ग पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ, दुःखों से मुक्त होने का उपाय बताने वाला ग्रन्थ।

जिसप्रकार हम दीपक से दीपक जलाते हैं; इसप्रकार हजारों दीपक जलने लगते हैं; पर वे अन्धकार का नाश सूर्य के समान पूरी तरह तो कर नहीं पाते; फिर भी मार्ग पूरी तरह अवरुद्ध नहीं होता, जगत का काम चलता ही रहता है। उसीप्रकार **केवलज्ञानियों के अभाव में श्रुतकेवलियों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। श्रुतकेवलियों के बाद आचार्य भूतबली, पुष्पदन्त और कुन्दकुन्दाचार्य जैसे आचार्यों ने महाग्रंथों रूपी बड़े-**

बड़े दीपक जलाये; उसके बाद भी आचार्यों, सन्तों और ज्ञानी गृहस्थों ने इस परम्परा को कायम रखा। इसप्रकार दीपकों से दीपक जलने की परम्परा आज तक चली आ रही है।

यद्यपि केवलज्ञानरूपी सूर्य जैसा प्रकाश तो नहीं रहा; पर घना अँधकार भी नहीं हो पाया और आज भी उन दीपकों के माध्यम से मुक्ति का मार्ग चल रहा है और चलता रहेगा।

यह मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र भी एक ऐसा ही दीपक है कि जिसके प्रकाश में आज भी अनेकानेक लोग मुक्ति के मार्ग पर चलने का सफल प्रयास कर रहे हैं और युगों-युगों तक करते रहेंगे।

इसके आरंभ में ही पंडितजी कहते हैं कि इस ग्रन्थ में जो कुछ भी मैं लिख रहा हूँ, उसमें मेरा कुछ भी नहीं है, सबकुछ भगवान महावीर की दिव्यध्वनि में समागत वस्तुस्वरूप ही है; जो जबसे अभीतक निर्बाध परम्परा से चला आ रहा है, और मेरे महाभाग्य से मुझे भी प्राप्त हो गया है।

वे मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ ११ पर स्वयं लिखते है

''हमने इस काल में यहाँ अब मनुष्यपर्याय प्राप्त की। इसमें हमारे पूर्व संस्कार से व भले होनहार से जैनशास्त्रों के अभ्यास करने का उद्यम हुआ; जिससे व्याकरण, न्याय, गणित आदि उपयोगी ग्रन्थों का किंचित् अभ्यास करके टीकासहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र और क्षपणासार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन आदि शास्त्र और श्रावक-मुनि के आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र और सुष्ठुकथासहित पुराणादि शास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्र हैं, उनमें हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्तता है; उससे हमें भी किंचित् सत्यार्थपदों का ज्ञान हुआ है।

इस निकृष्ट समय में जैसे मंदबुद्धियों से भी हीन बुद्धि के धनी बहुत जन दिखायी देते हैं। उन्हें उन पदों का अर्थज्ञान हो, इस हेतु धर्मानुरागवश देशभाषामय ग्रन्थ रचने की हमें इच्छा हुई है, इसलिये हम यह ग्रन्थ बना

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

रहे हैं। इसमें भी अर्थसहित उन्हीं पदों का प्रकाशन होगा। इतना तो विशेष है कि जिसप्रकार प्राकृत-संस्कृत शास्त्रों में प्राकृत-संस्कृत पद लिखे जाते हैं, उसीप्रकार यहाँ अपभ्रंश सहित अथवा यथार्थता सहित देशभाषारूप पद लिखते हैं; परन्तु अर्थ में व्यभिचार कुछ नहीं है।

इसप्रकार इस ग्रन्थपर्यंत उन सत्यार्थपदों की परम्परा वर्तती है।''

पण्डितजी के उक्त कथन से आत्मार्थी भाई-बहिनों को यह प्रेरणा मिलती है कि हमें किन-किन शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये और यह भी समझ में आता है कि उन्होंने इस ग्रंथ की रचना किस भावना से की है।

इसप्रकार उन्होंने स्वयं इस मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र की प्रामाणिकता पर प्रकाश डाला है।

यह मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र पूर्ण नहीं हो पाया। यदि यह पूर्ण हो गया होता तो इसका स्वरूप कैसा होता इसकी कल्पना हम कर सकते हैं। मैंने पी-एच.डी. के लिए शोध करते समय इसकी एक रूपरेखा तैयार की थी। वह रूपरेखा मेरे शोधप्रबन्ध और मोक्षमार्गप्रकाशक की प्रस्तावना में दी गई है, जिसे विशेष जिज्ञासा हो, वे वहाँ से देख सकते हैं।

उक्त रूपरेखा मात्र मेरी कल्पना नहीं है; उसका ठोस आधार मोक्षमार्गप्रकाशक में १२ स्थानों पर लिखे गये वे वाक्य हैं कि जिनमें यह लिखा गया है कि इसका विशेष विवेचन हम आगे करेंगे। एक स्थान पर लिखा है कि इसकी चर्चा हम कर्माधिकार में करेंगे। इसका स्पष्ट संकेत यह है कि वे इस ग्रन्थ में एक कर्मों का स्वरूप बतानेवाला अधिकार भी लिखना चाहते थे।

यदि हम उक्त १२ बिन्दुओं पर गहराई से चिन्तन करें तो हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि वे इस ग्रन्थ में क्या-क्या लिखना चाहते थे। अभी यह ग्रन्थ ३५० पृष्ठों का है। यदि पूर्ण हो गया होता तो ४ हजार पृष्ठों से कम का नहीं होता। तब हम बड़े ही गौरव से कह सकते थे कि यदि जैनदर्शन को समझना है तो अकेले मोक्षमार्गप्रकाशक को ही पढ़ लीजिये,

जैनदर्शन समझ में आ जायगा; क्योंकि उसमें वह सबकुछ होता जो जैनधर्म जानने के लिये आवश्यक है।

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को मुक्तिमार्ग बताया गया है और यह ग्रन्थ भी मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डालने वाला अर्थात् मोक्षमार्गप्रकाशक है; अतः इसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का स्वरूप विस्तार से आनेवाला था; जिसे उन्होंने नौवें अधिकार में आरंभ किया है; पर ग्रन्थ तो अधूरा है ही, वह अधिकार भी पूरा नहीं हो पाया।

आरंभ के आठ अधिकार तो मात्र भूमिका ही हैं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मुक्ति का मार्ग है और मिथ्यादर्शन, ज्ञान चारित्र संसार का मार्ग है। आठ अधिकारों में संसारमार्ग का निरूपण ही हो पाया है। संसार समुद्र से पार होने के लिये संसार के कारण रूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि उन्होंने इनका विवेचन भी विस्तार से किया।

इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि जब संसार मार्ग ही ३५० पृष्ठों में है तो फिर मुक्ति का मार्ग कितने पृष्ठों का होता।

अधिकतर लोग मिथ्यात्व का अर्थ अकेला मिथ्यादर्शन ही समझते हैं; जबकि मिथ्यात्व में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तीनों ही शामिल हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्व का अर्थ भी अकेला सम्यग्दर्शन नहीं; अपितु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही होते हैं।

विशेष ध्यान रखने योग्य बात यह है कि शास्त्रों में भी कहीं-कहीं इन मिथ्यात्व और सम्यक्त्व शब्दों का प्रयोग क्रमशः अकेले मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन के अर्थ में भी होता रहा है; इसकारण प्रकरण के अनुसार इनका अर्थ समझना ही समझदारी है।

आचार्यकल्प टोडरमलजी ने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को अगृहीत और गृहीत के भेदों में विभाजित किया है।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

जो मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र अनादि से ही हैं, समझपूर्वक ग्रहण नहीं किये; वे अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं और जो सैनी पंचेन्द्रिय होने के बाद मनुष्यगति में कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के निमित्त से बुद्धिपूर्वक नये ग्रहण किये गये हैं; वे गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र हैं।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का गृहीत और अगृहीत के रूप में किया गया वर्गीकरण जैसा मोक्षमार्गप्रकाशक में उपलब्ध होता है, वैसा उसके पूर्व में दिखाई नहीं देता। टोडरमलजी के उत्तरकालीन विद्वानों ने इस सन्दर्भ में उनका अनुकरण किया है। **पण्डित दौलतरामजी कृत छहढाला की दूसरी ढ़ाल मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रतिपादन का ही संक्षिप्त रूपान्तरण है।**

पहला अधिकार पीठबंध है, जिसमें मंगलाचरणोपरान्त पंचपरमेष्ठी का स्वरूप, मंगलाचरण का हेतु, ग्रन्थ की प्रामाणिकता, स्वयं की स्थिति, वक्ता, श्रोता व पढ़ने योग्य शास्त्रों का स्वरूप आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अधिकार में कर्मोदय के निमित्तपूर्वक अनादिकाल से इस जीव की दशा कैसी हो रही है और **तीसरे अधिकार** में पंचेन्द्रिय विषयों की पराधीनता से इसने कैसे-कैसे दुःख उठाये हैं यह बताने के उपरान्त सच्चे सुख स्वरूप समझाया गया है।

चौथे अधिकार में अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र का स्वरूप समझाया गया है और **पाँचवें से सातवें अधिकार** तक गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र का निरूपण है।

गृहीत मिथ्यात्व के सन्दर्भ में पाँचवे अधिकार में जैनेतर मत की समीक्षा, **छठवें अधिकार** में व्यंतरादि देवी-दहाड़ी आदि के पूज्यत्व की समीक्षा और **सातवें अधिकार** में निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभया-भासी और सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों की समीक्षा की गई है।

इसके बाद **आठवें अधिकार** में उपदेश के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण जिनागम चार भागों में विभक्त किया गया है प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन के लिये प्रत्येक अनुयोग की अपनी अलग शैली है। शैली को समझे बिना वस्तुस्वरूप समझना संभव नहीं है; इसलिये इस अधिकार में चारों अनुयोगों की शैलियों को विस्तार से समझाया गया।

नौवें अधिकार में सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाना आरंभ ही किया था कि वे षड्यंत्र के शिकार हो गये और **हम सबके दुर्भाग्य से वह नौवाँ अधिकार भी अधूरा ही रह गया।**

वे ग्रंथ का आरंभ निम्नलिखित मंगलाचरण से करते हैं

(मंगलाचरण)

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान।।१।।
करि मंगल करिहौं महा, ग्रंथकरन को काज।
जातैं मिलै समाज सब, पावै निजपद राज।।२।।

मैं मंगलस्वरूप और मंगल करने वाले उस वीतराग-विज्ञान को नमस्कार करता हूँ, जिसके आश्रय से अरहंतादि पंचपरमेष्ठी महान बने हैं।

मंगलाचरण करने के उपरान्त अब मैं इस मोक्षमार्गप्रकाशक नामक महाग्रंथ की रचना करने का काम आरंभ करता हूँ, इसके फलस्वरूप मुझे अनन्तगुणों का अपना समाज और निजपद का राज प्राप्त होगा।

देखो, पण्डितजी किसी भी प्रकार की लौकिक कामना न करते हुये **निजगुणरूपी समाज और निजपदरूपी राज की भावना भाते हैं।**

मंगलाचरणोपरान्त ग्रंथ करने संबंधी प्रतिज्ञा वाक्य में वे अपने इस ग्रंथ को महाग्रंथ कहते हैं, जिससे समझा जा सकता है उनके चित्त में साधारण ग्रन्थ नहीं, अपितु एक महान ग्रंथ लिखने का संकल्प था।

पंचाध्यायीकार ने भी अपने ग्रंथ को ग्रन्थराज कहा है और उसका

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

नाम पंचाध्यायी रखा। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वे पाँच अध्याय लिखना चाहते थे; पर दूसरा अध्याय भी पूरा न हो सका और वे चल दिये।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ग्रंथराज पंचाध्यायी और महाग्रंथ मोक्षमार्गप्रकाशक दोनों ही अधूरे रह गये हैं।

लगता है कि टोडरमलजी के चित्त में पहले से ही आशंका हो गई थी कि शायद यह ग्रंथ पूरा न हो पाये। मंगलाचरण करने के कारणों की मीमांसा करते हुये उन्होंने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति की मीमांसा पर बहुत जोर दिया है, प्रश्नोत्तरों के माध्यम से बात को स्पष्ट किया है।

वे लिखते हैं **आयु का भरोसा नहीं है**। ४०-४५ वर्ष के महापुरुषों के ऐसे कथन कुछ विशिष्ट सूचना देते हैं। ऐसी बातें साठ-सत्तर वर्ष के लोग करते हैं; पर उस समय के वातावरण को देखकर मानों उन्हें अकाल मृत्यु का आभास हो गया था। **जिसप्रकार उन्होंने जैन-जैनेतर मतों की समीक्षा की है, शिथिलाचार का विरोध किया है, धर्म के नाम पर चलने वाले पाखण्डों की पोल खोली है; उससे वे शिथिलाचारियों के लिये एक बहुत बड़ा खतरा बन गये थे।**

चारों ओर के वातावरण को देखकर उन्हें कुछ-कुछ आभास हो गया होगा कि किसी भी दिन कुछ भी अघटित घटित हो सकता है। आखिर, उनकी यह आशंका सत्य साबित हुई और वे ४७ वर्ष की अल्पायु में विरोधियों के षड्यंत्र के शिकार हो गये।

जरा, गंभीरता से विचार करो कि उन्होंने यह अनुपम कृति हमें किस कीमत पर दी है, उन्होंने इसे जान की बाजी लगाकर लिखा है।

जैनदर्शन में सर्वश्रेष्ठ मंत्र णमोकार महामंत्र माना जाता है। इस णमोकार महामंत्र में सभी अरहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को नमस्कार किया गया है।

अतः उन्होंने ग्रंथ के आरंभ में ही उक्त मंत्र का स्मरण करते हुये पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि उन्होंने णमोकार महामंत्र के माध्यम से पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करने के पहिले वीतराग-विज्ञान को नमस्कार करना उचित समझा; क्योंकि वीतराग-विज्ञान के आश्रय से ही हम-तुम जैसे साधारण जीव भी पंचपरमेष्ठी पद प्राप्त कर लेते हैं। यह बात मैं नहीं कह रहा हूँ, अपितु उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि

नमो ताहि जाते भये अरहंतादि महान।

पंचपरमेष्ठियों का स्वरूप स्पष्ट करते हुये उन्होंने परम्परागत पद्धति को नहीं अपनाया; अपितु जहाँ हम सब खड़े हैं, वहाँ से आरंभ कर अरहंत दशा तक ले गये हैं।

अरहंत का स्वरूप समझाते हुये वे लिखते हैं "जो गृहस्थपना त्यागकर, मुनिधर्म अंगीकार कर, निजस्वभावसाधन द्वारा, चार घातिकर्मों का क्षय करके चतुष्टयरूप विराजमान हुये .....; वे अरहंत देव हैं।"

उक्त विवेचन में **गृहस्थपना** और **मुनिपना** शब्दों को भाववाची बनाया गया है। तात्पर्य यह है कि मात्र घर छोड़कर नग्न दिगम्बरदशा धारण करने से कुछ होनेवाला नहीं है; **गृहस्थपना त्यागना होगा और मुनिपना धारण करना होगा।** बाह्य क्रियाकाण्ड से काम नहीं चलेगा, अंतरंग भावों की पहिचान आवश्यक है।

साधन की चर्चा करते हुये भी **निजस्वभाव साधन द्वारा** लिखकर यह स्पष्ट किया गया है कि बाह्य शारीरिक क्रियाकाण्ड एवं शुभभावों से घातियाकर्मों का अभाव और अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति नहीं होती, अपितु निजस्वभावसाधन अर्थात् शुद्धोपयोग से होती है।

यद्यपि अनंतदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन अनन्त चतुष्टयों की प्राप्ति के लिये नग्नदिगम्बर दशा अनिवार्य है; तथापि मात्र नग्नदिगम्बर हो जाने से कुछ नहीं होगा; साथ ही शुद्धोपयोग की साधना अनिवार्य है।

जिस विधि से उन्होंने अरहन्त भगवान के स्वरूप पर प्रकाश डाला है; उसी विधि से सिद्धों के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

साधु तो साधु हैं ही, आचार्य और उपाध्याय भी तो साधु ही हैं। अतः उन्होंने पहले साधुओं का सामान्य स्वरूप बताया; उसके बाद आचार्य और उपाध्यायों की चर्चा करते समय उनकी विशिष्ट विशेषताओं को अलग से बता दिया। आचार्य और उपाध्यायों में साधु संबंधी सभी गुण तो होना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त संघ का अनुशासन-प्रशासन करने वाले आचार्य और पठन-पाठन कराने वाले उपाध्याय होते हैं।

पंच परमेष्ठियों का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर सयुक्ति प्रकाश डाला गया है।

वीतरागी सर्वज्ञ भगवान महावीर की वाणी; जो परम्परागत रूप से आज भी उपलब्ध है; यह मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र उसी के अनुसार लिखा गया है; अतः इसकी प्रामाणिकता में संदेह के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस पर यदि कोई कहे कि भगवान महावीर तो वीतरागी सर्वज्ञ थे; उनके बाद आजतक चली आई परम्परा में आनेवाले लेखक और प्रवक्ता सभी तो वीतरागी-सर्वज्ञ नहीं थे। इतनी लम्बी परम्परा में किसी ने बीच में कुछ मिलावट कर दी हो, कुछ घालमेल कर दिया हो तो....।

उक्त आशंका का निवारण करते हुये पंडितजी कहते हैं कि ज्ञानीजन उसको चलने नहीं देते। पंडितजी के उक्त कथन में ज्ञानी धर्मात्मा विद्वानों में कितना बड़ा विश्वास व्यक्त किया गया है। न केवल विश्वास व्यक्त किया, अपितु उनके कन्धों पर जिनवाणी को शुद्ध एवं पूर्ण प्रामाणिक रखने का भार भी डाल दिया है। तात्पर्य यह है कि यदि जैनदर्शन के नाम पर जैनसिद्धान्तों के विरुद्ध कोई बात चल रही हो तो ज्ञानी विद्वानों को दृढ़तापूर्वक उसका निषेध कर देना चाहिये।

इसके बाद में जानने-सुनने योग्य शास्त्र, ज्ञानी वक्ता और तत्त्वजिज्ञासु श्रोताओं के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

बांचने-सुनने योग्य शास्त्रों की चर्चा करते समय वे किन्हीं ग्रन्थ

विशेषों का नाम नहीं गिनाते; अपितु कहते हैं कि जो शास्त्र मोक्षमार्ग का प्रकाश करें, जिनमें मोह-राग-द्वेषभावों का निषेध करके वीतराग-भाव का पोषण किया गया हो; वे शास्त्र ही बाँचने-सुनने योग्य हैं।

जिनमें शृंगार-भोग-कुतूहलादि का पोषण करके रागभाव का, हिंसा-युद्धादि का पोषण करके द्वेषभाव का और अतत्त्व श्रद्धान का पोषण करके मोहभाव (मिथ्यात्व) का पोषण किया गया हो; वे शास्त्र नहीं, शस्त्र (हथियार) हैं, उनका बाँचना-सुनना योग्य नहीं है।

इसीप्रकार वक्ता का स्वरूप स्पष्ट करते हुये जिन बातों पर वे सर्वाधिक वजन देते हैं; उनमें से कुछ इसप्रकार हैं **जिनवाणी का प्रवक्ता जैनतत्त्व-ज्ञान के प्रति अटूट आस्था रखने वाला दृढ़ श्रद्धानी, बुद्धिवान, व्यवहार-निश्चयादि नयों का स्वरूप जानने वाला, जिनाज्ञा के भंग होने के भय से भयभीत, मंदकषायी, स्वयं प्रश्न उठाकर उत्तर देने वाला और अध्यात्मरस का रसिया होना चाहिये।**

वक्ता का स्वरूप समझाने के लिये उन्होंने आत्मानुशासन का एक छन्द प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार है

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ।।५।।

जो बुद्धिमान हो, जिसने समस्त शास्त्रों का रहस्य प्राप्त किया हो, लोक मर्यादा जिसके प्रगट हुई हो, आशा जिसके अस्त हो गई हो, जो कांतिमान हो, उपशमी हो, प्रश्न करने से पहले ही जिसने उत्तर देखा हो, बाहुल्यता से प्रश्नों को सहने वाला हो, प्रभु हो, पर की तथा पर के द्वारा अपनी निन्दा रहितपने से पर के मन को हरने वाला हो, गुणनिधान हो, स्पष्ट और मिष्ट जिसके वचन हों ऐसा सभा का नायक धर्मकथा कहे।

वक्ता का विशेष लक्षण ऐसा है कि यदि उसके व्याकरण-न्यायादिक

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

तथा बड़े-बड़े जैन शास्त्रों का विशेष ज्ञान हो तो विशेष रूप से उसको वक्तापना शोभित हो। ऐसा भी हो; परन्तु अध्यात्मरस द्वारा यथार्थ अपने स्वरूप का अनुभव जिसको न हुआ हो तो जिनधर्म का स्वरूप उसके द्वारा कैसे प्रगट किया जाये? इसलिये **आत्मज्ञानी हो तो सच्चा वक्तापना होता है, क्योंकि प्रवचनसार में ऐसा कहा है कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभाव यह तीनों आत्मज्ञान से शून्य कार्यकारी नहीं है।**

उक्त कथन में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं पहली तो वह प्रश्नसह अर्थात् प्रश्नों को सहन करनेवाला होना चाहिये; क्योंकि श्रोता तो अपेक्षाकृत कम योग्यतावाले होते हैं; अतः वे कुछ भी प्रश्न कर सकते हैं, चुभनेवाला प्रश्न भी कर सकते हैं ऐसी स्थिति में वक्ता को उत्तेजित नहीं होना चाहिये।

दूसरा है **प्रागैव दृष्टोत्तरः** अर्थात् वक्ता ऐसा होना चाहिये कि जिसने श्रोताओं द्वारा पूँछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर पहले से ही शास्त्रों में देखा हो। यदि ऐसा नहीं हुआ तो उसे बार-बार ऐसा कहना होगा कि देखकर बताऊँगा; जो उसकी प्रतिष्ठा को कम करेगा। एकाध बात में तो ऐसी बात चल सकती है; पर हर प्रश्न के उत्तर में यह कहना कि देखकर बताऊँगा, उसे हँसी का पात्र बना देगा।

वक्ता के लिये एक बात ऐसी भी कही है कि वक्ता सुन्दर होना चाहिये। आप कह सकते हैं कि वक्ता की सुन्दरता से श्रोताओं का क्या लेना-देना?

पर भाई साहब! बात यह है कि जिसप्रकार टी.वी. के समाचार सुनाने वाले और विमान परिचारिकायें सुन्दर हो तो लोगों को आकर्षित करते हैं; उसीप्रकार सुन्दर वक्ता भी श्रोताओं को आकर्षित करता है, प्रभावित करता है।

श्रोताओं की चर्चा करते हुये वे कहते हैं कि भली होनहार और जिनवाणी को आत्महित की भावना से अति प्रीतिपूर्वक सुनने वाले

श्रोता धर्म के प्रति गाढ़ श्रद्धानी और विनयवान होना चाहिये। वैसे तो तीर्थंकरों की सभा में गणधरदेव भी श्रोता के रूप में ही उपस्थित रहते हैं।

वक्ता की बात चली तो पंडितजी ने तीर्थंकरों को सर्वश्रेष्ठ वक्ता बताया और जब श्रोताओं की बात चली तो गणधरदेव को सर्वश्रेष्ठ श्रोता बताया।

यह तो आप जानते ही हैं कि जब तीर्थंकर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी तो ४ ज्ञान के धारी गौतमगणधर की श्रोता के रूप में तीस वर्ष तक प्रतिदिन ७ घंटे और १२ मिनट अनवरत उपस्थिति रही।

कहाँ है आज ऐसे श्रोता, जो निरन्तर समय पर उपस्थित रहते हों।

अधिकार के अन्त में पंडित टोडरमलजी उन श्रोताओं के प्रति, जो जिनवाणी श्रवण के सहज संयोग मिलने पर भी उपेक्षा करते हैं, रुचिपूर्वक जिनवाणी श्रवण नहीं करते, कहते हैं

''जिसप्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जिसप्रकार कोढ़ी को अमृतपान कराये और वह न करे; उसीप्रकार संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो नहीं हो सकती। उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है। कहा है कि

साहीणो गुरुजोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ।
ते धिट्ठदुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभयविहूणा।।

स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव धर्मवचनों को नहीं सुनते; वे धीठ हैं और उनका चित्त दुष्ट है। अथवा जिस संसारभय से तीर्थंकरादि डरे; वे उस संसारभय से रहित हैं, वे बड़े सुभट हैं।''

एक बात उन्होंने वक्ता और श्रोता दोनों के लिये समानरूप से कही है कि वक्ता और श्रोता दोनों को शास्त्र सुनने और सुनाने का काम लोकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिये नहीं; अपितु विशुद्ध आत्मकल्याण और वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की भावना से करना चाहिये।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

अधिकार के अन्त में हितकारी सलाह और आशीर्वाद और देते हुये वे लिखते हैं

''धर्म के अनेक अंग हैं, उनमें एक ध्यान बिना उससे (जिनागम के स्वाध्याय से) ऊँचा और कोई धर्म का अंग नहीं है; इसलिये जिस-तिस प्रकार आगम-अभ्यास करना योग्य है।

इस ग्रन्थ का तो बाँचना, सुनना, विचारना बहुत सुगम है कोई व्याकरणादिक का भी साधन नहीं चाहिये; इसलिये अवश्य इसके अभ्यास में प्रवर्तो। तुम्हारा कल्याण होगा।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि पण्डित टोडरमलजी ने वक्ता, श्रोता और सुनने-पढ़ने योग्य शास्त्रों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

इसप्रकार प्रथम अधिकार समाप्त होता है। ●

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मध्यानरूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही। **अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है।**

सुनकर नहीं, पढकर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसी समय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसी समय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एक नाम आत्मानुभूति है।

आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२२१

दूसरा प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ पर चर्चा चल रही है। कल के प्रवचन में प्रथम अधिकार की विषयवस्तु पर प्रकाश डालते हुये कहा था कि यह ग्रंथ मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ है। अब दूसरे अधिकार को **'अब इस शास्त्र में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते हैं'**, इस वाक्य से ही आरंभ करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि **मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के नाम की सार्थकता उनके हृदय की अथाह गहराई में अंकित थी।**

मोक्ष के मार्ग का निर्माण तो तीर्थंकर भी नहीं करते हैं, मार्ग तो स्वयं निर्मित ही है; अतः उसके निर्माण की आवश्यकता भी नहीं है, पर मुक्ति का मार्ग अज्ञानांधकार से आच्छादित है; इसलिए उस पर सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश डालने की आवश्यकता अवश्य है। यही कारण है कि **यहाँ मुक्ति के मार्ग पर प्रकाश डाला जा रहा है।**

दूसरे अधिकार के आरंभ में ही वे इस बात पर जोर देते हैं कि **वही उपदेश सार्थक हैं, जो मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डाले। तीर्थंकर भगवान भी ऐसा ही उपदेश देते हैं।** समवसरण में बैठकर वे दुनियादारी की बातें नहीं सिखाते। सास-बहु को प्रेम से रहना चाहिए ऐसी बातें करके वे राग करने का उपदेश नहीं देते। वे तो मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का अभाव कैसे हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति कैसे हो; यह समझाते हैं।

पण्डित टोडरमलजी मनोविज्ञान के बहुत बड़े ज्ञाता थे। उन्होंने मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डालने के लिए परंपरागत रास्ते को नहीं अपनाया।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'** इस प्रथम सूत्र में ही आचार्य उमास्वामी ने मोक्षमार्ग की चर्चा आरम्भ कर दी और संसार के दुःखों का वर्णन तीसरे अध्याय में किया; परन्तु पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्ग का प्रकरण नौवें अधिकार से प्रारंभ करते हैं और संसार के दुःखों की चर्चा ग्रन्थ के आरंभ में ही करते हैं।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

वे अपनी इस शैली की सार्थकता सिद्ध करते हुये अनेक तर्क देते हैं, उदाहरण देते हैं। वे वैद्य के उदाहरण से अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। उनका यह उदाहरण दूसरे अधिकार से पाँचवे अधिकार तक चलता है।

वे लिखते हैं कि जब कोई रोगी वैद्य के पास आता है तो सर्वप्रथम वैद्य उसे रोग का स्वरूप समझाता है, उसकी दुखरूपता समझाता है, उसका कारण बताता है; उसके बाद रोग से मुक्ति का उपाय बताता है। इसीप्रकार पण्डितजी सर्वप्रथम इस संसारी जीव की वर्तमान में जो अवस्था है, वह दुःखरूप है इसका ज्ञान करायेंगे। उसके बाद उसके होने के कारणों पर प्रकाश डालेंगे; तत्पश्चात् उससे बचने का उपाय बतायेंगे।

रोगी को उसकी तकलीफें बताने के बाद वैद्य यह बताता है कि तुमने क्या-क्या बदपरहेजी की है, जिसके कारण तुम्हें इतनी तकलीफ उठानी पड़ रही है। इसीप्रकार **पंडितजी संसार दुखों का स्वरूप बताने के बाद यह बताते हैं कि तुमने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का सेवन किया है; इसकारण तुझे ये अनन्त दुःख उठाने पड़ रहे हैं।**

यदि इन मिथ्यात्वादि से बचना चाहते हो, छूटना चाहते हो तो पहले इन मिथ्यात्वादि का स्वरूप गहराई से समझना होगा।

पण्डित टोडरमलजी अपनी इस कृति को शास्त्र कहते हैं।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि शास्त्र तो आचार्य लिखते हैं, पण्डित लोग तो पुस्तकें लिखते हैं, किताबें लिखते हैं। इसप्रकार वे शास्त्र और पुस्तकों में भेद डालते हैं। जो भी हो, पर पण्डित टोडरमलजी अपने इस ग्रन्थ को शास्त्र मानते हैं। उनका मानना है कि यह शास्त्र इसलिए महान नहीं है कि इसे मैंने लिखा है, अपितु इसलिए महान है कि इसमें मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डाला गया है। इसमें वही बात कही गई है, जो गणधरदेव की उपस्थिति में, सौ इन्द्रों की उपस्थिति में तीर्थंकर परमात्मा ने बताई थी, उनकी दिव्यध्वनि में आई थी।

कोई ग्रन्थ महान शास्त्र है या साधारण पुस्तक इसका निर्णय उसमें

प्रतिपादित विषयवस्तु के आधार पर होता है, न कि किसी व्यक्ति विशेष के आधार पर। **मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ भी अपनी विषयवस्तु के कारण शास्त्र है, महाशास्त्र है; क्योंकि इसमें आगम के आलोक में, तर्क की कसौटी पर कस कर, स्वानुभव से प्रकाशित करके उसी मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डाला गया है; जिसकी कामना प्रत्येक आत्मार्थी को होती है।**

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में रहनेवाले पण्डित श्री खीमचन्दभाई का एक पत्र मुझे प्राप्त हुआ, उसमें लिखा था कि आपने 'क्रमबद्धपर्याय' नामक शास्त्र लिखकर इतना महान कार्य किया है कि दुनियाँ आपको युगों तक याद रखेगी।

जब मैंने यह लिखा कि आप मेरी पुस्तक को शास्त्र कहते हैं तो उनका उत्तर आया कि यह कृति इसलिए महान नहीं कि इसे आपने लिखा है, अपितु इसलिए महान है कि इसमें जैनदर्शन के एक महान सिद्धान्त का आगमानुसार सयुक्ति प्रतिपादन हुआ है। अत: यह शास्त्र नहीं, महान शास्त्र है।

वस्तुत: बात तो यह है कि चाहे कुन्दकुन्दादि आचार्यों द्वारा लिखा गया हो, चाहे पंडित टोडरमल आदि विद्वानों द्वारा लिखा गया हो; पर वह सभी साहित्य शास्त्र हैं कि जिसमें आगमानुसार युक्तिसंगत परम सत्य का प्रतिपादन हो और वीतरागता का पोषण किया गया हो।

कुछ लोग भाषा के संदर्भ में भी इसीप्रकार का आग्रह रखते हैं। वे कहते हैं कि शास्त्र तो प्राकृत-संस्कृत में लिखे जाते हैं; पर यह मोक्षमार्गप्रकाशक तो लोक भाषा हिन्दी में लिखा गया है।

अरे भाई ! भाषा तो युग के अनुसार बदलती रहती है। भगवान की दिव्यध्वनि भी तो अठारह महा भाषाओं और सात सौ लघु भाषाओं में प्रस्फुटित हुई थी। उक्त दिव्यध्वनि में समागत तत्त्व को एक-दो भाषाओं में कैसे बांधा जा सकता है ?

पण्डित टोडरमलजी ने हिन्दी भाषा में इसलिए लिखा कि वे सर्वज्ञ

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

कथित वीतराग-विज्ञान को अधिकतम लोगों के पास पहुँचाना चाहते थे। यदि तुम्हारे चित्त में यह विकल्प रहा कि यह ग्रंथ तो पण्डित का लिखा है, हिन्दी भाषा में है तो तुम इस ग्रंथ से लाभ नहीं उठा सकते; इसलिए इसप्रकार के विकल्पों को छोड़कर तुम इस ग्रंथ का सूक्ष्मता से अध्ययन करो।

एक बात यह भी तो है कि यदि तुम प्राकृत-संस्कृत नहीं जानते हो तो फिर तुम्हें प्राकृत-संस्कृत के ग्रन्थों का स्वाध्याय करने के लिए किसी न किसी पंडित का ही सहारा लेना पड़ेगा, उसके द्वारा किये गये अनुवाद का ही सहारा लेना होगा।

यदि स्वयं के स्वाध्याय से कोई बात स्पष्ट नहीं होती तो भी उसे किसी विद्वान से समझना होगा; क्योंकि आचार्यों की उपलब्धि तो सर्वत्र सदा संभव नहीं है। अत: व्यर्थ के विकल्पों से विराम लेकर इस अत्यन्त उपयोगी ग्रंथराज का श्रद्धा के साथ स्वाध्याय करो, तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा।

चिकित्सा आरंभ करने के पूर्व बीमारी का निदान करना आवश्यक होता है। निदान के बिना लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है। यही कारण है कि इस मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र में सर्वप्रथम कर्मबंधन का निदान करते हैं। उक्त संदर्भ में वे द्रव्य कर्मों का बंधन और मोह-राग-द्वेष रूप भावकर्मों का अनादिपना सिद्ध करते हैं।

तात्पर्य यह है कि मोह-राग-द्वेष की बीमारी इस जीव को अनादि से है, कर्मबंधन भी अनादि से ही है। इसकारण सांसारिक सुख-दु:ख भी अनादि से ही हैं। **सांसारिक सुख भी दु:ख ही है; अत: यह जीव अनादि से ही इस मोह-राग-द्वेष बीमारी के कारण दुख भोग रहा है।**

सोने का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि जिसप्रकार सोना खदान में अनादि से अशुद्ध पड़ा है; उसीप्रकार यह आत्मा भी निगोद में अनादि से अशुद्ध पड़ा रहा। इसप्रकार उन्होंने यहाँ कर्मरोग का अनादिपना सिद्ध किया है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि किसी महिला को देखकर किसी को

विकार उत्पन्न हो सकता है, पर प्रत्येक व्यक्ति को नहीं होता; अपितु उन्हीं को होता है, जिनके हृदय में पहले से ही विकार विद्यमान है, उन्हें नहीं जिनका चित्त विकार से रहित है। तात्पर्य यह है कि विकार तो अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण स्वयं से होता है; कर्मोदय या बाह्य पदार्थ तो निमित्तमात्र है।

प्रश्न : मोह-राग-द्वेष से कर्मबंधन और कर्मोदय से मोह-राग-द्वेष का होना इसमें तो इतरेतराश्रय दोष है; क्योंकि द्रव्यकर्मों से भावकर्म और भावकर्मों से द्रव्यकर्म इसप्रकार परस्पर एक दूसरे के आश्रय से होने को ही तो इतरेतराश्रय दोष कहते हैं ?

उत्तर : नहीं, इसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं है; क्योंकि जिन द्रव्यकर्मों के उदय से जो भावकर्म होते हैं, उन द्रव्यकर्मों से वे द्रव्यकर्म भिन्न हैं, जो इन भावकर्मों से बंधनेवाले हैं।

प्रश्न : यह तो समस्या को पीछे धकेलना हुआ, समस्या का समाधान नहीं? क्योंकि जो मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म अभी हैं, उनका निमित्त पुराने द्रव्यकर्मों का उदय है और वे पुराने द्रव्यकर्म उनसे भी पुराने मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों के निमित्त से बंधे थे। इसप्रकार तो कभी अंत ही नहीं आवेगा। आखिर कहाँ तक जायेंगे पीछे-पीछे?

उत्तर : अनादि काल तक।

प्रश्न : पहले कौन था ? द्रव्यकर्मों का बंधन या मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म ?

उत्तर : इसका उत्तर तो यही है कि दोनों ही अनादि से हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीव अनादिकाल से ही द्रव्यकर्मों के उदयपूर्वक भावकर्मरूप परिणमित हो रहा है। इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि द्रव्यकर्म और भावकर्म की परम्परा अनादि से है।

गोम्मटसार में एक गाथा आती है, जिसमें कहा गया है कि

'जोगा पयडि पदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति।'

योग से प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं और कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं; किन्तु महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में यह कहा गया है कि **'मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा: बंधहेतव:।'** मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – ये पाँच भावबंध के कारण हैं। अत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्यों में यह मतभेद क्यों?

महापण्डित टोडरमलजी के ध्यान में यह बात आयी थी और बिना किसी विवाद के उन्होंने बड़ी ही सरलता से उक्त शंका का समाधान कर दिया। वे लिखते हैं

मोह के उदय से जो मिथ्यात्व और क्रोधादि भाव होते हैं, उन सबका नाम सामान्यत: कषाय है। उनसे उन कर्मप्रकृतियों की स्थिति बंधती है।[१] तथा उस कषाय द्वारा ही उन कर्म प्रकृतियों में अनुभाग शक्ति का विशेष होता है।[२]

ध्यान रहे यहाँ मिथ्यात्व क्रोधादि में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय लेना चाहिये। उक्त चारों का नाम सामान्यत: कषाय है।

आगे चलकर वे स्वयं कषाय शब्द का प्रयोग उक्त चारों के अर्थ में करते हैं। तात्पर्य यह है कि जब वे यह लिखते हैं

'जिन्हें बंध नहीं करना हो, वे कषाय न करें।'[३]

तब उसका अर्थ यही होता है कि जिन्हें बंध नहीं करना हो; वे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय नहीं करें।

एक बात यह भी तो है कि तत्त्वार्थसूत्र में बंध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कारण बताये हैं और गोम्मटसार में मात्र कषाय और योग इन दो को ही बंध का कारण बताया गया है। ऐसी स्थिति में तत्त्वार्थसूत्र में लिखित शेष तीन कारणों को कषाय और योग में ही गर्भित मानना होगा।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२७
२. वही, पृष्ठ-२८ ३. वही, पृष्ठ-२८

योग में तो वे समाहित हो नहीं सकते। अत: उपायान्तर का अभाव होने से उन्हें कषाय में ही शामिल मानना होगा। अत: यह परमसत्य है कि **मिथ्यात्व से लेकर कषाय तक के सभी भाव गोम्मटसार के इस प्रकरण में कषाय शब्द में ही गर्भित किये गये हैं। कषाय है अंत में जिनके ऐसे मिथ्यात्वादि सभी भाव कषायभाव ही हैं।**

यहाँ कषाय शब्द अंतदीपक के रूप में प्रयोग में आया है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब बंध कषाय और योग से होता है तो कषाय न करें अकेला यह क्यों लिखा है, योग की बात को क्यों छोड़ दिया।

अरे भाई! योग के अभाव के लिये तो अनन्तवीर्य और अतुल्य बल के धनी अरहंत भगवान भी कुछ नहीं करते। शास्त्रों में लिखा है कि अरहंत भगवान के आत्मप्रदेशों का कंपन हम-तुम से भी अधिक होता है। यथासमय सहज ही योगनिरोध होता है और अयोग केवली होकर वे मोक्ष में चले जाते हैं।

बंध के कारणरूप मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग में सबसे पहले मिथ्यात्व का अभाव होता है; फिर क्रमशः अविरति, प्रमाद व कषायें जाती हैं और सबसे अंत में योग का अभाव होता है।

आज लोग उल्टी प्रक्रिया अपना रहे हैं। कहते हैं कि सबसे पहले हमें योगा के माध्यम से मन-वचन-काय को काबू में करना चाहिये और फिर कषायें छोड़ना चाहिये, कम करना चाहिये। उसके बाद प्रमाद से बचने की बात व अविरति का त्याग करने की बात की जाती है। मिथ्यात्व को छोड़ने की तो कोई बात ही नहीं करता है।

अरे भाई! मिथ्यात्व के छूटे बिना अविरति, प्रमाद और कषायें नहीं छूटतीं, कम भी नहीं होती तथा योग तो १३वें गुणस्थान में केवली के भी होता है, यही कारण है उन्हें सयोग केवली कहा जाता है।

जिन योगों के अभाव के लिये केवली भी कुछ नहीं करते हम उन्हें

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

ठीक करने के प्रयास की बात करते हैं। जिन योगों के रहते हुए केवलज्ञान हो जाता है, अनन्तसुख हो जाता है; उन योगों ने तेरा क्या बिगाड़ा है? **जिस मिथ्यात्व को छोड़े बिना धर्म का आरंभ भी नहीं होता, रंचमात्र भी सुख-शांति नहीं मिलती; उस मिथ्यात्व को तो छोड़ने की तो बात नहीं करता। क्या हो गया है इस जगत को ?**

अरे भाई! मिथ्यात्व को छोड़े बिना चतुर्थ गुणस्थान नहीं होता, पर अविरति तो पाँचवें-छठवें गुणस्थान में जाती है। इसीप्रकार प्रमाद सातवें गुणस्थान में, कषाय ग्यारहवें/बारहवें गुणस्थान में और योग चौदहवें गुणस्थान में जाते हैं।

बंध के और उसके कारणों के अभाव का क्रम तो यह है, पर यह अज्ञानी जगत योग साधना के नाम पर मन-वचन-काय रूप जड़ का कर्त्ता बनता है। जबतक आत्मा जड़ का, पर का, पररूप जड़ का कर्त्ता-भोक्ता बनता रहेगा, तबतक तो मिथ्यात्व ही नहीं जावेगा, अन्य अविरति आदि की तो बात ही क्या करना।

बंध चार प्रकार का होता है प्रदेशबंध, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और अनुभाग बंध।

पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओं का कर्मरूप परिणमित होकर आत्मप्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप से बंधना प्रदेशबंध है और कर्मस्कंधों का मतिज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंरूप से विभक्त होना प्रकृतिबंध है।

इन प्रदेश और प्रकृतिबंध में मन-वचन-कायरूप तीन योगों के निमित्त से होने वाला आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द (हलन-चलन) निमित्त होता है।

भगवान आत्मा के साथ उक्त कर्मप्रकृतियों का संबंध कब तक रहेगा यह सुनिश्चित होना स्थितिबंध है और उन कर्मप्रकृतियों का रस परिपाक किस रूप में होगा यह सुनिश्चित होना अनुभागबंध है।

ये स्थिति और अनुभागबंध कषायों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय) से होते हैं। जब मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायों

का पूर्णतः अभाव हो जाता है; तब केवली भगवान के १३वें गुणस्थान में योग से होनेवाले प्रकृति और प्रदेशबंध तो होते हैं, पर उन प्रकृति और प्रदेशों में मिथ्यात्वादि कषायभावों का अभाव होने से स्थिति और अनुभाग नहीं पड़ते, इसकारण वे कर्मपरमाणु अगले समय ही खिर जाते हैं; उनका कोई भी अच्छा-बुरा फल आत्मा को प्राप्त नहीं होता। अतः वह एकप्रकार से निरर्थक ही है। उक्त आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं और कषायों से होनेवाले आस्रव को संसार का बढ़ानेवाला होने से साम्प्रायिक आस्रव कहते हैं। इस साम्प्रायिक आस्रवपूर्वक होनेवाला बंध ही वास्तविक बंध है।

मिथ्यात्वादि भावों से बंधे कर्म अपनी स्थिति (काल की मर्यादा) के अनुसार सत्ता में रहते हैं और आबाधाकाल पूर्ण होने पर उदय में आना आरंभ होते हैं, और तबतक आते रहते हैं कि जबतक उनकी स्थिति पूर्ण नहीं हो जाती। उदय में आते हुये वे कर्म अपनी अनुभाग शक्ति के अनुसार संयोग और संयोगी भावों के रूप में फलते हैं।

कर्मों के बंध, उदय और सत्ता की चर्चा के उपरान्त अब यह स्पष्ट करते हैं कि **बंधते समय तो कोई कर्म फल निष्पन्न करते नहीं और सत्ता में पड़े कर्म पृथ्वी के ढेले के समान अकार्यकारी हैं; मात्र उदयकाल में ही वे निमित्तरूप से कार्यकारी होते हैं।**

उदयकाल में भी अघातिया कर्मों के मात्र संयोगों के रूप में फलने से वे आगामी कर्मबंधनों के कर्त्ता नहीं हैं, निमित्त भी नहीं है। उनकी संतति नहीं चलती, वे तो संयोगरूप फल में निमित्त होकर नष्ट हो जाते हैं।

इसीप्रकार घाति कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का उदय और इनके उदय से होनेवाले आत्मा के औदयिकभाव बंध के कारण नहीं हैं।

इसप्रकार मोहनीय कर्म को छोड़कर शेष कर्मों का उदय और उनके निमित्त से होनेवाले संयोग और संयोगीभावरूप आत्मपरिणाम आगामी बंध के निमित्तकारण भी न होने से उदय में आकर खिर जाने वाले हैं।

एकमात्र मोहकर्म ही ऐसा कर्म है कि जिसके उदय के निमित्त में

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायें होती हैं; इसकारण हमें जो भी पुरुषार्थ करना है, वह सब मोहकर्मोदय से होनेवाले भावों का अभाव करने के लिये करना है।

पण्डित श्री टोडरमलजी ने कर्मबंध संबंधी उक्त प्रकरण पर संक्षिप्त में प्रकाश डालकर लिखा है कि इसकी विस्तार से चर्चा आगे चलकर कर्माधिकार में करेंगे। इसका आशय यह है कि वे इस मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में कर्माधिकार के नाम से एक स्वतंत्र अधिकार लिखना चाहते थे।

यद्यपि यह बात परम सत्य है कि यदि यह ग्रंथ पूरा हो गया होता तो उसमें सबकुछ नहीं तो बहुत कुछ तो होता ही; पर जो कुछ अभी उपलब्ध है, वह भी कुछ कम नहीं है।

हम प्राप्त मोक्षमार्गप्रकाशक का तो स्वाध्याय करें नहीं और जो लिखा ही नहीं जा सका, उसके लिये, दुःख प्रकट करें यह तो वैसा ही है कि मरे पुत्र की बड़ी-बड़ी आँखें।

बुन्देलखण्ड में कहावत है कि लोग जो पुत्र जिन्दा है, उसकी तो सही ढंग से देखभाल करते नहीं; पर जो मर गया, उसके गीत गाते रहते हैं कि वह ऐसा था, वह वैसा था।

अतः हमारा तो यही अनुरोध है कि समय निकालकर इस उपलब्ध मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ का स्वाध्याय गहराई से अवश्य करें।

दूसरे अधिकार की विषयवस्तु की चर्चा चल रही है, जिसमें अभी तक अनादि से होनेवाले कर्मबंधन एवं उनके उदय में होनेवाले शरीरादि नोकर्मों का संयोग और अज्ञानादि तथा मिथ्यात्वादिभावों से आगामी कर्मबंधन की चर्चा हुई। अब यह बताते हैं कि ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय में इस जीव की क्या दुर्दशा होती है?

यद्यपि यह भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, एक समय में लोका-लोक के सभी पदार्थों को उनके गुण पर्यायों सहित देखे-जाने और प्रतिसमय देखता ही रहे, जानता ही रहे ऐसी शक्ति से सम्पन्न है;

तथापि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के उदय के निमित्त से इस आत्मा की ऐसी स्थिति हो रही है कि यह जड़ पत्थर जैसा हो गया है।

यदि दर्शनावरण और ज्ञानावरण के अल्प क्षयोपशम से थोड़ा बहुत देखता-जानता है तो, उसमें पचासों शर्तें लगी रहती हैं। आँखों के बिना देख नहीं सकता, कानों के बिना सुन नहीं सकता; आँखें भी हों तो प्रकाश चाहिये। सभी शर्तें पूरी हो जावें, तो भी अकेले पुद्गल को देख-जान सकता है; वह भी सभी पुद्गलों को नहीं, उनके अनन्तवें भाग को, क्षेत्र-काल सम्बन्धी भी बहुत मर्यादायें हैं। समझ लीजिये एकेन्द्रियादि संसारी जीवों के दर्शन ज्ञान मात्र नाम के ही शेष रह गये हैं। निगोदिया जीवों के निरावरण होने से ज्ञान-दर्शन का मात्र स्वाभावांश ही रहता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानावरण के उदय से जो अज्ञान और ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो ज्ञान है; ये दोनों ही आगामी कर्मों के बंधने में निमित्त नहीं है। औदयिक अज्ञान तो बंध का कारण है ही नहीं, पर जो क्षयोपशमिक ज्ञान है, वह भी स्वभाव का अंश होने से बंध का कारण नहीं है।

वस्तुतः बात यह है कि दर्शन-ज्ञान गुण और उनका परिणमन बंध का कारण नहीं है, बंध का कारण तो एकमात्र मोह के उदय में होने वाले मिथ्यात्वादि चार भाव ही हैं।

अरे भाई! इस बात को हिन्दी भाषा में लिखी गई पण्डित की बात समझकर उड़ा मत देना, पूरी गंभीरता से समझना और स्वीकार करना। तेरा कल्याण अवश्य होगा।

इसीप्रकार अंतराय और अघातिया कर्मों के सन्दर्भ में भी समझ लेना चाहिये। दूसरे अधिकार में पण्डितजी ने प्रत्येक कर्म के उदय में होने वाली इस जीव की अवस्थाओं (दुर्दशाओं) का वर्णन विस्तार से किया, जो मूलतः पठनीय है। विस्तारभय से उक्त सभी की चर्चा करना यहाँ संभव नहीं है।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

दर्शन मोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व के उदय से यह जीव ज्ञानदर्शन-स्वभावी भगवान आत्मा को तो जानता नहीं, उसे अपना मानता नहीं, उसमें अपनापन स्थापित करता नहीं; और अघातिया कर्मों के उदय में प्राप्त होने वाले शरीर, स्त्री, पुत्रादि, धन-मकानादि संयोगों में, नोकर्मों में अपनापन स्थापित करता है; इन्हें ही निजस्वरूप स्वीकार करता है। तथा चारित्र मोहनीय के उदय से उनमें ही इष्टानिष्ट बुद्धिपूर्वक जमता-रमता है; उन्हें ही अनुकूल-प्रतिकूल मानकर राग-द्वेष करता है, क्रोधादिरूप परिणमित हो रहा है।

ये मिथ्यात्व और कषायभाव ही मुख्यरूप से बंध के कारण हैं, इसलिये जिन्हें संसार दुःखों से बचना हो; वे मिथ्यात्व से बचें और कषायभाव न करें।

यद्यपि यह सत्य है कि मरीज को परहेज से रहना चाहिये, बदपरहेजी नहीं करना चाहिये; तथापि सही परहेज क्या है और बदपरहेजी क्या है? यह जानना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है; क्योंकि परहेज और बदपरहेज को जाने बिना परहेज करना और बदपरहेजी छोड़ना संभव नहीं है।

इसीप्रकार यद्यपि यह सत्य है कि भवरोग के रोगी को परहेज से रहना चाहिये, बदपरहेजी नहीं करना चाहिये; तथापि यह जानना बहुत जरूरी है कि भवरोग का परहेज क्या है और बदपरहेजी क्या है?

यह कहता है कि मुझे कर्मबंध हो रहा है; इसलिये मैंने मूंग की दाल खाना बंद कर दिया है। अरे भाई! मूंग की दाल से कौन से कर्मों का बंध होता है, जो तूने मूंग की दाल खाना छोड़ दिया है।

कर्म तो मिथ्यात्व और कषायभावों से बंधते हैं; उन्हें छोड़ने की तो बात ही नहीं करता और धर्म के नाम पर बाहरी क्रियाकाण्डों में उलझ कर रह जाता है। अरे भाई! परहेज मिथ्यात्वादिभावों से करना है और तू धर्म के नाम पर बाह्य क्रियाकाण्ड और शुभभावों में ही उलझ कर रह गया है।

अघातिया कर्मों के उदय में प्राप्त होनेवाले अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों

को अज्ञानी जगत ने सुख-दुःख की सामग्री मान लिया है; परन्तु यह जीव दुःखी तो संयोगों में अपनत्व स्थापित करने से हुआ है, उन्हें निजरूप जानने से हुआ है, उन्हीं में एकत्वबुद्धिपूर्वक रमने-जमने से हुआ है और इन शरीरादि परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व तो मिथ्यात्वकर्म के उदय में होता है।

संयोगी पदार्थ तो न सुखरूप हैं, न दुःखरूप हैं; वे सुख-दुःख के कारण भी नहीं हैं। सुख-दुःख का मूल कारण तो हमारी उल्टी मान्यता में ही समाहित हैं।

आयुकर्म तो मात्र इसमें ही निमित्त है कि यह जीव किस गति में कितने काल तक रहेगा? नामकर्म शरीर की संरचना से संबंध रखता है और गोत्रकर्म तो लोकमान्य कुल और नीच कुल से संबंध रखता है। इनके कारण किसी के पेट में दर्द रहता हो ऐसी बात नहीं है। हमारा रंग काला हो या गोरा, इसके कारण हमें शारीरिक सुख-दुःख नहीं होते; वे तो मोहोदय के परिणाम हैं। मोह के बिना अघातिकर्म जरी-जेवरी के समान हैं।

अतः मोहनीय कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म और उनके उदय में प्राप्त होने वाले संयोग और औदायिक अज्ञानादिभाव न तो बंध के कारण हैं और न मूलतः सुख-दुःखरूप ही हैं। सांसारिक सुख-दुःख का मूल कारण तो एकमात्र मोह है, मोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व मिथ्यादर्शन और राग-द्वेषरूप कषायभाव हैं। ●

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है, यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दुःखों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दुःख उठा रहा है। **आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

तीसरा प्रवचन

महापण्डित टोडरमलजी को आचार्यकल्प कहा जाता है; क्योंकि उन्होंने जिनागम की जो सेवा की है; वह किसी भी रूप में आचार्यों से कम नहीं है। यद्यपि उन्होने आचार्यों जैसा महान कार्य किया है; तथापि उन्हें आचार्य न कहकर आचार्यकल्प कहा गया है; क्योंकि दिगम्बर जिनधर्म में आचार्य तो नग्न दिगम्बर संत ही होते हैं।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने इस तीसरे अधिकार में सांसारिक दुःख और उसके कारणों की चर्चा करने के उपरान्त मोक्षसुख और उसकी प्राप्ति के उपाय को बताया है।

इस तीसरे अधिकार में भी वे अपनी बात को स्पष्ट करने के लिये रोगी और वैद्य के उदाहरण को आगे बढ़ाते हैं।

जिसप्रकार वैद्य रोग का निदान करके रोगी की वर्तमान स्थिति को स्पष्ट करते हुये उसे इलाज करने की प्रेरणा देते हैं; उसीप्रकार पण्डित टोडरमलजी यहाँ कर्मबंधन का निदान करके, जीव की दुःखरूप वर्तमान स्थिति का ज्ञान कराकर, उसे दुःखों से छूटने के उपाय करने की प्रेरणा देते हैं।

वैद्य रोगी को बताता है कि तुम्हें अमुक बीमारी है, उसके कारण तुम दुःखी हो; तब रोगी कहता है कि मैं तो स्वस्थ हूँ; क्योंकि मेरा बजन चार किलो बढ़ गया है, अब तो मैं मोटा-ताजा हो गया हूँ। उसे समझाते हुये वैद्यजी कहते हैं कि वह मोटापन भी रोग ही है, आरोग्य नहीं।

इसीप्रकार जब शिष्य यह बात कहता है कि अब तो मुझे सर्वप्रकार अनुकूलता है, स्त्री-पुत्रादि भी अनुकूल हैं और खाने-पीने की भी कोई कमी नहीं है। तब आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! जो अनुकूल संयोग तुझे सुखरूप लगते हैं, वे सभी सुखरूप नहीं, दुःखरूप ही हैं।

इस जीव की संसार अवस्था में जो दुःख हैं; उन्हें पण्डितजी कर्मोदय की अपेक्षा से, एकेन्द्रियादि पर्यायों की अपेक्षा से और चार गतियों की अपेक्षा से समझाते हैं।

दूसरे अधिकार में यह बताया था कि कर्मों के उदय से जीव की कैसी दुर्दशा हो रही है, और अब तीसरे अधिकार में यह समझा रहे हैं कि वह अवस्था पूर्णतः दुःखरूप ही है, सुखरूप नहीं।

तात्पर्य यह है कि **इस संसार में चारों गतियों में सर्वत्र दुःख ही दुःख है, कहीं भी रंचमात्र भी सुख नहीं है। संसार में सुख खोजना, बालू में से तेल निकालने जैसा असाध्य कार्य है।** अतः इस दिशा में किया गया प्रयत्न अकार्यकारी ही है।

संसार को दुःखरूप सिद्ध करने के बाद पण्डितजी मोक्ष अवस्था की बात करते हैं। जीव की परमसुखरूप अवस्था का नाम ही मोक्ष है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकरूपता ही मोक्ष का उपाय है।

इसप्रकार इस अधिकार का मूल प्रतिपाद्य सांसारिक दुःख और उन दुःखों के मूलकारणरूप भाव तथा परमसुखरूप मोक्ष अवस्था एवं उसे प्राप्त करने का उपाय बताना है।

इसी अधिकार को आधार बनाकर पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की पहली ढाल लिखी है; जिसमें चारों गतियों के दुःखों का निरूपण किया गया है।

छहढ़ाला में एकेन्द्रियादि पर्यायों और गतियों की अपेक्षा तो दुःखों का निरूपण किया है; पर कर्मों की अपेक्षा की उपेक्षा कर दी है; पर इस मोक्षमार्गप्रकाशक में एकेन्द्रियादि पर्यायों और गतियों की अपेक्षा के साथ-साथ कर्मों की अपेक्षा से भी दुःखों का वर्णन विस्तार से किया गया है।

इसप्रकार इस तीसरे अधिकार में २६ पृष्ठों में दुःखों का वर्णन करने के उपरान्त ४ पृष्ठों में मोक्षसुख का वर्णन किया है और अन्त में प्रेरणा दी

है कि यदि संसार के दुःखों से बचना है तो मोक्ष प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

इस लोक में ऐसे लोग सदा ही रहे हैं कि जो यह कहते रहते हैं कि सुख प्राप्त करने के लिये मोक्ष में जाने की क्या जरूरत है; हम इस संसार को ही स्वर्ग बना देंगे।

पण्डितजी कहते हैं कि भाई! स्वर्ग भी तो संसार में ही है; पर स्वर्ग में भी सुख कहाँ है? स्वर्ग-नरक सभी संसार में हैं और संसार दुःखरूप ही हैं, सुख तो एकमात्र मोक्ष में ही है।

प्रश्न : दूसरे अधिकार में तो यह कहा था कि बंध का निमित्त तो एकमात्र मोहकर्म का उदय ही है और यहाँ आठों ही कर्मों के उदय को दुःखरूप सिद्ध किया जा रहा है?

उत्तर : उक्त दोनों कथनों के दृष्टिकोणों में अन्तर यह है कि वहाँ तो मोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले मोह-राग-द्वेष भाव बँध के कारण हैं यह बताया गया है और यहाँ यह बता रहे हैं कि मोह को छोड़कर ज्ञानावरणादि सात कर्मों के उदय में जो अवस्थायें हो रही हैं, जो संयोग प्राप्त हो रहे हैं; वे भी सुखरूप नहीं हैं, संतोष करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि मोह का उदय विद्यमान होने से वे अवस्थायें भी दुःखरूप ही हो रही हैं।

ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो कुछ जानना होता है; उसमें भी अनेक पराधीनतायें हैं। स्वस्थ इन्द्रियाँ और प्रकाशादि बाह्य अनुकूलतायें तो चाहिये ही; एक सुनिश्चित दूरी और समीपता भी चाहिये। यदि कोई वस्तु बहुत दूर हुई भी तो भी दिखाई नहीं देगी और अधिक पास हुई तो भी दिखाई नहीं देती।

उक्त अवस्था का चित्रण करते हुये पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

‘‘वहाँ इच्छा तो त्रिकालवर्ती सर्वविषयों को ग्रहण करने की है। मैं सर्व का स्पर्श करूँ, सर्व का स्वाद लूँ, सर्व को सूँघूँ, सर्व को देखूँ, सर्व को सुनूँ, सर्व को जानूँ; इच्छा तो इतनी है; परन्तु शक्ति इतनी ही है कि

इन्द्रियों के सम्मुख आनेवाले वर्तमान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द; उनमें से किसी को किंचित् मात्र ग्रहण करे तथा स्मरणादिक से मन द्वारा किंचित् जाने, सो भी बाह्य अनेक कारण मिलने पर सिद्ध हो। इसलिए इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। ऐसी इच्छा तो केवलज्ञान होने पर सम्पूर्ण हो।

क्षयोपशमरूप इन्द्रियों से तो इच्छा पूर्ण होती नहीं है; इसलिये मोह के निमित्त से इन्द्रियों को अपने-अपने विषय ग्रहण की निरन्तर इच्छा होती ही रहती है; उससे आकुलित होकर दुःखी हो रहा है।

ऐसा दुःखी हो रहा है कि किसी एक विषय के ग्रहण के अर्थ (लिये) अपने मरण को भी नहीं गिनता है। जैसे हाथी को कपट की हथिनी का शरीर स्पर्श करने की, मच्छ को बंसी में लगा हुआ मांस का स्वाद लेने की, भ्रमर को कमल-सुगन्ध सूँघने की, पतंगे को दीपक का वर्ण देखने की और हरिण को राग सुनने की ऐसी इच्छा होती है कि तत्काल मरना भासित हो; तथापि मरण को नहीं गिनते।

विषयों का ग्रहण करने पर उसके मरण होता था, विषयसेवन नहीं करने पर इन्द्रियों की पीड़ा अधिक भासित होती है।

इन इन्द्रियों की पीड़ा से पीड़ितरूप सर्व जीव निर्विचार होकर जैसे कोई दुःखी पर्वत से गिर पड़े, वैसे ही विषयों में छलाँग लगाते हैं। नाना कष्ट से धन उत्पन्न करते हैं, उसे विषय के अर्थ खोते हैं। तथा **विषयों के अर्थ जहाँ मरण होना जानते हैं, वहाँ भी जाते हैं।** नरकादि के कारण जो हिंसादिक कार्य, उन्हें करते हैं तथा क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करते हैं।

वे करें क्या? इन्द्रियों की पीड़ा सही नहीं जाती; इसलिये अन्य विचार कुछ आता नहीं। इसी पीड़ा से पीड़ित हुए इन्द्रादिक हैं; वे भी विषयों में अति आसक्त हो रहे हैं। जैसे खाज-रोग से पीड़ित हुआ पुरुष आसक्त होकर खुजाता है, पीड़ा न हो तो किसलिये खुजाये; उसीप्रकार **इन्द्रिय रोग से पीड़ित हुए इन्द्रादिक आसक्त होकर विषय सेवन करते हैं। पीड़ा न हो तो किसलिये विषय सेवन करें?**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इसप्रकार ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षयोपशम से हुआ इन्द्रियजनित ज्ञान है, वह मिथ्यादर्शनादि के निमित्त से इच्छा सहित होकर दुःख का कारण हुआ है।[१]''

जब ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान हो जाता है; तब अरहंत-सिद्ध अवस्था में जानना तो सम्पूर्ण लोकालोक का हो जाता है और जानने की इच्छा रहती नहीं; यही कारण है कि अरहंत-सिद्ध अनन्त सुखी हैं।

वहाँ अनन्तकाल तक सुखी रहने की दुहरी (डबल) व्यवस्था है। छद्मस्थ अवस्था में इच्छा तो सबको जानने की थी और जानना बहुत कम होता था और केवलज्ञान होने पर जानने की इच्छा समाप्त हो गई और जानना सबका हो गया। अतः अब दुःख होने का कोई कारण ही नहीं रहा। दुःख का कारण तो एकमात्र इच्छा थी, उसके कारण ही नहीं जानने रूप अज्ञान दुःख का कारण बन रहा था। **अब इच्छा रही नहीं और जानना सम्पूर्ण जगत का हो गया। अतः अब तो सुख ही सुख है।**

वस्तुतः बात यह है कि अनेक प्रकार की इच्छाओं वाले परोक्ष ज्ञानी सुखी नहीं हो सकते।

इस तथ्य का चित्र प्रस्तुत करते हुये राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त 'पंचवटी' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि वनवास के अवसर पर पंचवटी की एक कुटिया में राम और सीता सुख से सो रहे थे और लक्ष्मण बाहर पहरा दे रहे थे। मन्द-मन्द सुगन्धित हवा चल रही थी और स्वच्छ चाँदनी अपनी आभा बिखेर रही थी।

मध्यरात्रि में प्रकृति की सुन्दरतम छटा से आनंदविभोर लक्ष्मण सोचते हैं कि हम यहाँ कितने मजे में हैं, प्रसन्न हैं और प्रकृति माँ की गोद में प्रफुल्लित हो रहे हैं; परन्तु दुःख इस बात का है कि हमारे इस आनन्द को हमारी मातायें नहीं जानती और वे यह सोच-सोचकर दुःखी हो रहीं होंगी कि हम वन में न जाने कितने कष्ट में होंगे?

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-४७

राजमहल में न उन्हें कोई कष्ट है औ न हमें इस मंगलमय जंगल में कोई असुविधा है। इसप्रकार **दोनों ओर अनुकूलता होने पर भी, सुख-सुविधा होने पर भी, दोनों ही एक-दूसरे के दुःखी होने की कल्पना मात्र से दुखी हो रहे हैं; क्योंकि हम दोनों एक दूसरे की अनुकूलता को नहीं जानते। परोक्षज्ञान का यही तो दोष है।**

अरे भाई! हमारा ज्ञान भी इन्द्रियाधीन हो रहा है और हमारा सुख भी इन्द्रियाधीन हो रहा है; हमें न तो अतीन्द्रियज्ञान है और न अतीन्द्रियसुख। यही कारण है कि मोह की विद्यमानता से ज्ञान का परोक्षपना, पराधीनपना हमारे लिये अनन्तदुःख का कारण बन रहा है।

यद्यपि यह परम सत्य है कि ज्ञानावरण के उदय से जो नहीं जाननेरूप औदायिक अज्ञान होता है, वह कर्मबंध का कारण नहीं है; तथापि मोहोदय के साथ होने वाला क्षायोपशमिक अज्ञान-मिथ्याज्ञान अनन्त-दुःख का कारण बन रहा है। **मोहोदय से जानने की इतनी तीव्र इच्छा होती है कि मौत की कीमत पर भी यह सबकुछ जान लेना चाहता है।**

यद्यपि हृदयरोगी खतरनाक झूलों पर नहीं झूल सकते; तथापि यह कहता है मुझे देखना है कि इस झूले पर झूलने से कैसा लगता है? मरना तो एक न एक दिन सबको ही है। इसप्रकार मौत की कीमत पर भी वह झूले पर झूलकर देखना चाहता है।

पर्यटन का सम्पूर्ण व्यवसाय इस देखने-जानने की इच्छा के आधार पर ही चल रहा है। भारतीय लोगों को अमेरिका देखना है और अमरीकी लोगों को भारत देखना है। **मात्र देखने-जानने की इच्छा की पूर्ति के लिये हम सम्पूर्ण विश्व के चक्कर लगाते रहते हैं।**

अरे भाई! जब केवलज्ञान हो जायेगा, तब सबकुछ सहज ही जानने में आ जायेगा। इस पर यह कहता है कि जब जानने की इच्छा ही नहीं रहेगी तो जानने का क्या लाभ है?

कैसी विचित्र स्थिति है कि जब हम मौत की कीमत पर सबको एक साथ जान लेना चाहते हैं, देख लेना चाहते हैं; तब तो सबका

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

जानना-देखना होता नहीं है और जब जानने-देखने की इच्छा नहीं रहती, तब सब कुछ एक साथ जानने-देखने में आ जाता है।

एक व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः घर के दरवाजे के बाहर चबूतरे पर बैठकर दातुन (दंतमंजन) किया करता था। उसी समय गाँव की गाय-भैंसें जंगल में चरने को जाने के लिये निकलती थीं।

उन भैंसों में से एक भैंस के सींग विचित्र रूप से टेड़े मेढ़े थे। उन्हें देखकर वह सोचता कि यदि इस भैंस के सींगों में मेरी गर्दन फँस जाये तो क्या होगा? उसकी उक्त जिज्ञासा (जानने की इच्छा) निरन्तर बलवती होती गई और एक दिन ऐसा आया कि उसने अपनी गर्दन उक्त भैंस के सींगों में स्वयं फँसा ली। इस अप्रत्यासित स्थिति के लिये भैंस तैयार न थी; अतः वह विचक गई और भाग खड़ी हुई।

अब जरा विचार कीजिए कि तब क्या हुआ होगा?

हुआ क्या होगा, वह व्यक्ति अस्पताल पहुँच गया, आपातकालीन कक्ष में प्रविष्ठ हो गया। उसकी हालत अच्छी न थी। उसके इष्ट-मित्र उसे देखने के लिये अस्पताल पहुँचे और उससे पूँछने लगे कि यह सब कैसे हो गया? तब कराहते हुये वह कहने लगा कि मेरी गर्दन भैंस के सींगों में फँस जाने से वह भड़क गई और यह सब कुछ हो गया। तब लोगों ने पूँछा कि आखिर यह हुआ कैसे?

तब वह कहने लगा। हुआ कैसे, यह जानने के लिये कि ऐसा होने पर क्या होगा मैंने ही अपनी गर्दन उसके सींगों में फँसा ली थी।

उसकी यह बात सुनकर लोग कहने लगे कि अरे भाई! गर्दन फँसाने के पहले कुछ सोचना तो चाहिये था। तब बड़ी ही मासूमियत से वह कहने लगा कि मैंने थोड़ा-बहुत नहीं, लगातार छह माह तक सोचा था; इस स्थिति को जानने की जिज्ञासा जब इतनी तीव्र हो गई कि मेरे से नहीं रहा गया; तब मैंने स्वयं ही अपनी गर्दन भैंस के सींगों में फँसाली।

अरे भाई! यह तो मात्र उदाहरण है; सच्ची बात तो यह है कि हम

सभी इसीप्रकार जानने-देखने के लोभ में निरन्तर अपनी गर्दन फँसाये चले जा रहे हैं। मौत की कीमत पर भी समुद्र की तलहटी में चले जाते हैं, आकाश में अपने करतब दिखाते हैं और न मालूम क्या-क्या करते हैं?

जानने की सामर्थ्य थोड़ी और मोह के तीव्र उदय से जानने की इच्छा अनन्त यही कारण है कि अज्ञानी का क्षयोपशमिक ज्ञान-दर्शन भी मोहोदय के कारण अनन्त दुःख का कारण बन रहा है। जानने की इच्छा (जिज्ञासा) के कारण ही बालक अग्नि को छूकर देखना चाहता है।

जब कोई तलाक देता है तो लोग उससे जानना चाहते हैं कि पहले से ही अच्छी तरह देखभाल कर, सोच-विचारकर शादी क्यों नहीं की?

यदि पहले से ही सावधान रहते तो यह दिन नहीं देखना पड़ता?

उत्तर में वह कहता है कि मैंने बहुत सोचा था, महिनों तक डेटिंग (शादी के पहले मिलना-जुलना) की थी; फिर भी.....। अरे भाई! सभी ने इसीप्रकार सोच-सोचकर गर्दन फँसाई है और अब भोग रहे हैं।

टी.वी. और सिनेमा का देखने-दिखाने का अरबों रुपयों का व्यवसाय चल रहा है। वहाँ है क्या, मात्र नग्न चित्रों को देखने की इच्छा ही इस अनुपयोगी व्यवसाय को पनपा रही है।

मोहनीय कर्म में, विशेषकर दर्शन मोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व के उदय में यह जीव लगभग सम्पूर्ण जगत से अपनापन स्थापित कर लेता है; जो पदार्थ इसके ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं, उनसे ही अपनापन स्थापित कर लेता है।

इसप्रकार के लोगों की वृत्ति और प्रवृत्ति का चित्रण पण्डित टोडरमलजी इसप्रकार करते हैं

''जैसे पागल को किसी ने वस्त्र पहिना दिया। वह पागल उस वस्त्र को अपना अंग जानकर अपने को और वस्त्र को एक मानता है। वह वस्त्र पहिनाने वाले के आधीन होने से कभी वह फाड़ता है, कभी जोड़ता है, कभी खोंसता है, कभी नया पहिनाता है इत्यादि चरित्र करता है।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

वह पागल उसे अपने आधीन मानता है; उसकी पराधीन क्रिया होती है, उससे वह महा खेद-खिन्न होता है।

उसीप्रकार इस जीव को कर्मोदय ने शरीर सम्बन्ध कराया। यह जीव उस शरीर को अपना अंग जानकर अपने को और शरीर को एक मानता है। वह शरीर कर्म के आधीन कभी कृष होता है, कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है, कभी नवीन उत्पन्न होता है इत्यादि चरित्र होते हैं। यह जीव उसे अपने आधीन मानता है; उसकी पराधीन क्रिया होती है; उससे महाखेदाखिन्न होता है।

तथा जैसे जहाँ वह पागल ठहरा था; वहाँ मनुष्य, घोड़ा, धनादिक कहीं से आकर उतरे; वह पागल उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; वह पागल उन्हें अपने आधीन मानता है, उनकी पराधीन क्रिया हो तब खेदखिन्न होता है।

उसीप्रकार यह जीव जहाँ पर्याय धारण करता है; वहाँ स्वयमेव पुत्र, घोड़ा, धनादिक कहीं से आकर प्राप्त हुए; यह जीव उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; यह जीव उन्हें अपने आधीन मानता है, और उनकी पराधीन क्रिया हो तब खेदखिन्न होता है।[१]''

इसप्रकार दर्शनमोहनीय कर्म अर्थात् मिथ्यात्व के उदय से यह जीव अनन्त दुःख प्राप्त करता रहा है।

चारित्र मोहनीय के उदय में २५ कषायें होती हैं। कषायों के कारण इस जीव की कैसी दुर्दशा होती है यह किसी से छुपी नहीं है। पण्डितजी ने इसका बहुत मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।

क्रोध के उदय में आँखें लाल हो जाती हैं, गालियाँ बकने लगता है, माँ-बहिन का भी ख्याल नहीं रखता है; मरने-मारने पर उतारू हो जाता है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-५१-५२

यदि कोई इष्टजन या पूज्य पुरुष बीच में आ जाये तो उन्हें भी भला-बुरा कहने लगता है, कुछ विचार नहीं करता। यदि अन्य का बुरा न हो तो बहुत दुःखी होता है और अपने अंगों का घात करने लगता है, विषादि का भक्षण कर मर जाता है।

मान कषाय के कारण औरों को नीचा और स्वयं को ऊँचा करने की इच्छा होती है, तदर्थ अनेक उपाय करता है। मरने के बाद हमारा यश होगा ऐसा सोचकर मरकर भी अपनी महिमा बढ़ाना चाहता है। सफल न होने पर बहुत दुःखी होता है और विषादि खाकर मर जाता है।

इसीप्रकार २५ कषायों के उदय में मरणपर्यन्त दुःख भोगने का चित्रण टोडरमलजी ने इस तीसरे अधिकार में किया है; जो मूलतः पठनीय है। विस्तारभय से यहाँ प्रत्येक की चर्चा करना संभव नहीं है।

जरा विचार करो कि कषायों की तीव्रता का कितना दुःख है कि उससे बचने के लिये यह जीव मरण की शरण खोजता है, मरण की शरण में चला जाता है। निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुये पण्डितजी लिखते हैं

''यहाँ ऐसा विचार आता है कि यदि इन अवस्थाओं में न प्रवर्तें तो क्रोधादिक पीड़ा उत्पन्न करते हैं और इन अवस्थाओं में प्रवर्तें तो मरणपर्यन्त कष्ट होते हैं। **वहाँ मरणपर्यन्त कष्ट तो स्वीकार करते हैं, परन्तु क्रोधादिक की पीड़ा सहना स्वीकार नहीं करते। इससे यह निश्चित हुआ कि मरणादिक से भी कषायों की पीड़ा अधिक है।**[१]''

इसप्रकार यह जीव कषायभावों से पीड़ित हुआ निरन्तर अनन्त दुःखी होता रहता है।

इसप्रकार यहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के उदय में होने वाले दुःखों का संक्षेप में वर्णन किया। इसीप्रकार अन्तराय कर्मोदय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में होने वाली रुकावट व वेदनीय,

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-५५

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

आयु, नाम और गोत्र कर्म के उदय में होने वाले अनुकूल-प्रतिकूल संयोग भी मोहकर्म के सद्भाव में दुःख के ही कारण बनते हैं।

वैसे तो कोई भी संयोग-वियोग सुख-दुःख के कारण नहीं हैं; पर मोह के उदय में महान दुःखदायी हो जाते हैं।

इसप्रकार अब तक यह समझाया गया है कि संसारी जीवों के कर्मोदय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शनादि के निमित्त से दुःख ही दुःख पाया जाता है और अब यह समझाते हैं कि पर्याय अपेक्षा से एकेन्द्रियादि जीव चारों गतियों में भ्रमण करते हुए अनन्त दुःख उठा रहे हैं।

एकेन्द्रियादि जीवों के दुःखों का निरूपण करते हुये भी यही बताते हैं कि वे जीव किस अवस्था में किस कर्म के उदय में किसप्रकार के दुःख भोग रहे हैं।

एकेन्द्रियादि जीवों के दुःखों की चर्चा आरंभ करते हुये पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''इस संसार में बहुत काल तो एकेन्द्रिय पर्याय में ही बीतता है। इसलिये अनादि ही से तो नित्यनिगोद में रहना होता है; फिर वहाँ से निकलना ऐसा है कि जैसे भाड़ में भुंजते हुए चने का उचट जाना।

इसप्रकार वहाँ से निकलकर अन्य पर्याय धारण करे तो **त्रस में तो बहुत थोड़े ही काल रहता है; एकेन्द्रिय में ही बहुत काल व्यतीत करता है।**

वहाँ इतरनिगोद में बहुत काल रहना होता है तथा कितने काल तक पृथ्वी, अप, तेज, वायु और प्रत्येक वनस्पति में रहना होता है। नित्यनिगोद से निकलकर बाद में त्रस में रहने का उत्कृष्ट काल तो साधिक दो हजार सागर ही है तथा एकेन्द्रिय में रहने का उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परावर्तन मात्र है और पुद्गल परावर्तन का काल ऐसा है कि जिसके अनन्तवें भाग में भी अनन्त सागर होते हैं। इसलिए इस संसारी के मुख्यतः एकेन्द्रिय पर्याय में ही काल व्यतीत होता है।

वहाँ एकेन्द्रिय के ज्ञान-दर्शन की शक्ति तो किंचित्मात्र ही रहती है।

एक स्पर्शन इन्द्रिय के निमित्त से हुआ मतिज्ञान और उसके निमित्त से हुआ श्रुतज्ञान तथा स्पर्शन इन्द्रियजनित अचक्षुदर्शन जिनके द्वारा शीत-उष्णादिक को किंचित् जानते-देखते हैं। ज्ञानावरण-दर्शनावरण के तीव्र उदय से इससे अधिक ज्ञान-दर्शन नहीं पाये जाते और विषयों की इच्छा पायी जाती है, जिससे महादुःखी हैं।

तथा दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है; उससे पर्याय का ही अपनेरूप श्रद्धान करते हैं, अन्य विचार करने की शक्ति ही नहीं है।

तथा चारित्रमोह के उदय से तीव्र क्रोधादिक-कषायरूप परिणमित होते हैं; क्योंकि उनके केवली भगवान ने कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें ही कही हैं और वे तीव्र कषाय होने पर ही होती हैं।

वहाँ कषाय तो बहुत हैं और शक्ति सर्व प्रकार से महाहीन है; इसलिए बहुत दुःखी हो रहे हैं, कुछ उपाय नहीं कर सकते।[१]

तथा ऐसा जानना कि जहाँ कषाय बहुत हो और शक्तिहीन हो, वहाँ बहुत दुःख होता है और ज्यों-ज्यों कषाय कम होती जाये तथा शक्ति बढ़ती जाये त्यों-त्यों दुःख कम होता है। परन्तु एकेन्द्रियों के कषाय बहुत और शक्ति हीन; इसलिये एकेन्द्रिय जीव महादुःखी हैं। उनके दुःख वे ही भोगते हैं और केवली जानते हैं।

जैसे सन्निपात के रोगी का ज्ञान कम हो जाये और बाह्य शक्ति की हीनता से अपना दुःख प्रगट भी न कर सके, परन्तु वह महादुःखी है; उसीप्रकार एकेन्द्रिय का ज्ञान तो थोड़ा है और बाह्य शक्तिहीनता के कारण अपना दुःख प्रगट भी नहीं कर सकता, परन्तु महादुःखी है।[२]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि निगोद भी तिर्यंचगति में ही आता है; **जहाँ एक श्वांस में अठारह बार जन्म और अठारह बार मरण होता**

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-६२-६३
२. वही, पृष्ठ-६३-६४

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

है। इस जगत में जन्म-मरण का दुःख ही सबसे बड़ा दुःख है; जिसे वे निगोदिया जीव निरन्तर भोगते रहते हैं।

जब हमारी सौ-दो सौ रुपयों की कोई वस्तु खो जाती है तो हमें कितना दुःख होता है; पर मरण तो सम्पूर्ण वस्तुओं का एक साथ खो जाने का नाम है। आप कल्पना कर सकते हैं, उसके अनुपात में सर्वस्व खो जाने पर कितना दुःख होता होगा? यही कारण है कि सभी संसारी जीवों को सबसे बड़ा दुःख मरने का लगता है। यह जीव सबकुछ खोकर भी मरने से बचना चाहता है। जीवन में एक बार मरने के दुःख की अपेक्षा जिसे एक श्वांस में १८ बार मरना पड़ता हो; उसे कितना दुःख होगा इसे आसानी से समझा जा सकता है। मरण के समान जन्म भी कम कष्टदायक नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि वहाँ तो ज्ञान न के बराबर ही है, एकदम बेहोशी जैसी अवस्था है। बेहोशी में दुःख कैसा?

अरे भाई! ज्ञान का विकास दुःख का कारण थोड़े ही है। ज्ञान का विकास किसी अपेक्षा से सुख का कारण तो हो सकता है; पर दुःख का कारण ज्ञान को मानना तो सबसे बड़ा अज्ञान है। वस्तुतः बात यह है कि ज्ञान के विकास की कमी होने से उसका दुःख प्रगट नहीं हो पाता। प्रगट नहीं हो पाने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वह दुःखी नहीं है।

निगोदिया जीव वनस्पतिकायिक जीव हैं। निगोदियों के अलावा भी वनस्पतिकायिक जीव होते हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव भी तिर्यंचगति में आते हैं। वे भी अनन्त दुःखी ही हैं। इसीप्रकार विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) भी तिर्यंच गति में आते हैं।

मन रहित असैनी पंचेन्द्रिय जीव भी तिर्यंचगति में ही हैं। इसप्रकार सबसे अधिक दुःख कहीं है तो वह तिर्यंचगति में ही है।

द्वीन्द्रियादि से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों की स्थिति भी

लगभग एकेन्द्रिय जैसी ही है। अन्तर मात्र इतना ही है कि उनकी अपेक्षा इनमें ज्ञान का उघाड़ क्रमशः कुछ अधिक हुआ है और बोलने-चालने की भी शक्ति प्रगट हुई है; अतः इनका दुःख कुछ-कुछ प्रगट दिखाई देता है। इन जीवों की क्रोधादि से लड़ना, मारना, काटना, भागना व अन्नादि का संग्रह करना आदि क्रियायें दिखाई देती हैं। सर्दी-गर्मी, छेदन-भेदन के दुःख तो सभी को हैं ही।

इसप्रकार एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के दुःखों का संक्षिप्त निरूपण करने के उपरान्त अब सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के दुःखों की चर्चा चारों गतियों की अपेक्षा करते हैं; क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीव तो सभी तिर्यंचगति के ही जीव हैं।

सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के दुःखों का वर्णन मोक्षमार्गप्रकाशक के अनुसार ही छहढ़ाला में इसप्रकार किया गया है

सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशू हति खाये भूर।
कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अति दीन।।
छेदन-भेदन भूख पियास, भार-वहन हिम-आतप त्रास।
बध-बन्धन आदिक दुःख घने, कोटि जीभतैं जात न भने।।

यदि सैनी तिर्यंच सिंहादिक भी हो गया तो निरन्तर निर्बल पशुओं को मारकर खाता रहता है। यदि कभी स्वयं बलहीन दीन पशु हो गया तो अन्य सबल पशुओं का आहार बन जाता है। छेदन-भेदन, भूख-प्यास, बोझा ढोना और सर्दी-गर्मी के दुःख तो भोगने ही पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त बाँधा जाना, मारा जाना आदि अनेक प्रकार के इतने दुःख होते हैं कि जिनका कथन करोड़ जिव्हाओं से भी नहीं किया जा सकता।

सैनी पंचेन्द्रिय जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं। अतः उनके दुःखों का वर्णन गतियों की अपेक्षा किया गया है। गतियों में पाये जाने वाले दुःखों का निरूपण भी पण्डितजी कर्मोदय की अपेक्षा से ही करते हैं।

नारकी जीवों में अपेक्षाकृत ज्ञान का विकास अधिक है; तथापि

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

उनके पंचेन्द्रिय विषय-सेवन की इच्छा बहुत है और विषय-सामग्री का पूर्णतः अभाव है; अतः वे अत्यन्त दुःखी हैं।

उनके कषायों की तीव्रता अत्यधिक है और उनके कृष्णादि अशुभ लेश्यायें ही होती हैं। इस कारण भी वे बहुत दुःखी हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक में निरूपित नरकगति में जीवों के दुखों का वर्णन छहढ़ाला में पण्डित दौलतरामजी अति संक्षेप में इसप्रकार करते हैं

तहाँ भूमि परसत दुःख इसो, बिच्छू सहस डसैं नहिं तिसो।
तहाँ राध-शोणित वाहिनी, कृमि-कुल कलित देह दाहिनी।।९।।
सेमर तरु दल जुत असिपत्र, असि ज्यौं देह विदारैं तत्र।
मेरु-समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय।।१०।।
तिल-तिल करैं देह के खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड।
सिंधु-नीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय।।११।।
तीन लोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय।
ये दुःख बहु सागर लौं सहे, करम-जोग तैं नरगति लहै।।१२।।

नरक की भूमि इसप्रकार की होती है कि जिसे छूते ही ऐसी पीड़ा होती है कि जैसी पीड़ा हजार बिच्छुओं के काटने से भी नहीं होती।

वहाँ की खून और पीप से भरी हुई देह को जला देनेवाली भयंकर नदियाँ कीड़े-मकोड़ों से भरी हुई होती है।

सेमर नामक वृक्षों के तरवार की धार के समान पत्ते उनके शरीर को उसीप्रकार चीर देते हैं, जिसप्रकार तलवार शरीर को चीर देती है। सर्दी-गर्मी ऐसी पड़ती है कि यदि मेरु के समान विशाल लोहे का गोला वहाँ डाला जाय तो वह गर्मी से गल जायेगा और सर्दी से क्षार-क्षार हो जायेगा।

असुर जाति के देव जाकर उन्हें परस्पर लड़ाते हैं, जिससे वे परस्पर एक-दूसरे की देह के खण्ड-खण्ड कर डालते हैं।

समुद्रों पानी पी लेने पर भी प्यास न बुझे ऐसी भयंकर प्यास लगती है, फिर भी पानी की एक भी बूँद प्राप्त नहीं होती। इसीप्रकार तीन लोकों

में प्राप्त सम्पूर्ण अनाज खा जावे, तब भी भूख नहीं मिटे ऐसी भूख लगती है, पर खाने को एक कण भी प्राप्त नहीं होता।

नरकों में इस जीव को इसप्रकार के दुःख अनेक सागरों पर्यन्त भोगने पड़ते हैं।

प्रश्न अनाज मात्र मध्यलोक में ही पैदा होता है, वहाँ भी सभी जगह नहीं; क्योंकि पृथ्वी के तीन चौथाई भाग में तो पानी ही पानी है। जहाँ जमीन है, वहाँ भी तो सब जगह अनाज पैदा नहीं होता। ऐसी स्थिति में तीन लोक के अनाज को खाने की बात क्या ठीक है?

उत्तर अरे भाई! अनाज कहाँ-कहाँ पैदा होता है और कहाँ नहीं यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह बताया जा रहा है जहाँ और जितना अनाज पैदा होता है; यदि वह सभी खा जावे तो भी नारकी को तृप्ति नहीं होगी। ऐसा कहकर उनकी भूख की भयंकरता का ज्ञान कराया है।

नरकगति और तिर्यंचगति में दुःख हैं; यह तो सभी लोग मानते हैं; परन्तु मनुष्य व देवगति में भी दुःख ही दुःख हैं यह बात सभी को सहज स्वीकार नहीं होती है।

पण्डित टोडरमलजी ने इस तीसरे अधिकार में मनुष्यगति और देवगति के जीव भी दुःखी हैं इस बात को सयुक्ति समझाया है; जिसका सार छहढ़ाला में पण्डित दौलतरामजी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं

जननी उदर बस्यो नव मास, अंग-सकुचतैं पायो त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर।।१३।।
बालपने में ज्ञान न लह्यौ, तरुण समय तरुणीरत रह्यौ।
अर्द्धमृतक-सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो।।१४।।
कभी अकाम-निर्जरा करै, भवनत्रिक में सुरतन धरै।
विषयचाह-दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो।।१५।।
जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय।
तहँ तैं चय थावर-तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै।।१६।।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

मनुष्य गति में जन्म से पहिले नौ महिनों तक माँ के पेट में रहना पड़ता है; वहाँ स्थान की कमी के कारण अंगों के सिकुड़े रहने से असह्य वेदना सहनी पड़ती है और जब जन्म होता, तब जो भयंकर पीड़ा होती है, उसका कहना तो असंभव सा ही है, उसका तो कोई ओर-छोर ही नहीं है।

जन्म के बाद इसका बचपन अज्ञानदशा में ही बीत जाता है और जवानी में यह जवान पत्नी के राग में लीन रहता है। जरा विचार तो करो कि अधमरे के समान वृद्धावस्था में अपने आत्मा को प्राप्त करने का पुरुषार्थ कैसे किया जा सकता है?

यदि कभी अकामनिर्जरा के कारण देवगति में भवनवासी, व्यंतर या ज्योतिषी देव हो जाता है तो वहाँ पंचेन्द्रिविषयों के दावानल में जलता रहता है और जब मरन का समय आता है; तब विलाप करने लगता है। इसप्रकार यह जीव भवनत्रिक देवों में दुःख भोगता रहता है।

यदि कभी वैमानिक देव हो गया, स्वर्गों में चला गया; तब भी वहाँ सम्यग्दर्शन के बिना दुःखी ही रहता है। और अन्त में मिथ्यात्व के कारण वहाँ से च्युत होकर एकेन्द्रियपर्याय में चला जाता है, निगोद में चला जाता है।

इसप्रकार यह जीव इस संसार में पंचपरावर्तन करते हुये सर्वत्र ही अनन्त दुःख भोगता रहता है।

देखो, वैमानिक देवों की चर्चा करते हुये उन्होंने ३१ सागर की आयु वाले नववीं ग्रैवेयक तक के देवों की ही चर्चा की; क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव वहीं तक जाते हैं, वहीं तक होते हैं; उसके ऊपर अनुदिश और पाँच अनुत्तर हैं, जिनमें सर्वार्थसिद्धि भी शामिल हैं; इनमें रहने वाले जीव तो नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। **सम्यग्दृष्टि जीव तो सर्वत्र सुखी ही हैं; क्योंकि दुःख के कारण तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही हैं। सम्यग्दृष्टियों को चारित्रमोह के उदय में जो दुःख देखा जाता**

है, वह नगण्य ही है और अल्पकाल में स्वयं समाप्त हो जानेवाला है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं के भवचक्र का अन्त आ गया है।

कल्पोपपन्न और कल्पातीत के भेद से वैमानिक देव भी दो प्रकार के होते हैं। जिनमें इन्द्र, सामानिक आदि दस भेद होते हैं, उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं और जिनमें इसप्रकार के भेद नहीं होते, सभी इन्द्र के समान हो; उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं; वे कल्पातीत कहलाते हैं।

पहले स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग तक के देव कल्पोपपन्न हैं और उसके ऊपर के अर्थात् नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर के सभी देव कल्पातीत कहलाते हैं।

कल्पोपपन्न देवों में छोटे-बड़े का भेद होने से हीन भावना का भी दुःख पाया जाता है। **ऐरावत हाथी भी आभियोग्य जाति का देवगति का जीव है, तिर्यंच नहीं; पर उसे हाथी बनकर इन्द्रों को अपनी पीठ पर बिठाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसकी मानसिक पीड़ा की कल्पना की जा सकती है।** हम भी पंचकल्याणकों में इन्द्रों की ही बोलियाँ लेते हैं, कोई व्यक्ति ऐरावत हाथी की बोली नहीं लेता; इसी कारण उनकी बोली नहीं लगाई जाती।

इसप्रकार हम देखते हैं कि चारों गतियों में जीव एकमात्र मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के कारण ही दुःखी हैं और उन दुःखों के बचने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति ही है।

इस तीसरे अधिकार में चारों गतियों के दुःखों का निरूपण करने के उपरान्त दुःख के सामान्य स्वरूप का निरूपण किया है, जिसमें चार प्रकार की इच्छाओं का मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। तदुपरान्त मोक्षसुख की संक्षिप्त चर्चा है। उक्त विषयों की चर्चा अगले प्रवचनों में यथास्थान होगी ही। ●

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

चौथा प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र में प्रतिपादित विषय-वस्तु की चर्चा चल रही है। **इसके प्रथम अधिकार में** मंगलाचरण, पंचपरमेष्ठी का स्वरूप, पढ़ने-सुनने योग्य शास्त्र, वक्ता-श्रोता का स्वरूप एवं ग्रन्थ की प्रामाणिकता आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अधिकार में कर्मबन्धन का निदान, घाति-अघाति कर्म और उनके कार्य, चार प्रकार के बंध, कर्मों की सत्ता और उनके उदय से होने वाली विभिन्न अवस्थाओं का विशद निरूपण किया गया है।

तीसरे अधिकार में अबतक संसार के दुःख और उनके मूल कारणों की कर्मों की अपेक्षा तथा एकेन्द्रियादि पर्यायों और चारगतियों की अपेक्षा से गहरी मीमांसा की गई है। अब दुःखों का सामान्य स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है। इसके बाद मोक्षसुख और उसकी प्राप्ति के उपाय की चर्चा करेंगे।

'दुःख का सामान्य स्वरूप' इस मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र का एक ऐसा प्रकरण है कि जो अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें पण्डितजी चार प्रकार की इच्छाओं की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार हैं

१. विषय, २. कषाय, ३. पाप का उदय और ४. पुण्य का उदय।

पाँच इन्द्रियों के माध्यम से देखने-जानने की इच्छा का नाम **विषय** है और कषायभावों के अनुसार कार्य करने की इच्छा का नाम **कषाय** है।

यद्यपि इन विषय और कषाय नामक इच्छाओं में अन्य कोई पीड़ा नहीं है; तथापि जबतक इन्द्रियविषयों का ग्रहण नहीं होता अर्थात् देखना-जानना नहीं होता और अपनी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं होता; तबतक यह जीव अत्यन्त व्याकुल रहता है।

पापकर्म के उदय से प्राप्त अनिष्ट संयोगों को दूर करने की इच्छा का नाम **पाप का उदय** है। जबतक वे अनिष्ट संयोग दूर न हों, तबतक यह जीव महा व्याकुल रहता है।

उक्त तीन प्रकार की इच्छाओं के अनुसार प्रवर्तन करने की इच्छा का नाम **पुण्य का उदय** है। पुण्य के उदय के अनुसार प्राप्त अनेकानेक अनुकूलताओं को एक साथ भोगना संभव नहीं हो पाता; इस कारण पुण्य के उदय वाले जीव भी व्याकुल रहते हैं।

सम्पूर्ण जगत उक्त इच्छाओं से पीड़ित हो रहा है। दुःख का कारण एकमात्र ये इच्छायें हैं, बाह्य संयोग नहीं। संयोगी परपदार्थ तो परद्रव्य हैं। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता ही नहीं है तो फिर परद्रव्य जीव को सुखी-दुखी कैसे कर सकते हैं ?

एक ओर भरतचक्रवर्ती के पास अपार भोगसामग्री थी; पर वह भोगसामग्री उनका अहित नहीं कर पाई; वहीं दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि के पास रंचमात्र भी भोगसामग्री नहीं होती, फिर भी उनके आत्मा का कल्याण नहीं हो पाता। इससे सहज ही सिद्ध है कि बाह्यसामग्री हित-अहित करनेवाली नहीं है; आत्मा का अहित करनेवाली इच्छायें ही हैं। यही कारण है कि इच्छाओं के निरोध को तप कहा गया है।

लोक में तीव्र कषाय से जिसे बहुत इच्छायें हैं, उन्हें दुःखी कहते हैं और मन्दकषाय से जिन्हें कम इच्छायें हैं, उन्हें सुखी कहते हैं; परन्तु सत्य तो यह है कि बहुत इच्छा वाले जीव बहुत दुःखी हैं और कम इच्छा वाले जीव कम दुःखी हैं; पर दुःखी तो दोनों ही हैं, सुख तो दोनों में से किसी को भी नहीं है।

इन इच्छाओं की उत्पत्ति मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम के कारण होती है तथा आकुलतारूप होने से ये इच्छायें दुःखरूप ही हैं।

विषय और कषायरूप इच्छाओं की दुःखरूपता स्पष्ट करते हुये पण्डित दौलतरामजी देव-स्तुति में लिखते हैं

आतम के अहित विषय-कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।

उक्त पंक्ति में यह कहा गया है कि आत्मा का अहित करने वाले मूलतः विषय और कषायें हैं।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

'आतम के अहित विषय-कषाय' के साथ 'इनमें मेरी परिणति न जाय' लिखकर दौलतरामजी ने तीसरी इच्छा की ओर संकेत किया है।

जब पाँच इन्द्रियों के विषयों को छोड़ने की बात चलती है तो हम भोग-सामग्री को छोड़ने की बात करने लगते हैं, पर मैं यह नहीं कहता कि विषय-सामग्री के भोग का त्याग नहीं करना चाहिये; पर यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि **यहाँ पण्डित टोडरमलजी विषय का अर्थ परज्ञेयों को जानने-देखने की इच्छा को बता रहे हैं और उसे ही दुःखरूप सिद्ध कर रहे हैं। उनका कहना यह है कि जानने-देखने की इच्छावालों को क्षायोपशमिक ज्ञान होता है। इसकारण उनकी जानने की शक्ति तो होती है अत्यन्त अल्प और इच्छा सम्पूर्ण जगत को जानने की रहती है; इसकारण वे निरन्तर आकुलित रहते हैं।**

इसीप्रकार कषाय शब्द के व्यापक अर्थ तक भी हम नहीं पहुँच पाते। अकेली क्रोध-मान ही कषायें नहीं हैं, हास्यादि भी कषायें हैं। जब हम खिलखिलाकर हँस रहे होते हैं, तब क्या हम यह अनुभव करते हैं कि हम कषाय कर रहे हैं, इसलिये दुःखी हैं। हँसते समय तो हम स्वयं को सुखी ही मानते हैं, आनन्दित ही होते हैं।

इसीप्रकार जब हम डर रहे होते हैं, शोक कर रहे होते हैं, ग्लानि से भर गये होते हैं; तब भी क्या हम यह अनुभव करते हैं कि हम कषाय कर रहे हैं। **विगत प्रकरण में तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद को भी कषाय शब्द में गर्भित किया गया है,** जिसकी चर्चा विस्तार से हो चुकी है।

अरे भाई! पण्डित टोडरमलजी तो यहाँ यह कहना चाहते हैं कि **पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से जानने-देखने की इच्छा का त्याग विषय का त्याग है और मिथ्यात्वादि कषायभावों के अनुसार कार्य करने की इच्छा के त्याग का नाम कषाय का त्याग है।**

इसीप्रकार पाप और पुण्य के उदय रूप इच्छाओं के संबंध में भी गहरे चिन्तन की आवश्यकता है।

प्रतिकूल संयोगों की प्राप्ति को हम पाप का उदय मानते हैं और अनुकूल संयोगों की प्राप्ति को पुण्य का उदय; पर यहाँ तो पाप कर्म के उदय में प्राप्त **प्रतिकूल संयोगों को दूर करने की इच्छा को पाप का उदय कहा जा रहा है। तात्पर्य यह है कि असली पाप का उदय तो उक्त प्रतिकूल संयोगों को टालने की इच्छा का नाम है।** हम उस इच्छा का अभाव तो करते नहीं, करना भी नहीं चाहते और संयोगों के हटाने के विकल्पों में उलझे रहते हैं; जबकि इनका हटना-न-हटना हमारे हाथ में नहीं है।

इसीप्रकार हम तो पुण्य के उदय से प्राप्त भोग सामग्री को पुण्य का उदय समझते हैं; जबकि यहाँ **उक्त सामग्री को भोगने की इच्छा को पुण्य का उदय कहा गया है** और उस इच्छा का त्याग करने की प्रेरणा दी जा रही है, परन्तु हम तो पुण्य के उदय की कामना करते हैं।

कदाचित् किसी जीव को **पुण्य के उदय से भोगसामग्री प्राप्त हो जाय, कषायों की पूर्ति का प्रसंग बन जाय, मान-सम्मान प्राप्त हो जाय; जिस का वह बुरा चाहता है, कदाचित् उसका बुरा भी हो जाय; सभी प्रकार की इच्छाओं के अनुकूल प्रसंग बन जाये; तब भी वह जीव सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि वह सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति में एकसाथ प्रवृत्त नहीं हो सकता।**

एक समय में एक प्रकार की अनुकूलता को ही भोग सकता है। इस कारण जिस समय वह एक वस्तु का उपभोग कर रहा है, उसकी अनुकूलता का वेदन न करके, जिन्हें भोगना संभव नहीं हो पा रहा है, उनको न भोग पाने की आकुलता का वेदन करके दुखी होता रहता है।

दश-दश मकान हैं, एक-एक में अनेक वातानुकूलित कमरे हैं; दश-बीस वातानुकूलित गाड़ियाँ खड़ी हैं; पर जेठ की दुपहरी में विशाल पाण्डाल में सेठ साहब का अभिनंदन हो रहा है। भयंकर गर्मी है, लू चल रही है। बिजली गायब है, अत: पंखे भी बंद हैं; फिर भी सेठ साहब वहाँ

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

बैठे हैं। यद्यपि मान कषाय का पोषण हो रहा है, पर भयंकर गर्मी की असह्य आकुलता भी हो रही है।

रनों का अंबार लगाता हुआ क्रिकेट का खिलाड़ी बल्लेबाज आनंदित होता हुआ भी पसीने से लथपथ है, उसका गला प्यास से सूखा जा रहा है, शतक बन गया है; पर खेल के मैदान में वह बेहोश हो गया है।

वे देश के प्रधानमंत्री बन गये हैं, चारों ओर जय के नारे लग रहे हैं; पर गांव-गांव में घूम-घूम कर चुनाव प्रचार करते हुए पस्त हो गये हैं।

अब आप ही बताइये कि इसप्रकार के पुण्य के उदय वालों को सुखी कहें या दु:खी ?

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस प्रकरण में पण्डितजी ने चारों प्रकार की इच्छाओं को समान रूप से दु:खरूप सिद्ध किया है और उन्हें त्यागने की प्रेरणा दी है। अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि **इच्छायें मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम से होती हैं और स्वयं दु:खरूप हैं; अतः सभी प्रकार की सभी इच्छायें सम्पूर्णत: त्याग करने योग्य हैं।**

इसके बाद मोक्ष सुख और उसकी प्राप्ति का उपाय बताते हुए आचार्य कल्प पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''अब जिन जीवों को दु:ख से छूटना हो वे इच्छा दूर करने का उपाय करो तथा इच्छा दूर तब ही होती है; जब मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम का अभाव हो और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो। इसलिए इसी कार्य का उद्यम करना योग्य है।

ऐसा साधन करने पर जितनी-जितनी इच्छा मिटे, उतना-उतना दु:ख दूर होता जाता है और जब मोह के सर्वथा अभाव से सर्व इच्छा का अभाव हो, तब सर्व दु:ख मिटता है, सच्चा सुख प्रगट होता है।

तथा ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय का अभाव हो, तब इच्छा के कारणभूत क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन का तथा शक्तिहीनपने का भी अभाव होता है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य की प्राप्ति होती है तथा कितने

ही काल पश्चात् अघाति कर्मों का भी अभाव हो, तब इच्छा के बाह्य कारणों का भी अभाव होता है; क्योंकि मोह चले जाने के बाद कोई भी कर्म किसी भी काल में कोई इच्छा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं थे। मोह के होने पर कारण थे, इसलिए कारण कहे हैं; उनका भी अभाव हुआ, तब जीव सिद्धपने को प्राप्त होते हैं।

वहाँ दु:ख का तथा दुख के कारणों का सर्वथा अभाव होने से सदा-काल अनुपम, अखंडित, सर्वोत्कृष्ट आनन्द सहित विराजमान रहते हैं।[१]''

इसके उपरान्त वे आठों कर्मों के अभाव में प्रगट होनेवाले अनाकुल भावरूप सुख को विस्तार से स्पष्ट करते हैं, एक-एक कर्म के अभाव में किस-किसप्रकार का अनाकुल भाव (सुख) प्रगट होता है यह समझाते हैं।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम से देखना-जानना सीमित होता था और मोह के उदय से सभी को एक साथ देखने-जानने की इच्छा रहती थी। अत: आकुलता होती थी।

अब सिद्धदशा में ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षय से सभी पदार्थों को देखने-जानने लगा और मोह के अभाव में देखने-जानने की इच्छा का सम्पूर्णत: अभाव हो गया तथा निराकुल भाव सम्पूर्णत: प्रगट हो गया; अत: परम सुखी हो गया।

मोह के उदय से होनेवाले मिथ्यात्वादि कषाय भावों का अभाव होने से मिथ्यात्व और कषायभावों से होनेवाले दुख का अभाव हो गया।

मिथ्यात्व के अभाव से परपदार्थों में होनेवाली इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का अभाव हो गया; इसीप्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ कर्म के अभाव से ये भाव भी नहीं रहे।

पापरूप अशुभ नामकर्म, नीच गोत्रकर्म, अशुभ आयुकर्म और असाता वेदनीय कर्म तथा पुण्यरूप शुभ नामकर्म, उच्च गोत्रकर्म, शुभ

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-७२

आयुकर्म और साता वेदनीय कर्म का अभाव होने से प्रतिकूल-अनुकूल संयोगों का अभाव हो गया; अत: उनसे होनेवाले सांसारिक सुख-दु:ख का भी अभाव हो गया।

इसप्रकार घाति और अघाति कर्मों के अभाव होने से तज्जन्य आकुलता का अभाव हो जाने से सिद्ध भगवान अनंत अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त हो गये हैं। अत: अब वे अनन्तकाल तक प्रतिसमय अनन्त, अतीन्द्रिय, अव्याबाध आनन्द (सुख) का उपभोग करते रहेंगे।

इसप्रकार इस तीसरे अधिकार का समापन करके अन्त में उपदेश देते हुए, आदेश देते हुए, प्रेरणा देते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''हे भव्य ! हे भाई !! तुझे जो संसार के दु:ख बतलाए सो, वे तुझ पर बीतते हैं या नहीं यह विचार कर; और तू जो उपाय करता है, उन्हें झूठा बतलाया, सो ऐसे ही हैं या नहीं यह विचार। तथा सिद्धपद प्राप्त होने पर सुख होता है या नहीं, उसका भी विचार कर।

जैसा कहा है, वैसी ही प्रतीति तुझे आती हो तो तू संसार से छूटकर सिद्धपद प्राप्त करने का हम जो उपाय कहते हैं; वह कर, विलम्ब मत कर।

यह उपाय करने से तेरा कल्याण होगा।[१]''

इसके बाद आनेवाले चौथे अधिकार में पण्डितजी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का निरूपण आरंभ करते हैं; जो सातवें अधिकार तक चलेगा; जिसमें अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का स्वरूप विस्तार से समझाया जायेगा।

'संसार में सर्वत्र दुख ही दुख हैं, सुख तो एकमात्र मोक्ष में ही है' विगत अधिकारों में यह सिद्ध करने के उपरान्त अब उक्त **दुखों के मूलकारण क्या हैं और मुक्ति की प्राप्ति कैसे होती है ? इस बात पर विचार करते हैं।**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-७५

इस बात का संकेत वे इस चौथे अधिकार के मंगलाचरण में ही दे देते हैं; जो इसप्रकार है

इस भव के सब दुखनि के कारण मिथ्याभाव।
तिनकी सत्ता नाश करि प्रगटै मोक्ष उपाव।।

इस संसार के सभी दुखों के मूल कारण मिथ्याभाव हैं। उनकी सत्ता का नाश होने पर ही मोक्ष का उपाय प्रगट होता है।

मिथ्याभाव का अर्थ है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। इन तीनों का एक नाम मिथ्यात्व है।

ध्यान रहे मिथ्यात्व शब्द का प्रयोग अकेले मिथ्यादर्शन के अर्थ में भी होता है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीनों के समुदाय के रूप में भी होता है।

इसीप्रकार सम्यक्त्व शब्द के अर्थ के संदर्भ में भी समझना चाहिए। अकेले सम्यग्दर्शन के अर्थ में भी सम्यक्त्व शब्द का प्रयोग देखा जाता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय के रूप में भी होता है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि मिथ्यात्व अनंत दुख (संसार) का कारण है और सम्यक्त्व अनंत सुख (मोक्ष) का कारण है।

विगत अधिकारों की भांति इस अधिकार के आरंभ में भी वे रोगी और वैद्य के उदाहरण से अपनी बात स्पष्ट करते हैं।

विगत अधिकारों में रोग के स्वरूप का निदान किया गया था और अब उसके कारण की चर्चा चल रही है, वदपरहेजी की बात चल रही है। इसीप्रकार विगत अधिकारों में दुख के स्वरूप का निदान किया गया था और अब यहाँ उसके कारणों की मीमांसा की जा रही है।

अपनी कथन शैली का औचित्य सिद्ध करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि जिसप्रकार वैद्य रोग के कारणों को विशेषरूप से बताये तो रोगी कुपथ्य का सेवन न करे, वदपरहेजी से बचे तो रोग रहित हो जावे;

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

उसीप्रकार सद्गुरु संसार के कारणों का विशेषरूप से निरूपण करते हैं; जिससे संसारी जीव मिथ्यात्वादि कुपथ्य का सेवन नहीं करे तो सांसारिक दुखों से बच सकते हैं। यही कारण है कि यहाँ मिथ्याभावों का विशेष निरूपण आरंभ किया जा रहा है।

यहाँ कोई कह सकता है कि आपने तो मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डालने की प्रतिज्ञा की थी; पर यहाँ संसार के कारणों की चर्चा में उलझ कर ही रह गये हैं। आप तो हमें एकमात्र मुक्ति का उपाय बताइये, संसार के कारणों को जानकर हम क्या करेंगे ?

इसप्रकार के विचार व्यक्त करने वालों से पण्डितजी कहते हैं कि जिसप्रकार जबतक यह प्राणी वदपरहेजी नहीं छोड़ेगा, कुपथ्य का सेवन करना नहीं छोड़ेगा; तबतक इसे दी गई दवाइयाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं।

उसीप्रकार जबतक यह जीव मिथ्यात्वादि भावों को नहीं छोड़ेगा; तबतक बाह्य सदाचरण भी कुछ कार्यकारी नहीं होगा।

यही कारण है कि मुक्ति का उपाय बताने के पूर्व संसार के कारणों की मीमांसा की जा रही है।

जिसप्रकार रोगों के कुछ कारण तो वंशानुगत होते हैं और कुछ वदपरहेजी रूप होते हैं; उसीप्रकार दुखों के कुछ कारण तो अनादिकालीन होते हैं और कुछ कारण वर्तमान गल्तियों के रूप में पाये जाते हैं।

अगृहीत मिथ्यात्वादि तो अनादिकालीन हैं और गृहीत मिथ्यात्वादि वर्तमानकालीन गल्तियों के परिणाम हैं।

इस ग्रंथ मोक्षमार्गप्रकाश के आरंभ में ही कर्मबंधनिदान के प्रकरण में कर्मबंधन को अनादि सिद्ध करते हुए आत्मा के साथ ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का एकक्षेत्रावगाह और मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों का क्षणिक तादात्मरूप संबंध बताया है। मोह-राग-द्वेष में मोह शब्द दर्शनमोह के अर्थ में लेने से मिथ्यात्व तथा राग-द्वेष शब्द चारित्रमोह के सूचक होने से २५ कषायें इसप्रकार मिथ्यात्व और कषायें इस आत्मा में अनादि से

ही हैं। इसका आशय तो यही हुआ कि इस आत्मा में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अनादि से ही हैं।

गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तो सैनी पंचेन्द्रियों के ही होने से अनादि से हो नहीं सकते हैं। अतः यह सहज सिद्ध ही है कि अनादि से होनेवाले मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र नियम से अगृहीत ही होने चाहिए।

अगृहीत माने अनादिकालीन और गृहीत माने कुदेवादिक के निमित्त से नये ग्रहण किये हुए मिथ्यादर्शनादि।

जिसप्रकार सम्यग्दर्शन निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का होता है; उसीप्रकार मिथ्यादर्शन भी अगृहीत और गृहीत के भेद से दो प्रकार का है। जिसप्रकार निसर्गज सम्यग्दर्शन में परोपदेश की मुख्यता नहीं होती; उसीप्रकार **अगृहीत मिथ्यादर्शन में भी परोपदेश की आवश्यकता नहीं होती।**

इसीप्रकार जैसे अधिगमज सम्यग्दर्शन में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का उपदेश निमित्त होता है; उसीप्रकार गृहीत मिथ्यादर्शन में कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु का उपदेश निमित्त होता है।

सम्यग्दर्शन के समान मिथ्यादर्शन को भी निसर्गज (अगृहीत) और अधिगमज (गृहीत) कह सकते हैं। छहढाला में दौलतरामजी ने इसप्रकार का प्रयोग किया भी है, वे लिखते हैं

यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह।[१]

उक्त पंक्ति में अगृहीत मिथ्यादर्शनादि को निसर्ग शब्द से अभिहित किया गया है।

इस चौथे अधिकार में अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की चर्चा है और पाँचवें, छठवें और सातवें अधिकार में गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का विवेचन किया जायेगा।

पाँचवें अधिकार में जैनेतर गृहीत मिथ्यादृष्टियों की, छठवें अधिकार

१. छहढाला : दूसरी ढाल, छन्द-८

में जैनों में पायी जानेवाली कुदेवादि की प्रवृत्ति रूप गृहीत मिथ्यादर्शनादि की और सातवें अधिकार में जैनियों में ही पाई जाने वाली तात्त्विक भूलों संबंधी गृहीत मिथ्यात्वादि की चर्चा है।

कुछ लोगों का कहना है कि पाँचवें व छठवें अधिकार में गृहीत मिथ्यात्वादि का और सातवें अधिकार में अगृहीत मिथ्यात्वादि का निरूपण है; क्योंकि उनके अनुसार जैनियों के तो गृहीत मिथ्यात्वादि हो ही नहीं सकते। उनका कहना यह है कि जब कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु जैनियों में होते ही नहीं; तब जैनियों को कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं के निमित्त से होनेवाला गृहीत मिथ्यात्व कैसे हो सकता है ?

उनका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अगृहीत मिथ्यात्व अनादि-कालीन होता है; इसकारण एकेन्द्रियादि पर्यायों में भी पाया जाता है; किन्तु गृहीत मिथ्यात्व कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु के निमित्त से बुद्धिपूर्वक ग्रहण किया जाता है; अत: सैनी पंचेन्द्रियों के ही होता है। सैनी पंचेन्द्रियों में भी विशेष कर मनुष्यों में, मनुष्यों में भी कर्मभूमि के मनुष्यों में ही पाया जाता है।

भले ही उनकी मान्यता के अनुसार जैनियों में कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु न होते हों; पर आज के जैनियों में बुद्धिपूर्वक स्वीकार की गईं तात्त्विक भूलें और देव-शास्त्र-गुरु संबंधी गलत मान्यतायें तो पाई ही जाती हैं। **अरे, भाई ! हम यह क्यों भूल जाते हैं कि जैनियों में भी तो मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि होते हैं। जैनियों में भी ऐसे अनेक मत-मतान्तर हो गये हैं; जिनकी देव-शास्त्र-गुरु संबंधी मान्यताएँ वीतरागता के विरुद्ध हैं। अत: यह कहने में क्या दम है कि जैनियों में देव-शास्त्र-गुरु संबंधी मिथ्या मान्यता नहीं है या कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु नहीं हैं।**

यदि हम और अधिक स्पष्ट करें तो कह सकते हैं कि मुख्यरूप से पाँचवें अधिकार में जैनेतरों के साथ श्वेताम्बर जैनों के, छठवें अधिकार में दिगम्बरों में बीसपंथी दिगम्बरों के और सातवें अधिकार में तेरापंथी दिगम्बरों में पाये जानेवाले गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र का निरूपण है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि पण्डितश्री टोडरमलजी ने किसी को भी नहीं छोड़ा; न श्वेताम्बरों को, न दिगम्बरों को; न बीस पंथियों को, न तेरापंथियों को; सभी की जमकर धुनाई की है।

अरे, भाई ! उन्होंने तो किसी की भी धुनाई नहीं की, उन्होंने तो सभी जीवों पर, सभी जैनियों पर अनंत करुणा करके, उनकी उन गंभीर भूलों की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि जिन भूलों के कारण वे आत्महितकारी सर्वोत्कृष्ट जैनधर्म पाकर भी आत्महित से वंचित हैं, अनंत दुख उठा रहे हैं।

वे तो सच्चे हृदय से यह चाहते थे कि सभी जीव अपनी भूल सुधार कर सन्मार्ग पर लगें और अनंत सुख की प्राप्ति करें। लगभग प्रत्येक अधिकार के अन्त में प्रगट किये गये उनके उद्गारों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है।

उक्त संदर्भ में अपनी उत्कृष्ट भावना व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं

''यहाँ नानाप्रकार के मिथ्यादृष्टियों का कथन किया है। उसका प्रयोजन यह जानना कि उन प्रकारों को पहिचानकर **अपने में ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक्श्रद्धानी होना, औरों के ही ऐसे दोष देख-देखकर कषायी नहीं होना; क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से है। औरों को तो रुचिवान देखें तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करें।**

इसलिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है; सर्वप्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है; क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है।[१]''

ध्यान रहे यह गृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत मिथ्यादृष्टियों को ही होता है। जिनके अगृहीत मिथ्यात्व नहीं है, उनके गृहीत मिथ्यात्व भी नहीं

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२६६-२६७

होता। तात्पर्य यह है कि जिसे गृहीत मिथ्यात्व है, उसे अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है; पर सभी अगृहीत मिथ्यादृष्टियों को गृहीत मिथ्यात्व हो ही यह आवश्यक नहीं है।

अरे, भाई ! यह गृहीत मिथ्यात्व अमूल्य नर भव को बरबाद करनेवाली मनुष्यगति की नई कमाई है।

आश्चर्य तो इस बात का है; जो मनुष्य भव, भव को काटने के काम आ सकता था; वह अमूल्य मनुष्य भव गृहीत मिथ्यात्व के चक्कर में पड़कर स्व-पर के भव बढाने का काम कर रहा है।

यह गृहीत मिथ्यादर्शनादि अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यादर्शनादि को पुष्ट करते हैं।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् तत्त्वार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है' ऐसा कहकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वार्थों के परिज्ञानपूर्वक सम्यक् श्रद्धान को आवश्यक बताया गया है। यही कारण है कि महापण्डित टोडरमलजी इस मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में उनका विवेचन विस्तार से करना चाहते थे।

जीवादि नव तत्त्वार्थों का निरूपण उन्होंने नौवें अधिकार में आरंभ भी किया था; परन्तु हम सभी के दुर्भाग्य से वह लिखा नहीं जा सका।

यद्यपि जीवादि तत्त्वार्थों का विशद विवेचन वे नहीं लिख सके; तथापि मोक्षमार्गप्रकाशक जिस रूप में हमें आज उपलब्ध है, उसमें उन्होंने बहुत विस्तार से यह स्पष्ट कर दिया कि जीवादि पदार्थों को समझने में हमसे किस-किसप्रकार की, क्या-क्या भूलें होती रही हैं।

इन भूलों की चर्चा उन्होंने दो स्थानों पर की है। चौथे अधिकार में अगृहीत मिथ्यादर्शन की अपेक्षा और सातवें अधिकार में गृहीत मिथ्यादर्शन की अपेक्षा। अभी हम चौथे अधिकार में समागत जीवादि तत्त्वार्थों संबंधी भूलों की चर्चा कर रहे हैं।

आत्महितकारी प्रयोजनभूत तत्त्वों का अयथार्थ श्रद्धान ही अगृहीत मिथ्यादर्शन है और इनका यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। अत: सर्वप्रथम प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानना अति आवश्यक है। यही कारण है कि चौथे अधिकार में पण्डितजी प्रयोजनभूत तत्त्वों का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

वे लिखते हैं ''यहाँ कोई पूछे कि प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थ कौन हैं?

समाधान इस जीव को प्रयोजन तो एक यही है कि दु:ख न हो और सुख हो। किसी जीव के अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है। तथा दु:ख का न होना, सुख का होना एक ही है; क्योंकि दु:ख का अभाव वही सुख है और इस प्रयोजन की सिद्धि जीवादिक का सत्य श्रद्धान करने से होती है। कैसे ? सो कहते हैं

प्रथम तो दु:ख करने में आपापर का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यदि आपापर का ज्ञान नहीं हो तो अपने को पहिचाने बिना अपना दु:ख कैसे दूर करे ? अथवा **आपापर को एक जानकर अपना दु:ख दूर करने के अर्थ पर का उपचार करे तो अपना दु:ख दूर कैसे हो ?**

अथवा अपने से पर भिन्न हैं, परन्तु यह पर में अहंकार-ममकार करे तो उससे दु:ख ही होता है। **आपापर का ज्ञान होने पर ही दु:ख दूर होता है। तथा आपापर का ज्ञान जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है; क्योंकि आप स्वयं जीव हैं, शरीरादिक अजीव हैं।**

यदि लक्षणादि द्वारा जीव-अजीव की पहिचान हो तो अपनी और पर की भिन्नता भासित हो; इसलिए जीव-अजीव को जानना।

अथवा जीव-अजीव का ज्ञान होने पर, जिन पदार्थों के अन्यथा श्रद्धान से दु:ख होता था, उनका यथार्थ ज्ञान होने से दु:ख दूर होता है; इसलिए जीव-अजीव को जानना।

तथा दु:ख का कारण तो कर्म बन्धन है और उसका कारण

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

मिथ्यात्वादिक आस्रव हैं। यदि इनको न पहिचाने, इनको दु:ख का मूल कारण न जाने तो इनका अभाव कैसे करे ? और इनका अभाव नहीं करे तो कर्मबंधन कैसे नहीं हों ? इसलिए दु:ख ही होता है। अथवा मिथ्यात्वादिक भाव हैं सो दु:खमय है। यदि उन्हें ज्यों का त्यों नहीं जाने तो उनका अभाव नहीं करे, तब दुखी ही रहे; इसलिए आस्रव को जानना।

तथा समस्त दुख का कारण कर्मबन्धन है। यदि उसे न जाने तो उससे मुक्त होने का उपाय नहीं करे, तब उसके निमित्त से दु:खी हो; इसलिए बन्ध को जानना।

तथा आस्रव का अभाव करना सो संवर है। उसका स्वरूप न जाने तो उसमें प्रवर्तन नहीं करे, तब आस्रव ही रहे, उससे वर्तमान तथा आगामी दु:ख ही होता है; इसलिए संवर को जानना।

तथा कथंचित् किंचित् कर्मबन्ध का अभाव करना उसका नाम निर्जरा है। यदि उसे न जाने तो उसकी प्रवृत्ति का उद्यमी नहीं हो, तब सर्वथा बन्ध ही रहे, जिससे दु:ख ही होता है; इसलिए निर्जरा को जानना।

तथा सर्वथा सर्व कर्मबन्ध का अभाव होना उसका नाम मोक्ष है। यदि उसे नहीं पहिचाने तो उसका उपाय नहीं करे, तब संसार में कर्मबन्ध से उत्पन्न दु:ख को ही सहे; इसलिए मोक्ष को जानना।

इसप्रकार जीवादि सात तत्त्व जानना।

तथा शास्त्रादि द्वारा कदाचित् उन्हें जाने, परन्तु ऐसे ही हैं ऐसी प्रतीति न आयी तो जानने से क्या हो ? इसलिए उनका श्रद्धान करना कार्यकारी है। **ऐसे जीवादि तत्त्वों का सत्य श्रद्धान करने पर ही दु:ख होने का अभावरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। इसलिए जीवादिक पदार्थ हैं, वे ही प्रयोजनभूत जानना।**

तथा इनके विशेष भेद पुण्य-पापादिरूप हैं, उनका भी श्रद्धान प्रयोजनभूत हैं; क्योंकि सामान्य से विशेष बलवान है।

इसप्रकार ये पदार्थ तो प्रयोजनभूत हैं, इसलिए इनका यथार्थ श्रद्धान करने पर तो दु:ख नहीं होता, सुख होता है; और इनका यथार्थ श्रद्धान किए बिना दु:ख होता है, सुख नहीं होता।

तथा इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं, वे अप्रयोजनभूत हैं; क्योंकि उनका यथार्थ श्रद्धान करो या मत करो, उनका श्रद्धान कुछ सुख-दु:ख का कारण नहीं है।[१]''

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की उक्त पंक्तियों से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि अनंत दुखों से मुक्ति के लिए जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तथा पुण्य और पाप इन नौ तत्त्वार्थों को जानना और वे जैसे हैं; उन्हें वैसा ही जानकर श्रद्धान करना ही प्रयोजनभूत है; क्योंकि इन्हें यथार्थ जानकर इनका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है।

मिथ्यादर्शनादि का यह अगृहीत और गृहीत संबंधी विवेचन जिस रूप में और जितने विस्तार से इस मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ में प्राप्त होता है, उस रूप में और उतने विस्तार से इसके पहले उपलब्ध नहीं होता।

यद्यपि इसके बीज आगम में यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरे हुए प्राप्त हो जायेंगे; तथापि मोक्षमार्गप्रकाशक के समान व्यवस्थित रूप में देखने में अभी तक नहीं आये।

अत: यदि हम यह कहें कि यह टोडरमलजी का मौलिक प्रस्तुतीकरण है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

परवर्ती साहित्यकारों ने इनका अनुकरण किया है। विशेषकर पण्डित श्री दौलतरामजी ने अपनी अमर कृति छहढाला में इस प्रस्तुतीकरण का भरपूर उपयोग किया है और मोक्षमार्गप्रकाशक के इस प्रकरण को पद्य के रूप में अति संक्षेप में सशक्त रूप से प्रस्तुत कर दिया है।

पण्डित दौलतरामजी की छहढाला एक ऐसी कृति है, जिसकी पकड़

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-७८-७९

जन-जन तक है और वह न केवल अध्यात्मप्रेमी, अपितु सम्पूर्ण समाज में लगभग सभी को कण्ठस्थ है।

छहढाला के प्रभाव से मिथ्यादर्शनादि का यह अगृहीत-गृहीत संबंधी वर्गीकरण भी सभी के लिए अति परिचित विषय हो गया है।

अत: किसी को ऐसा लगता ही नहीं कि यह वर्गीकरण महापण्डित टोडरमलजी के पूर्व सहज प्राप्त नहीं होता।

पदार्थों का प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूतरूप में वर्गीकरण भी टोडरमलजी की ऐसी विशेषता है कि जो उनके पूर्व देखने को नहीं मिलती। समयसार गाथा ११ व १३ में भूतार्थ और अभूतार्थ की चर्चा अवश्य है, पर वह नयों के संदर्भ में है। कहा गया है कि व्यवहारनय अभूतार्थ हैं और शुद्धनय (निश्चयनय) भूतार्थ हैं। यह भी कहा गया है कि भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं।

'भूतार्थ' पद 'भूत' और 'अर्थ' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'भूतार्थ' पद के उक्त दोनों शब्दों का स्थान परिवर्तन कर दें तो अर्थभूत पद बनेगा। 'अर्थ' शब्द का अर्थ 'प्रयोजन' भी होता है; इसलिए 'भूतार्थ' पद का अर्थ 'प्रयोजनभूत' ही हो जाता है।

यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक में जीवादि प्रयोजनभूत पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा जा रहा है और समयसार में भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। ●

जैनदर्शन में नि:स्वार्थ भाव की भक्ति है। उसमें किसी भी प्रकार की कामना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। जैनदर्शन के भगवान तो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं। वे किसी को कुछ देते नहीं हैं, मात्र सुखी होने का मार्ग बता देते हैं। जो व्यक्ति उनके बताये मार्ग पर चले, वह स्वयं भगवान बन जाता है। अत: जिनेन्द्र भगवान की भक्ति उन जैसा बनने की भावना से ही की जाती है। **आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२१३**

पाँचवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र में प्रतिपादित विषयवस्तु की चर्चा चल रही है। चौथे प्रवचन में चतुर्थ अधिकार में समागत विषयवस्तु की आरंभिक चर्चा हुई; जिसमें संसार के दु:खों के कारण के रूप में अगृहीत मिथ्यादर्शन का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है।

अबतक यह स्पष्ट किया गया है कि जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। अत: सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवादि तत्त्वार्थों को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जीवादि तत्त्वार्थों में तो सम्पूर्ण जगत आ जाता है। जीव में सभी जीव आ गये; अजीव में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी अजीव द्रव्य आ गये। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तथा पुण्य-पाप में जीव की सभी विकारी और अविकारी पर्यायें आ गईं। पुद्गल में भी पुद्गल की अनेक पर्यायें आ गईं। एक तरह से सम्पूर्ण जगत ही आ गया। इतना सब जानना तो केवलज्ञानी के ही हो सकता है। तो क्या सम्यग्दर्शन केवलज्ञान होने के बाद होगा?

इसी प्रश्न के स्पष्टीकरण में ही तो पण्डित टोडरमलजी ने तत्त्वों के साथ 'प्रयोजनभूत' पद का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि यहाँ सभी द्रव्यों को, सभी गुण और पर्यायों के साथ युगपत् जानने की बात नहीं है; यहाँ तो जिन गुण और पर्यायों के साथ जीवादि को जानना आत्महित की दृष्टि से प्रयोजनभूत है, मात्र उन्हें ही जानना है, सबको नहीं।

अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्यात कालाणु इसप्रकार इस लोक में छह प्रकार के अनन्तानंत द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं, प्रत्येक गुण में अनन्तानंत पर्यायें हैं। अनेक द्रव्यों के संयोगरूप अनंत द्रव्य पर्यायें हैं। आगम के आधार से

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इतनी बात तो हमारे मति-श्रुतज्ञान में आ जाती है; पर प्रत्येक द्रव्य और उनके गुणों की किस समय कौन सी पर्याय होगी यह तो केवलज्ञानी ही जानते हैं, जान सकते हैं।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए तो उक्त वस्तुव्यवस्था का आगमानुसार सामान्य ज्ञान ही पर्याप्त है। वह भी, हो तो ठीक, न हो तो भी कोई बात नहीं; पर आत्मा के कल्याण के लिए प्रयोजनभूत तत्त्वों की सामान्य जानकारी अत्यन्त आवश्यक है।

'अग्रहीत मिथ्यादृष्टि जीव इन तत्त्वार्थों के संबंध में क्या जानते हैं, वे इन्हें कैसा मानते हैं और उनकी प्रवृत्ति कैसी होती है' पण्डितजी यहाँ इस बात को विस्तार से समझाते हैं।

यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव, एक अपना आत्मा और अनंत पुद्गल परमाणु के पिण्डरूप शरीर इन सबकी मिली हुई इस मनुष्य पर्याय में अहंबुद्धि (एकत्वबुद्धि) और ममत्वबुद्धि (स्वामित्वबुद्धि) धारण करता है, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि धारण करता है अर्थात् यह मानता है कि बस यही मैं हूँ, मैं ही इस मनुष्य पर्याय का स्वामी हूँ और मैं ही इसका कर्ता-भोक्ता हूँ। इसकी ऐसी मान्यता ही जीव और अजीवतत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान है, जीव-अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

किसी वस्तु के बारे में ऐसा मानना कि 'यह मैं ही हूँ' अहंबुद्धि है, एकत्वबुद्धि है; यह मानना कि 'यह मेरी है' ममत्वबुद्धि है, स्वामित्वबुद्धि है; ऐसा मानना कि 'मैं इसका कर्ता हूँ' कर्तृत्वबुद्धि है और ऐसा मानना कि 'मैं इसका भोक्ता हूँ' भोक्तृत्वबुद्धि है।

यह मनुष्यपर्याय एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी है, जिसके अनंत शेयर हैं। उनमें इस जीव का मात्र एक शेयर है; फिर भी यह स्वयं को कम्पनी का मालिक समझता है; कर्ता-धर्ता समझता है।

यह तो ऐसा ही हुआ कि किसी लाखों शेयर वाली कम्पनी का एक शेयर खरीद कर कोई स्वयं को उसका मालिक समझने लगे, उसका कर्ता-धर्ता समझने लगे तो क्या वह उसका मालिक हो जायेगा, उस

कंपनी का कर्ता-धर्ता हो जायेगा। यदि नहीं तो फिर मैं देह और जीव के पिण्डरूप शरीर का स्वामी या कर्ता-धर्ता कैसे हो सकता हूँ ?

जिसप्रकार उस कंपनी में एक शेयर वाले की कुछ भी नहीं चलती; उसीप्रकार इस मनुष्यदेह पर हमारी भी कुछ नहीं चलती। इस देह को जब जैसा परिणमना होता है, तब वैसी परिणमती है, इसमें हमारा किया कुछ भी नहीं होता। इसके एक बाल पर भी तो हमारी कुछ नहीं चलती। उस बाल को जबतक काला रहना होता है, तबतक काला रहता है और जब सफेद होना होता है, सफेद हो जाता है। जबतक रहना होता है, तबतक हमारे सिर पर सवार रहता है और जब जाना होता है, बिना अनुमति के ही चला जाता है। इसमें हमारी मर्जी से कुछ भी नहीं होता; फिर भी यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव इसमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व धारण करता है। इसकी इसी मान्यता का नाम ही अगृहीत मिथ्यादर्शन है, ऐसा ही जानने का नाम अगृहीत मिथ्याज्ञान और इसकी यह वृत्ति और प्रवृत्ति ही मिथ्याचारित्र है।

यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव शरीर की अपेक्षा ही अन्य वस्तुओं में अपनापन करता है, उनका स्वामी और कर्ता-भोक्ता बनता है। जिनसे यह शरीर उत्पन्न हुआ, उन्हें माता-पिता मानता है; इसके शरीर से जो उत्पन्न हुए हों, उन्हें पुत्र-पुत्री मानता है; जो इस शरीर को रमण कराये, उसे रमणी (पत्नी) मानता है। इस शरीर के उपकारी को मित्र और अपकारी को शत्रु मानता है।

अधिक क्या कहें जितने भी संबंध स्वीकार करता है, वे सब इस शरीर के आधार पर ही स्वीकार करता है। इसप्रकार इस शरीर और अपने को एक मानता है। इसकी यह मान्यता ही इसकी जीव-अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी ने बहुत विस्तार से चर्चा की, जो मूलत: पठनीय है। नमूने के रूप में उसका कुछ अंश प्रस्तुत है

''तथा शरीर के परमाणुओं का मिलना-बिछुड़ना आदि होने से

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

अथवा उनकी अवस्था पलटने से या शरीर के स्कन्ध के खण्ड आदि होने से स्थूल-कृशादिक, बाल-वृद्धादिक अथवा अंगहीनादिक होते हैं और उनके अनुसार अपने प्रदेशों का संकोच-विस्तार होता है; यह सबको एक मानकर मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मेरे इन अंगों का भंग हुआ है इत्यादिरूप मानता है।

तथा शरीर की अपेक्षा गति कुलादिक होते हैं, उन्हें अपना मानकर मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ इत्यादिरूप मानता है। तथा शरीर का संयोग होने और छूटने की अपेक्षा जन्म-मरण होता है; उसे अपना जन्म-मरण मानकर मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा ऐसा मानता है।[१]''

अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि की चर्चा समयसार में भी आई है; किन्तु **महापण्डित टोडरमलजी ने इनके अतिरिक्त भी एक भ्रमबुद्धि की चर्चा की है; जो अन्यत्र देखने में नहीं आती। यह उनका मौलिक चिन्तन है।** यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव शरीर के संदर्भ में कभी तो यह कहता है कि **'मैं गोरा हूँ, कृष हूँ' और कभी कहता है कि मेरा शरीर गोरा है, कृष है इसप्रकार शरीर में कभी अहंबुद्धि करता है और कभी ममत्वबुद्धि करता है; भ्रम में पड़ा है; अत: निर्णय नहीं कर पाता कि शरीर मैं हूँ या शरीर मेरा है। यह उसकी भ्रमबुद्धि है।**

जिनको अत्यन्त अल्पज्ञान है ऐसे एकेन्द्रियादि जीव भी इस अगृहीत मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं और देहपिण्ड में अहंबुद्धि धारण किये रहते हैं।

इस बात को स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि

''इन्द्रियादिक के नाम तो यहाँ कहे हैं, परन्तु इसे तो कुछ गम्य नहीं है। अचेत हुआ पर्याय में अहंबुद्धि धारण करता है।

उसका कारण क्या है? वह बतलाते हैं इस आत्मा को अनादि से इन्द्रियज्ञान है; उससे स्वयं अमूर्तिक है, वह तो भासित नहीं होता; परन्तु शरीर मूर्तिक है, वही भासित होता है। और आतमा किसी को आपरूप

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८१

जानकर अहंबुद्धि धारण करे ही करे, सो जब स्वयं पृथक् भासित नहीं हुआ, तब उनके समुदायरूप पर्याय में ही अहंबुद्धि धारण करता है।[१]''

आत्मा में एक श्रद्धा नाम का गुण है, जिसका काम ही यह है कि वह किसी न किसी में अहंबुद्धि धारण करे ही करे, किसी न किसी में अपनापन स्थापित करे ही करे और इस आत्मा में एक ज्ञानगुण है, जिसका काम स्व-पर को जानना है। जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि जिसे जानने का सामर्थ्य इस जीव में न हो। ध्यान रहे यह श्रद्धा गुण ज्ञान गुण का अनुसरण करता है। अत: ज्ञान में जो जानने में आता है, अथवा ज्ञान जिसे निजरूप से जानता है; श्रद्धा गुण उसी में अपनापन स्थापित कर लेता है, उसी में अहंबुद्धि धारण कर लेता है।

अनादि से इस आत्मा को जो भी जानने में आता रहा है, वह सब इन्द्रियों के माध्यम से ही आता रहा है और इन्द्रियाँ मात्र रूप, रस, गंध और स्पर्शवाले पुद्गल को जानने में ही निमित्त होती हैं।

इस जीव के अत्यन्त नजदीक पौद्गलिक पदार्थ यह शरीर ही है; अत: सदा वही जानने में आता रहता है; यही कारण है कि वह इसमें अपनापन स्थापित कर लेता है।

एक गाय ने अभी-अभी एक बछडे को जन्म दिया। वह बहुत भूखा है; अत: उसे भोजन की तलाश है। यद्यपि वह जानता है कि उसके खाने की समुचित व्यवस्था यहीं-कहीं आसपास ही है तथा वह यह भी जानता है कि उसका भोजन उसकी माँ के स्तनों में है, पर वह अपनी माँ को पहिचानता नहीं है।

यद्यपि उसे गाय, माँ, स्तन आदि शब्दों का ज्ञान नहीं है; तथापि तत्संबंधी भाव का भासन अवश्य है।

जहाँ उसका जन्म हुआ है; वहाँ उसकी माँ के साथ, उसी जाति की अनेक गायें खड़ी हैं। अत: वह किसी भी गाय के पास जाता है, पर कोई

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८१

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

गाय उसे प्रेम से नहीं अपनाती। उसे अपनी माँ की तलाश है, पर करे क्या? क्योंकि उसने अभी तक अपनी माँ की शक्ल नहीं देखी है, जाने तो जाने कैसे ?

वह असमंजस में ही था कि उनमें से एक गाय उसे चाटने लगी तो वह समझ गया कि यही उसकी माँ है और वह उसमें अपना भोजन तलाशने लगा। उसे इतना तो पता था कि यहीं-कहीं माँ के पैरों के बीच ही उसका भोजन है; अत: वह आगे के पैरों के बीच मुँह मारने लगा। आखिर किसी के सहयोग के बिना ही वह सही जगह पर पहुँच गया और दूध पीने लगा।

'जो चाटे, वही माँ है' इस सिद्धान्त के आधार पर उसने अपनी माँ को तलाश लिया। इसीप्रकार **जो पौद्गलिक शरीर इस जीव के ज्ञान में आया; इसने सहज ही उसमें अपनापन स्थापित कर लिया। यही उसकी जीव-अजीव तत्त्व संबंधी भूल है और यही इसका अगृहीत मिथ्या-दर्शन है।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव अनादिकाल से ही देह में अपनापन धारण किये है, उसी में रचा-पचा है, उसी की संभाल में व्यस्त है, उसके लिए सबकुछ करने को तैयार रहता है, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार किये बिना चाहे जो कुछ खाने लगता है।

एक तो इसकी ऐसी वृत्ति और प्रवृत्ति सहज ही है और फिर ऐसी शिक्षा देनेवाले लोग भी सहज मिल जाते हैं कि जो कहते हैं कि 'काया राखे धरम है', 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् शरीर ही एकमात्र धर्म का साधन है' इसलिए इसे संभाल कर रखें।

लोगों की ऐसी बातें सुनकर इसकी अनादिकालीन मिथ्या मान्यता पुष्ट हो जाती है; इसकारण यह गृहीत मिथ्यादृष्टि भी बन जाता है।

सात तत्त्वों को समझने में जिन भूलों की संभावना है; वह एकेन्द्रियादि में कैसे संभव हैं; क्योंकि वे तो सात तत्त्वों के नाम भी नहीं जानते; जान भी नहीं सकते। यह एक ऐसी आशंका है कि जिसका निराकरण महापण्डित

टोडरमलजी जैसे प्रतिभाशाली विद्वान ही कर सकते थे और उन्होंने स्वयं शंका उपस्थित कर इसका सोदाहरण समाधान प्रस्तुत किया।

'ज्ञान का विकास हो जाने के बाद भी इसका उक्त अज्ञान समाप्त क्यों नहीं होता' इस संदर्भ में भी उन्होंने चिन्तन किया था; जिसे वे इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं

''तथा अपने को और शरीर को निमित्त-नैमित्तिक संबंध बहुत हैं, इसलिए भिन्नता भासित नहीं होती। और जिस विचार द्वारा भिन्नता भासित होती है, वह मिथ्यादर्शन के जोर से हो नहीं सकता; इसलिए पर्याय में ही अहंबुद्धि पायी जाती है।[१]''

हम निरन्तर स्वाध्याय करते हैं, प्रवचन सुनते हैं; हमारे क्षयोपशम ज्ञान में भी यह बात आ जाती है कि आत्मा इन शरीरादि तथा स्त्री-पुत्रादि संयोगों से भिन्न है, इन संयोगी पदार्थों पर इस आत्मा का रंचमात्र भी अधिकार नहीं है, इनमें कुछ भी फेरफार करना संभव नहीं है, इनका उपभोग करना भी संभव नहीं है; क्योंकि इनके और आत्मा के बीच में अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है। तत्त्वचर्चा में भी हम ऐसी ही चर्चा करते हैं; प्रवचन के माध्यम से दूसरों को समझाते भी हैं; तथापि प्रवचन या चर्चा के बीच में ही जब कोई हमसे पूछता है कि तुम्हारी ऊँचाई कितनी है, वजन कितना है तो हम तत्काल बोल उठते हैं कि मेरी ऊँचाई ५ फीट ९ इंच है, वजन ७२ किलो है।

उस समय भी हमें यह होश नहीं रहता कि यह ऊँचाई और वजन तो शरीर का है, मेरा नहीं; क्योंकि हमारे अन्तर में अगृहीत मिथ्यात्व के कारण देह में एकत्वबुद्धि अत्यन्त गहराई से समाहित है।

बार-बार टोकने पर हम कदाचित् सावधान भी हो जावें और कहने लगे कि मुझमें वजन कहाँ है ? मैं तो चेतन तत्त्व हूँ, उसमें वजन होता ही नहीं; क्योंकि वजन तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय है; फिर भी अन्तर में शरीर

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८२

के प्रति एकत्व-ममत्व बना रहता है। यह सब अगृहीत मिथ्यात्व के जोर का परिणाम है। जबतक यह आत्मा अंतर्मुखी पुरुषार्थ द्वारा देह में विद्यमान देह से भिन्न भगवान आत्मा को जान नहीं लेता, पहिचान नहीं लेता, अनुभव नहीं कर लेता, आत्मानुभूति से सम्पन्न नहीं हो जाता; तबतक देहादि में एकत्व-ममत्वरूप अगृहीत मिथ्यात्व विद्यमान रहता ही है।

जिसका जिसमें एकत्व होता है, वह उसके प्रति विशेषरूप से सजग रहता है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए एक प्रयोग किया गया। दश लोगों को एक ही मात्रा की नींद की गोली खिलाकर सुला दिया गया।

जब वे गहरी नींद में चले गये तो सभी के कान में रमेशचन्द नाम को एक से मन्द स्वर में सुनाया गया। तब रमेशचन्द नाम का व्यक्ति तो जाग गया, पर शेष सभी सोते रहे। फिर उसी मन्द स्वर में सभी को सुरेशचन्द नाम को सुनाया गया तो सुरेशचन्द तो जाग गया, पर शेष सोते रहे; वह रमेशचन्द भी सोता रहा, जो रमेशचन्द शब्द सुनकर जाग गया था।

ऐसा ही प्रत्येक के साथ किया गया, पर सभी अपना-अपना नाम सुनकर जागे, अन्य किसी का नाम सुनकर कोई नहीं जागा।

इसका अर्थ यह हुआ कि जिसका जिस नाम के साथ एकत्व था, अपनापन था; वह उस नाम के प्रति नींद में भी सतर्क था, सावधान था और जिसके साथ एकत्व नहीं था, उसके प्रति सहज उदासीनता थी। तात्पर्य यह है कि **जिसके साथ हमारा अपनापन होता है, एकत्व होता है, ममत्व होता है; उसके प्रति सावधानी-जागृति सोते-जागते निरन्तर बनी रहती है।**

उसके बाद सभी को उतने ही मंद स्वर में 'आत्मा' शब्द सुनाया गया, पर कोई नहीं जागा। आवाज को थोड़ा तेज किया गया, फिर भी कोई नहीं जागा और अधिक तेज करने पर भी कोई नहीं जागा। इससे सिद्ध हो गया कि दिन-रात आत्मा की चर्चा करनेवाले उन लोगों में से किसी के भी हृदय में आत्मा के प्रति अपनापन नहीं है, एकत्व नहीं है,

ममत्व नहीं है, जागृति नहीं है, सावधानी नहीं है। इससे सहज ही सिद्ध होता है कि वे सभी देहादि में एकत्वबुद्धिवाले अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव हैं; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवों को तो आत्मा के प्रति सतत् सावधानी रहती है, जागृति रहती है।

इस अज्ञानी जीव को जैसा एकत्व-ममत्व मनुष्यरूप असमानजातीय द्रव्यपर्याय में है; वैसा ही एकत्व-ममत्व जबतक स्वयं अपने आत्मा में नहीं आता, स्वयं में नहीं आता; तबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं है। **आत्मानुभूतिपूर्वक स्वयं में, स्वयं के आत्मा में एकत्व-ममत्व आये और श्रद्धा व ज्ञान में निरन्तर बना रहे, कभी-कभी उपयोग की एकाग्रतारूप ध्यान में भी आये तो समझ लेना कि हम सम्यग्दृष्टि हैं।**

यद्यपि अनुभूति सदा नहीं रहती; तथापि ज्ञानियों के ज्ञान-श्रद्धान में आत्मा सदा बना रहता है।

आत्मा की प्राप्ति का एकमात्र यही उपाय है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति की भी यही प्रक्रिया है। आत्मा की प्राप्ति और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति एक ही बात है। **जब द्रव्य की ओर से बात करते हो तो आत्मा की प्राप्ति कहते हैं और जब पर्याय की ओर से बात करते हैं तो उसी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति कहते हैं।**

यह बात सुनिश्चित ही है कि जबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती; तबतक सभी जीव अगृहीत मिथ्यादृष्टि ही हैं और उनके नियम से असमानजातीयद्रव्यपर्यायरूप मनुष्यादि अवस्थाओं में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि, भोक्तृत्वबुद्धि या भ्रमबुद्धि रहती ही है।

इसमें कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु निमित्त भी नहीं होते; क्योंकि किसी भी व्यक्ति ने हमें यह नहीं समझाया कि मैं देह में एकत्व-ममत्व करूँ और न हमने किसी के कहने से देहादि में एकत्व-ममत्व स्थापित किया है।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

यदि कोई समझाता भी है तो वह हमारी देह में एकत्वबुद्धिरूप अनादिकालीन मिथ्या मान्यता को मात्र पुष्ट करता है, पैदा नहीं करता।

उसके कहने पर यदि हम अपनी देह में एकत्वबुद्धिरूप पुरानी मान्यता को दृढ करते हैं तो फिर अगृहीत मिथ्यादृष्टि के साथ-साथ गृहीत मिथ्यादृष्टि भी हो जाते हैं।

प्रश्न आप कहते हैं कि अगृहीत मिथ्यात्व में कोई निमित्त नहीं होता; वह तो अपनी उपादानगत योग्यता से स्वयं होता है और अनादिकाल से है। क्या यह ठीक है ? तथा उत्पन्नध्वंसी पर्याय अनादि कैसे हो सकती है?

उत्तर यह हमने कब कहा कि अगृहीत मिथ्यादर्शन में कोई निमित्त नहीं होता। **हम तो यह कहते हैं कि इसमें कुदेवादि बाह्य निमित्त नहीं होते। अगृहीत मिथ्यात्व में भी मिथ्यात्व कर्म का उदयरूप अंतरंग निमित्त तो है ही।**

इसीप्रकार अगृहीत मिथ्यात्व भी प्रतिसमय नया-नया ही उत्पन्न होता है; पर संतति की अपेक्षा अनादि है और अभव्यों की अपेक्षा अनंतकाल तक रहेगा; क्योंकि जिनवाणी में एक अनादिनित्यपर्यायार्थिकनय भी तो है; जिसकी अपेक्षा पर्याय अनादिनिधन भी होती है।

उक्त सम्पूर्ण चर्चा अगृहीत मिथ्यादृष्टि की, जीव-अजीव तत्त्वों के संबंध में हुई भूलों की हो रही है। यद्यपि जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य अत्यन्त भिन्न हैं; तथापि एकक्षेत्रावगाह संबंध देखकर अगृहीत मिथ्यादृष्टि दोनों को एक ही मान लेता है और उनके मिले हुए रूप में अपना अपनापन और स्वामित्व स्थापित कर लेता है। यही उसकी जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व के संबंध में भूल है।

अब आस्रवतत्त्व सबंधी भूल की चर्चा करते हैं। **मोह-राग-द्वेषरूप भाव ही मुख्यरूप से आस्रवभाव हैं। यद्यपि ये आस्रवभाव आत्मा को अनन्त दुःख देनेवाले हैं; तथापि यह उनमें भी शुभ-अशुभ का भेद करके शुभास्रव को सुखदायी मानने लगता है।**

छहढाला में साफ-साफ लिखा है कि

रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।

ये रागादिभावरूप आस्रवभाव दुःख देनेवाले हैं यद्यपि यह बात अत्यन्त प्रगट है, स्पष्ट है; तथापि यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव उन रागादि भावों का सेवन करते हुए आनन्द का अनुभव करता है। आस्रव भावों में इसकी यह सुखबुद्धि अनादि से ही है। इसलिए यह अगृहीत मिथ्यादर्शन है।

आस्रवभाव सबंधी विपरीत मान्यता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि

''तथा इस जीव को मोह के उदय से मिथ्यात्व-कषायादिकभाव होते हैं, उनको अपना स्वभाव मानता है, कर्मोपाधि से हुए नहीं जानता। दर्शन-ज्ञान उपयोग और ये आस्रवभाव इनको एक मानता है; क्योंकि इनका आधारभूत तो एक आत्मा है और इनका परिणमन एक ही काल में होता है; इसलिए इसे भिन्नपना भासित नहीं होता और भिन्नपना भासित होने का कारण जो विचार है, सो मिथ्यादर्शन के बल से हो नहीं सकता।

तथा ये मिथ्यात्व-कषायभाव आकुलता सहित हैं; इसलिए वर्तमान दुःखमय हैं और कर्मबंध के कारण हैं; इसलिए आगामी काल में दुःख उत्पन्न करेंगे ऐसा उन्हें नहीं मानता और भला जान इन भावोंरूप होकर स्वयं प्रवर्तता है।

तथा वह दुःखी तो अपने इन मिथ्यात्व एवं कषायभावों से होता है और वृथा ही औरों को दुःख उत्पन्न करनेवाला मानता है। जैसे दुखी तो मिथ्याश्रद्धान से होता है, परन्तु अपने श्रद्धान के अनुसार जो पदार्थ न प्रवर्ते, उसे दुःखदायक मानता है।

तथा दुःखी तो क्रोध से होता है, परन्तु जिससे क्रोध किया हो, उसको दुःखदायक मानता है। दुःखी तो लोभ से होता है, परन्तु इष्ट वस्तु की अप्राप्ति को दुःखदायक मानता है इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८२

यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव आत्मस्वभाव को भूलकर शुभबंध के फल में राग करता है और अशुभबंध के फल में द्वेष करता है। इसप्रकार राग-द्वेष करता हुआ निरन्तर दु:खी रहता है। कर्मफलचेतना अर्थात् कर्मों के उदय को भोगते रहना ही इसकी नियति है।

बंधतत्त्व की भूल के संबंध में पण्डितजी लिखते हैं

''तथा इन आस्रवभावों से ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होता है। उनका उदय होने पर ज्ञान-दर्शन की हीनता होना, मिथ्यात्व-कषायरूप परिणमन होना, चाहा हुआ न होना, सुख-दु:ख का कारण मिलना, शरीरसंयोग रहना, गति-जाति-शरीरादिक का उत्पन्न होना, नीच-उच्च कुल का पाना होता है। इनके होने में मूलकारण कर्म है, उसे यह पहिचानता नहीं है, क्योंकि वह सूक्ष्म है, इसे दिखायी नहीं देता; तथा वह इसको इन कार्यों का कर्त्ता दिखायी नहीं देता; इसलिए **इनके होने में या तो अपने को कर्त्ता मानता है या किसी और को कर्त्ता मानता है। तथा अपना या अन्य का कर्त्तापना भासित न हो तो मूढ होकर भवितव्य को मानता है।**

इसप्रकार बन्धतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है।[१]''

संवर और निर्जरासंबंधी भूल को स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''तथा अनादि से इस जीव को आस्रवभाव ही हुआ है, संवर कभी नहीं हुआ; इसलिए संवर का होना भासित नहीं होता। **संवर होने पर सुख होता है, वह भासित नहीं होता। संवर से आगामी काल में दु:ख नहीं होगा, वह भासित नहीं होता। इसलिए आस्रव का तो संवर करता नहीं है और उन अन्य पदार्थों को दु:खदायक मानता है,** उन्हीं के न होने का उपाय किया करता है; परन्तु वे अपने आधीन नहीं हैं। वृथा ही खेदखिन्न होता है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८३

तथा बन्ध का एकदेश अभाव होना सो निर्जरा है। जो बन्ध को यथार्थ नहीं पहिचाने उसे निर्जरा का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो ?

जिसप्रकार भक्षण किये हुए विष आदिक से दु:ख का होना न जाने तो उसे नष्ट करने के उपाय को कैसे भला जाने ? उसीप्रकार **बन्धनरूप किये कर्मों से दु:ख होना न जाने तो उनकी निर्जरा के उपाय को कैसे भला जाने ?**[१]''

सम्पूर्ण कर्मबंध का और सभी प्रकार के लौकिक सुख-दुखों का अभाव मोक्ष है। अगृहीत मिथ्यादृष्टि ऐसे मोक्ष को तो पहचानता नहीं है और लौकिक अनुकूलताओं में ही सुख की खोज किया करता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के १९ पृष्ठों के चतुर्थ अधिकार में समागत अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संबंधी सम्पूर्ण विषयवस्तु को पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की दूसरी ढाल में मात्र ८ छन्दों अर्थात् १६ पंक्तियों में समाहित कर लिया है।

थोड़े में बहुत कह देने की शक्ति अर्थात् भाषा की समासशक्ति जैसी दौलतरामजी में है, वैसी अन्यत्र देखना दुर्लभ है। पण्डित दौलतरामजी ने अपनी बात पद्य में रखी; परन्तु टोडरमलजी ने इस बात के लिए गद्य को चुना; क्योंकि वे **अपनी बात को तर्क की कसौटी पर कस कर प्रस्तुत करना चाहते थे, आगम प्रमाणों के साथ प्रस्तुत करना चाहते थे, वे अपनी बात को उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट करना चाहते थे; जो गद्य के माध्यम से ही संभव था; क्योंकि पद्य तर्कों, उदाहरणों और आगम के उद्धरणों के भार को बर्दाश्त नहीं कर सकता।**

पद्य में छन्द, अलंकार, अक्षर, मात्रा आदि न जाने कितनी सीमाओं में बंधना पड़ता है; उसमें खुलकर खेलने की आजादी नहीं है। यही कारण है कि टोडरमलजी ने गद्य में लिखा।

पण्डित दौलतरामजी की वे पंक्तियाँ इसप्रकार हैं

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८३

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चरण-वश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मरण।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन, तिन संक्षेप कहूँ बखान।।१।।
जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधै तिन माहिं विपर्ययत्व।
चेतन को है उपयोग रूप, बिनमूरत चिन्मूरत अनूप।।२।।
पुद्गल-नभ-धर्म-अधर्म-काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान।।३।।
मैं सुखी-दुखी मैं रंक-राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।।४।।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट ये दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन।।५।।
शुभ-अशुभ बंध के फल मँझार, रति-अरति करै निजपद विसार।
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान।।६।।
रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान।।७।।
इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानों मिथ्याचरित्त।
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह।।८।।

इस जीव ने प्रथम ढाल में निरूपित संसार में परिभ्रमण करते हुए जन्म-मरण के जो अनन्त दुःख भोगे हैं, वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर ही भोगे हैं। इसलिए इन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को अच्छी तरह जानकर छोड़ देना चाहिए। तुम ध्यान से सुनो ! मैं उसका वर्णन संक्षेप में करता हूँ।

अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों के संबंध में विपरीत श्रद्धान करता है। चेतन जीव का स्वरूप उपयोगरूप है, अमूर्तिक है और यह चैतन्यमूर्ति आत्मा अनुपम पदार्थ है। इस आत्मा का स्वभाव पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल से भिन्न है।

यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव उक्त बात को तो जानता नहीं है और

इसके विपरीत जीव और पुद्गलमयी देह को एक ही मानता हुआ देह से ही अपनी पहिचान करता है, कराता है।

अनुकूल संयोग मिलने पर स्वयं को सुखी मानता है, प्रतिकूल संयोगों के मिलने पर दुखी मानता है, बाह्य संपत्ति की कमी से अपने को रंक (गरीब) और इसके होने पर स्वयं को रावराजा मानने लगता है। कहता है कि मेरे पास अपार धन है, विशाल घर है, गाय-भैंस आदि हैं और मेरा प्रभाव भी सर्वत्र है, मेरे पुत्र हैं, पत्नी है, मैं बलवान हूँ, सुन्दर हूँ और प्रवीण हूँ तथा कभी कहने लगता है कि मैं बलहीन हूँ, दीन-हीन हूँ, कुरूप हूँ और मूर्ख हूँ।

इस अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव की उक्त मान्यतायें सभी संयोगों पर आधारित हैं।

इसके आगे की बात यह है कि अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव शरीर उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति और शरीर के नष्ट होने पर अपना नाश मानता है। तात्पर्य यह है कि पौद्गलिक शरीर और अपने आत्मा को एक माननेवाला यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव न तो जीव को सही रूप में जानता है और न अजीव को। इसप्रकार यह इसकी जीव और अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

आत्मा के विकारी भाव रूप रागादि भाव हैं, जो प्रगट रूप से दुख देनेवाले हैं; उनका ही सेवन करता है और उनसे स्वयं को सुखी मानता है यह इस अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव की आस्रव तत्त्व संबंधी भूल है।

अपने सुखस्वरूप रूप को भूलकर शुभबंध के फल से प्रीति करता है और अशुभबंध के फल में अप्रीति करता है। यह इसकी बंधतत्त्व के संबंध में की गई भूल है।

जो ज्ञान-वैराग्य आत्मा का हित करनेवाले हैं; उन्हें स्वयं को कष्ट देनेवाला मानता है। यह इसकी संवर तत्त्व संबंधी भूल है।

स्वयं की शक्ति को भूलकर, खोकर इच्छाओं को न रोकना ही इसकी

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

निर्जरा तत्त्व के संबंध में की गई भूल है। और अन्त में आकुलता रहित जो कल्याण स्वरूप मुक्ति है, उसे नहीं जानना ही मोक्षतत्त्व संबंधी भूल है।

उक्त भूलों सहित जो भी ज्ञान-श्रद्धान है, वे ही दुखदायी अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याश्रद्धान है।

इन अगृहीत मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के साथ होनेवाली पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति ही अगृहीत मिथ्याचारित्र है।

इसप्रकार यह वर्णन अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र का हुआ। अब इसके बाद गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र का वर्णन करते हैं।

अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व के जोर से शरीर और स्त्री-पुत्रादि संयोगों में एकत्व-ममत्व और रागादि भावों में सुखबुद्धि, उपादेयबुद्धि इतनी गहराई तक समाहित है कि अनेक विपरीत प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी नहीं टूटती।

अपने पुत्र के दुर्व्यवहार से नाराज होकर सेठजी ने समाचार-पत्रों में छपवा दिया कि मेरे पुत्र से अब मेरा कोई संबंध नहीं है। उससे जो भी व्यक्ति लेन-देन करेगा, उसकी जिम्मेदारी उसी की है, मेरी नहीं है।

फिर भी वे समय-समय पर इस बात पर दु:ख प्रगट करते रहते हैं। कहते हैं कि मुझे इस बात का बहुत दु:ख है कि मेरी संतान नालायक है।

जब उन्हें यह याद दिलाया जाता है कि आपने तो समाचार-पत्रों में निकाल दिया कि उससे अब आपका कोई संबंध नहीं है; तब वे कहते हैं कि अखबार में निकाल देने से क्या होता है, आखिर है तो वह मेरा बेटा ही। यह एकत्वबुद्धि की पकड़ है, इतनी मजबूत है कि टूटती ही नहीं।

अरे, भाई ! यह पकड़ तो तत्त्वाभ्यास से टूटती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। **परपदार्थों और रागादि विकारीभावों में अनादि-कालीन एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धिरूप अगृहीत मिथ्या-दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही वास्तविक रोग है, संसार का मूलकारण है।** ●

छठवाँ प्रवचन

पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित मोक्षमार्गप्रकाशक नामक ग्रन्थराज में प्रतिपादित विषयवस्तु की चर्चा चल रही है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जैन वाङ्मय है। यह सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को अपने में समेट लेने का प्रयास था; पर खेद है यह ग्रन्थराज पूर्ण न हो सका।

यदि यह पूर्ण हो गया होता तो यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय कहीं एक जगह सरल, सुबोध जनभाषा में देखना हो तो मोक्षमार्गप्रकाशक को देख लीजिये।

अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्वता के लिए प्रसिद्ध है।

इसके चौथे अधिकार में समागत विषयवस्तु की चर्चा चल रही है; जिसमें अभीतक अगृहीत मिथ्यादर्शन का स्वरूप स्पष्ट किया जा चुका है। अब अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र की चर्चा करना है।

यद्यपि छहढाला में समागत पंक्तियों में समागत अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र की सामान्य बात हुई है; तथापि उसकी जो विशेष चर्चा मोक्षमार्गप्रकाशक में है; उसे अब स्पष्ट करना है।

अगृहीत मिथ्यादर्शन और अगृहीत मिथ्याज्ञान में मात्र श्रद्धान और ज्ञान का ही अन्तर है; क्योंकि देहादि को अपना मानना अगृहीत मिथ्यादर्शन और देहादि को ही अपना जानना अगृहीत मिथ्याज्ञान है। **मुक्तिमार्ग में प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वार्थों का विपरीत श्रद्धान अगृहीत मिथ्यादर्शन है और उन्हीं का विपरीत ज्ञान अगृहीत मिथ्याज्ञान है। इसलिए जो विवेचन अगृहीत मिथ्यादर्शन के बारे में किया गया है; उसको अगृहीत मिथ्याज्ञान पर भी घटित कर लेना चाहिए।**

जिन लोगों को जानने और मानने में अथवा ज्ञान और श्रद्धान में अन्तर दिखाई नहीं देता; उन्हें तो ऐसा प्रश्न उठेगा ही कि इनमें क्या अन्तर है ?

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

ध्यान रहे यहाँ जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों के संदर्भ में सम्यक् एवं मिथ्या ज्ञान-श्रद्धान से ही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नाम पाता है; अन्य अप्रयोजनभूत लौकिक जानकारी से कोई लेना-देना नहीं है। सम्यग्दृष्टि का सभी ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और मिथ्यादृष्टि का सभी ज्ञान मिथ्याज्ञान है; क्योंकि ज्ञान में सम्यक्पना सम्यक्श्रद्धान से आता है।

पुत्रादि या किसी अन्य व्यक्ति के संकट में साथ न देने पर यदि कोई कहता है कि आज मैंने जान लिया है कि कोई किसी का नहीं है।

यद्यपि उसका यह कथन तात्त्विक दृष्टि से सत्य ही है; तथापि वह द्वेष से कह रहा है; अत: वह सम्यग्ज्ञानी नहीं है।

पुत्रादि की जरा-सी अनुकूलता दिख जाने पर उसे यह कहते भी देर नहीं लगेगी कि आखिर समय पर तो अपने लोग ही काम आते हैं। कहा तो यहाँ तक जाता है कि

'खोटा बेटा, खोटा दाम, समय पड़े पर आवे काम।'

सम्यग्ज्ञानी भी यही कहता है कि कोई किसी का नहीं है, तथापि उसका यह निर्णय तत्त्वज्ञान के आधार पर लिया गया अकाट्य निर्णय है; अत: उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

प्रयोजनभूत तत्त्व जो अपना त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा, उसमें एकत्वबुद्धि पूर्वक यह जानना कि 'यह मैं ही हूँ' इसका नाम सम्यग्ज्ञान है।

अपने आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि पूर्वक यह जानना कि 'ये मैं हूँ' या 'ये मेरे हैं' 'मैं इनका कर्ता-भोक्ता हूँ' इसका नाम ही अगृहीत मिथ्याज्ञान है।

ऐसे मिथ्यादर्शन एवं मिथ्याज्ञान सहित जो राग-द्वेषमय प्रवृत्ति पाई जाती है, पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति पाई जाती है; वह अगृहीत मिथ्याचारित्र है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं में पाई जानेवाली विषयों की प्रवृत्ति मिथ्या-चारित्र नहीं कहलाती; उसे असंयम कहते हैं।

अपने भगवान आत्मा को छोड़कर कोई भी पदार्थ न हमें इष्ट है और न अनिष्ट है, न कोई सुखदायक है और न कोई दुखदायक है; वे तो मात्र

हमारे ज्ञान के ज्ञेय हैं, मात्र जानने में आते हैं। जो भी परपदार्थ जानने में आते हैं, उनमें से हम कुछ को इष्ट जानकर, इष्ट मानकर, उनसे राग करने लगते हैं और कुछ पदार्थों को अनिष्ट जानकर, अनिष्ट मानकर उनसे द्वेष करने लगते हैं। उन **परपदार्थों को इष्टानिष्ट मानना अगृहीत मिथ्यादर्शन है, इष्टानिष्ट जानना अगृहीत मिथ्याज्ञान है और इष्टानिष्ट जान-मान कर उनसे राग-द्वेष करना, पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति अगृहीत मिथ्या-चारित्र है।**

जब हम किसी वस्तु को इष्ट मानने लगते हैं या किसी व्यक्ति को मित्र मानने लगते हैं तो उनसे सहज ही राग हो जाता है और जब हम किसी वस्तु को अनिष्ट मानने लगते हैं या किसी व्यक्ति को शत्रु मानने लगते हैं तो उनसे सहज ही द्वेष हो जाता है। **विपरीत मान्यतापूर्वक किये गये ये राग-द्वेष ही अगृहीत मिथ्याचारित्र है।**

मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली यह राग-द्वेष की परम्परा असीमित विस्तारवाली है; इसलिए अनन्त है, अनन्तानुबंधी है।

जिन परपदार्थों को हम इष्ट जानते-मानते हैं, उनसे राग करते हैं और उनसे द्वेष करनेवालों से द्वेष करने लगते हैं अथवा उनसे राग करनेवालों से राग करने लगते हैं। इसीप्रकार जिन परपदार्थों को हम अनिष्ट जानते-मानते हैं, उनसे द्वेष करते हैं और उनसे द्वेष करनेवालों से राग करने लगते हैं अथवा उनसे राग करनेवालों से द्वेष करने लगते हैं। इसप्रकार की परम्परा का कोई अन्त नहीं है; अत: यह अनंत है, अनंतानुबंधी है।

यह बात तो लोक में प्रसिद्ध ही है कि 'शत्रु का शत्रु मित्र होता है और मित्र का शत्रु शत्रु होता है। इसीप्रकार मित्र का मित्र मित्र होता है और शत्रु का मित्र शत्रु होता है। इसको नीति या राजनीति माननेवाले लोग अनंतानुबंधी कषायवाले लोग हैं; क्योंकि इस परम्परा को आप चाहे जितना बढा सकते हैं। इसके अनुसार तो न केवल मित्र, वरन् शत्रु भी अनंत हो जाते हैं। जिसके मित्र व शत्रु अनंत हों, उसकी आकुलता भी अनंत ही होगी। ऐसे लोग अनंतदुखी लोग हैं।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

'यह राग-द्वेष की परम्परा अगृहीत मिथ्यादृष्टियों में किसप्रकार प्रवर्तती है' इसे स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''प्रथम तो इस जीव को पर्याय में अहंबुद्धि है सो अपने को और शरीर को एक जानकर प्रवर्तता है। तथा इस शरीर में अपने को सुहाये ऐसी इष्ट अवस्था होती है, उसमें राग करता है; अपने को न सुहाये ऐसी अनिष्ट अवस्था होती है, उसमें द्वेष करता है। तथा शरीर की इष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्य पदार्थों में तो राग करता है और उसके घातकों में द्वेष करता है। तथा शरीर की अनिष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्य पदार्थों में तो द्वेष करता है और उनके घातकों में राग करता है।

तथा इनमें जिन बाह्य पदार्थों से राग करता है, उनके कारणभूत अन्य पदार्थों में राग करता है और उनके घातकों में द्वेष करता है। तथा जिन बाह्य पदार्थों से द्वेष करता है, उनके कारणभूत अन्य पदार्थों में द्वेष करता है और उनके घातकों में राग करता है। तथा इनमें भी जिनसे राग करता है, उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में राग-द्वेष करता है। तथा जिनसे द्वेष है, उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में द्वेष व राग करता है।

इसीप्रकार राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है।

तथा कितने ही बाह्य पदार्थ शरीर की अवस्था के कारण नहीं है, उनमें भी राग-द्वेष करता है। जैसे गाय आदि को बच्चों से कुछ शरीर का इष्ट नहीं होता, तथापि वहाँ राग करते हैं और कुत्ते आदि को बिल्ली आदि से कुछ शरीर का अनिष्ट नहीं होता, तथापि वहाँ द्वेष करते हैं।

तथा कितने ही वर्ण, गंध, शब्दादिक के अवलोकनादि से शरीर का इष्ट नहीं होता, तथापि उनमें राग करता है। कितने ही वर्णादिक के अवलोकनादिक से शरीर को अनिष्ट नहीं होता, तथापि उनमें द्वेष करता है। इसप्रकार भिन्न बाह्य पदार्थों में राग-द्वेष होता है।

तथा इनमें भी जिनसे राग करता है, उनके कारण और घातक अन्य

पदार्थों में राग व द्वेष करता है। और जिनसे द्वेष करता है, उनके कारण और घातक अन्य पदार्थों में द्वेष व राग करता है।

इसीप्रकार यहाँ भी राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है।''

अगृहीत मिथ्यादृष्टियों में पाई जानेवाली यह राग-द्वेष की अनंत परम्परा सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्यों पर घटित करके स्पष्ट की है; क्योंकि एकेन्द्रियादि के तो मन के अभाव में उपयोग इतना लम्बाना संभव ही नहीं होता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे अगृहीत मिथ्यादृष्टि नहीं हैं। अगृहीत मिथ्यादृष्टियों में तो वे हैं ही, पर उनकी कषायों की अनंतता केवलज्ञानगम्य है।

अन्य पदार्थों में इष्टानिष्ट की कल्पना के संदर्भ में पण्डितजी लिखते हैं

''जो अपने को सुखदायक उपकारी हो उसे इष्ट कहते हैं; अपने को दु:खदायक अनुपकारी हो उसे अनिष्ट कहते हैं। लोक में सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के ही कर्ता हैं, कोई किसी को सुख-दु:खदायक, उपकारी-अनुपकारी है नहीं। यह जीव ही अपने परिणामों में उन्हें सुखदायक उपकारी मानकर इष्ट जानता है अथवा दु:खदायक अनुपकारी जानकर अनिष्ट मानता है; क्योंकि एक ही पदार्थ किसी को इष्ट लगता है, किसी को अनिष्ट लगता है।

जैसे जिसे वस्त्र न मिलता हो, उसे मोटा वस्त्र इष्ट लगता है और जिसे पतला वस्त्र मिलता है, उसे वह अनिष्ट लगता है। सूकरादि को विष्टा इष्ट लगती है, देवादि को अनिष्ट लगती है। किसी को मेघवर्षा इष्ट लगती है, किसी को अनिष्ट लगती है इसप्रकार अन्य जानना।

तथा इसीप्रकार एक जीव को भी एक ही पदार्थ किसी काल में इष्ट लगता है, किसी काल में अनिष्ट लगता है। तथा यह जीव जिसे मुख्यरूप से इष्ट मानता है, वह भी अनिष्ट होता देखा जाता है इत्यादि जानना।

जैसे शरीर इष्ट है, परन्तु रोगादि सहित हो, तब अनिष्ट हो जाता है; पुत्रादिक इष्ट हैं, परन्तु कारण मिलने पर अनिष्ट होते देखे जाते हैं

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इत्यादि जानना। तथा यह जीव जिसे मुख्यरूप से अनिष्ट मानता है, वह भी इष्ट होता देखते हैं। जैसे गाली अनिष्ट लगती है, परन्तु ससुराल में इष्ट लगती है। इत्यादि जानना।

इसप्रकार पदार्थ में इष्ट-अनिष्टपना है नहीं। यदि पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना होता तो जो पदार्थ इष्ट होता, वह सभी को इष्ट ही होता और जो अनिष्ट होता, वह अनिष्ट ही होता; परन्तु ऐसा है नहीं। यह जीव कल्पना द्वारा उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है, सो यह कल्पना झूठी है।

तथा पदार्थ सुखदायक उपकारी या दु:खदायक अनुपकारी होता है सो अपने आप नहीं होता, परन्तु पुण्य-पाप के उदयानुसार होता है। जिसके पुण्य का उदय होता है, उसको पदार्थों का संयोग सुखदायक उपकारी होता है और जिसके पाप का उदय होता है उसे पदार्थों का संयोग दु:खदायक-अनुपकारी होता है। ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं।

किसी को स्त्री-पुत्रादिक सुखदायक हैं, किसी को दु:खदायक हैं; किसी को व्यापार करने से लाभ है, किसी को नुकसान है; किसी के शत्रु भी दास हो जाते हैं; किसी के पुत्र भी अहितकारी होता है। इसलिए जाना जाता है कि पदार्थ अपने आप इष्ट-अनिष्ट नहीं होते, परन्तु कर्मोदय के अनुसार प्रवर्तते हैं।

जैसे किसी के नौकर अपने स्वामी के कहे अनुसार किसी पुरुष को इष्ट-अनिष्ट उत्पन्न करें तो वह कुछ नौकरों का कर्तव्य नहीं है, उनके स्वामी का कर्तव्य है। कोई नौकरों को ही इष्ट-अनिष्ट माने तो झूठ है।

उसीप्रकार कर्म के उदय से प्राप्त हुए पदार्थ कर्म के अनुसार जीव को इष्ट-अनिष्ट उत्पन्न करें तो वह कोई पदार्थों का कर्तव्य नहीं है, कर्म का कर्तव्य है। यदि पदार्थों को ही इष्ट-अनिष्ट माने तो झूठ है।

इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष करना मिथ्या है।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८९-९०

इस मिथ्या मान्यता को जड़मूल से उखाड़ फैंकने का एकमात्र उपाय वस्तुस्वरूप को समझकर प्रयोजनभूत तत्त्वों के बारे में सम्यक् निर्णय करना है। इस कार्य के लिए निरन्तर किये जानेवाले तत्त्वाभ्यास की परम आवश्यकता है।

प्रत्येक द्रव्य की सत्ता पूर्णत: स्वतंत्र है। प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति से अभिन्न है, अपनी परिणति का स्वामी है, अपनी परिणति का कर्ता-भोक्ता भी वही है; किसी अन्य द्रव्य का उसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं है।

आत्मा भी एक द्रव्य है; अत: वह भी पूर्णत: स्वतंत्र सत्तावाला पदार्थ है। वह भी अपनी पर्याय से अभिन्न, उसका स्वामी और उसका कर्ता-भोक्ता भी स्वयं ही है। किसी अन्य पदार्थ का उसके परिणमन में कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है।

वस्तुस्वरूप का ऐसा निर्णय ही तत्त्वनिर्णय है, तत्त्वविचार है; जो अगृहीत मिथ्यादर्शनादि से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है।

उक्त विचार और तत्त्वनिर्णय के बल से जब यह सुनिश्चित हो जाता है कि कोई परपदार्थ हमारे लिए इष्ट या अनिष्ट है ही नहीं तो फिर राग-द्वेष करने का कोई आधार ही नहीं रहता, कारण ही नहीं रहता; अत: अनन्तानुबंधी राग-द्वेष आत्मानुभूति होते ही तत्काल नष्ट हो जाते हैं; शेष राग-द्वेष भी क्षीण होने लगते हैं।

जब जड़ ही उखड़ गई तो फिर फल-फूल और पत्ते कबतक हरे-भरे रहेंगे; अब तो उन्हें मुरझाना ही है, उनके पास सूखकर गिर जाने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं रहता है। परन्तु यह सब होता क्यों नहीं ?

इसके उत्तर में पण्डितजी कहते हैं कि मिथ्यात्व के जोर से यह जीव इसतरह के विचार ही नहीं करता और पर में फेरफार करने के विकल्पों में ही उलझा रहता है; उन पर स्वामित्व, एकाधिपत्य जमाने के विचार में ही उलझा रहता है।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

यह मिथ्यात्व का जोर भी कोई और नहीं है; अपने आत्मा का भावकलंक ही है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है

अत्थि अणंता जीवा, जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकसुपउरा, णिगोदवासं ण मुंचंति।।[१]

निगोद में ऐसे अनंत जीव हैं, जिन्होंने अभीतक त्रसपर्याय की प्राप्ति नहीं की है। वे जीव अगृहीत मिथ्यात्वरूप प्रचुर भावकलंक के कारण ही निगोद के आवास को अनंतकाल तक नहीं छोड़ते।

पर के स्वामित्व और उसमें अपनी इच्छानुसार परिणमन करने-कराने के तीव्र परिणाम और उनकी अनुकूलता को भोगने के तीव्रतम परिणाम ही भावकलंक हैं, जिसके कारण यह जीव अनंतकाल तक निगोद में रहा है और अब सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्य पर्याय में भी पर के स्वामित्व और कर्तृत्व के अहंकार-ममकार में मरा जा रहा है।

जब भी कोई प्रतिकूल प्रसंग आता है तो हम उसके कारण दूसरों में खोजने लगते हैं। **अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व के जोर से हमारा ध्यान इस ओर जाता ही नहीं है कि इसमें कोई हमारी भी गलती हो सकती है।**

जब कोई लड़का किसी लड़की को देखने जाता है तो वह कुछ ही क्षणों में इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि मुझे इससे शादी करनी है या नहीं ?

यद्यपि इस निर्णय करने में उसे कुछ भी देर नहीं लगती; तथापि वह अपना निर्णय किसी को बताता नहीं है; गोल-मोल बातें ही करता रहता है और अन्त में कह देता है कि है तो सबकुछ ठीक, पर उत्तर तो मेरे माता-पिता ही देंगे।

आज के लड़के बहुत चतुर हो गये हैं। वे जानते हैं कि यदि मैंने अभी स्पष्ट कह दिया कि मुझे लड़की पसन्द नहीं है तो अभी का चाय-पानी भी संकट में पड़ जायेगा और यह कह दिया है कि मुझे तो लड़की बहुत पसन्द है तो पिताजी को सौदाबाजी करने का अवसर नहीं मिलेगा।

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-१९७

अत: वह अपने मन की बात मन में ही रखता है और मीठी-मीठी बातें करके ऐसा संकेत देता है कि जैसे उसे लड़की बहुत पसन्द है।

लड़की वालों के पड़ौस में उस लड़के की जान-पहिचान का एक परिवार रहता था। जब लड़का जाने लगा तो वह उनसे मिलने के लिए उनके घर गया। उनके यहाँ दस-पाँच मिनिट रुक कर अपने घर चला गया।

लड़के के पिता से जब उत्तर मांगा गया तो उत्तर मिला कि अभी लड़के का विचार दो-चार वर्ष शादी करने का ही नहीं है।

अरे, भाई ! अभी शादी करने का विचार ही नहीं था तो फिर वह लड़की देखने आया ही क्यों ? व्यर्थ ही दूसरों को परेशान करने से क्या प्रयोजन है ?

प्रयोजन तो कुछ भी नहीं है; पर लड़केवालों ने नापसंदगी व्यक्त किये बिना, मना करने का एक तरीका निकाल लिया है।

यह उत्तर सुनकर लड़कीवाले सोचने लगे कि लड़के को तो लड़की बहुत पसन्द थी; उसकी बातों से तो यही लगता था कि काम बन ही गया है, पर वह पड़ौसी के यहाँ गया था। लगता है उसने भड़का दिया है, हमारा काम बिगाड़ दिया है। हमने इसका क्या बिगाड़ा है, यह हमारे पीछे क्यों पड़ा है; कुछ समझ में नहीं आता। इसके रहते तो हमारी लड़की की शादी होना संभव ही नहीं है, अब हम करें तो करें क्या ?

यद्यपि लड़के वालों के इन्कार करने में पड़ौसी का रंचमात्र भी योगदान नहीं था; पर लड़की वालों के दिमाग में तो यही जमा था कि उनके अहित में सदा पड़ौसियों का ही हाथ रहता है।

''हमारी लड़की या हममें भी कोई कमी हो सकती है'' यह सोचने के लिए तो कोई तैयार ही नहीं है।

इसीप्रकार हम अपने सुख-दु:ख के कारण अपने में खोजने के लिए तैयार ही नहीं हैं, पता चल जाने पर भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं; क्योंकि अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व के कारण हमारा यह तो पक्का निर्णय है ही कि हमारा बिगाड़-सुधार कोई न कोई परपदार्थ ही

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

करता है। बस खोजना तो यह है कि वह कौन है ? सो जब कुछ पता नहीं चलता तो हम अपनी कल्पना से किसी न किसी पर के माथे मढ़ देते हैं।

मैं यह गारंटी तो नहीं दे सकता कि पड़ौसी पूरी तरह निर्दोष है, उसने कुछ भी नहीं कहा होगा; क्योंकि भारत में ऐसे पड़ौसियों की कमी नहीं है कि जो अकारण ही दूसरों के काम बिगाड़ने की सोचते रहते हैं; पर यह गारंटी अवश्य देना चाहता हूँ कि उस लड़के के भड़कने में पड़ौसी का कोई योगदान नहीं है; क्योंकि जिस लड़के को जो लड़की पसन्द आ जाती है तो वह किसी के भी भड़काने में नहीं भड़कता, समझाने से नहीं समझता, यहाँ तक माँ-बाप आदि गुरुजनों की भी नहीं सुनता, सम्पूर्ण सम्पत्ति से बेदखल कर देने की धमकी से भी नहीं डरता, माँ की अश्रुधारा से भी नहीं पिघलता। ऐसे अनेक उदाहरण पौराणिक कथानकों में और इतिहास के पन्नों में तो मिल ही जाते हैं; पर आज के भारत में तो गली-गली में मिल जायेंगे।

पड़ौसी ने कुछ नहीं किया है, यदि किया भी हो तो उसके करने से कुछ नहीं हुआ है; असल बात तो यह है कि लड़का ही लड़की पर नहीं रींझ पाया। पर हमारी यह बात कौन मानता है; क्योंकि **सभी लोग अपनी असफलता को किसी दूसरे के नाम पर ही मढ़ना चाहते हैं।**

इसीप्रकार हमारे सुख-दु:ख के कारण हममें ही विद्यमान हैं, कोई किसी को सुखी-दु:खी नहीं करता। न तो हमें किसी से डरने की जरूरत है और न किसी से सुख की भीख मांगनी है; पर अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के जोर में कौन सुनता है हमारी बात।

अनादिकालीन मिथ्या मान्यता का जोर ही मिथ्यात्व का जोर है; जिसके कारण हम अपने सुख-दु:ख के कारण दूसरों में ही खोजते हैं और निरन्तर अनंत आकुलता का उपभोग करते रहते हैं।

पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि जबतक तुम इस परम सत्य को नहीं समझोगे कि **कोई किसी के जीवन-मरण और सुख-दुख का कर्ता-भोक्ता नहीं है, कोई किसी का स्वामी नहीं है और कोई किसीरूप कभी होता नहीं है; सभी पदार्थ स्वयंरूप हैं, स्वयं के स्वामी और कर्ता-भोक्ता हैं; तबतक सुखी होना संभव नहीं है और यह बात माने बिना राग-द्वेष की परम्परा भी नहीं टूट सकती।**

पर में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि ही अगृहीत मिथ्या-दर्शन है, अगृहीत मिथ्याज्ञान है और इन मिथ्यादर्शन-ज्ञानपूर्वक राग-द्वेष की प्रवृत्ति ही अगृहीत मिथ्याचारित्र है, जो सर्वथा त्याज्य है।

हमारे चित्त में जो बातें बैठ जाती हैं, सो बैठ जाती हैं। हम उसके विरुद्ध सोच भी नहीं सकते, हमारी बुद्धि निरन्तर उसी का अनुसरण करती है।

सामान्य जनों के हृदय में एक बात बैठ गई है या बैठा दी गई है कि दुकानदार बनिये एक नंबर के ठग होते हैं। वे किसी को भी नहीं छोड़ते।

एक दुकानदार से एक किसान ने एक रुपये की सौंप खरीदी। भाग्य से उस सौंप में एक रुपया नगद भी आ गया। अब किसान सोचने लगा कि आज तो बनिया ठगा गया; क्योंकि रुपया तो वापिस आ ही गया, सौंप मुफ्त में आ गई। वह सोच-सोचकर प्रसन्न हो रहा था कि अचानक उसके चित्त में एक प्रश्न खड़ा हुआ कि बनिया तो ठग होता है, वह तो सभी को ठगता है, वह कैसे ठगाया जा सकता है। इसमें भी कोई चाल होगी; पर बहुत सोचने पर वह चाल उसकी समझ में नहीं आई तो गुरुजी के पास पहुँचा।

गुरुजी को सारी बात बताई तो गुरुजी सोच में पड़ गये कि ऐसा कैसे हो सकता है कि बनिया ठगाया जाय ? वह तो ठगनेवाला है। बहुत कुछ सोचने के बाद जब कुछ समझ में नहीं आया तो वे गंभीर हो गये। वैसे तो समझने जैसी भी कोई बात थी नहीं। सौंप की बोरी में एक रुपये का सिक्का गिर गया होगा। वह सौंप के साथ तुलकर आ गया था; पर ऐसा मानने पर तो वह अकाट्य सिद्धान्त खण्डित होता था कि बनिया ठग होते हैं। अत: वे भी चिन्तित हो उठे कि कुछ दाल में काला अवश्य है; क्योंकि वे यह तो मान ही नहीं सकते थे कि बनिया भी ठगाया जा सकता है।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

मुहल्ले के लोग इकट्ठे हो गये, पर किसी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था; सबके चित्त में एक सवाल उठता था कि बनिया कैसे ठगाया जा सकता है? ऐसा आजतक तो कभी हुआ नहीं, अब कैसे हो सकता है?

एक बोला भाई! कलयुग है, कुछ भी हो सकता है; पर उसकी बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। सब मिलकर बड़े गुरुजी के पास पहुँचे और पूरी बात विगतवार सुनाकर हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

बड़े गुरुजी भी असमंजस में पड़ गये। कुछ देर तो वे शान्त रहे, फिर एकदम उचक कर बोले आ गया समझ में, सबकुछ साफ-साफ ही तो है कि ठग बनिये ने एक तोला सौंप कम तोल दी, ठग लिया न उसने और आप लोग समझ ही नहीं पाये। सब बहुत प्रसन्न हुए; क्योंकि उनकी समझ में सबकुछ आ गया था कि बनिये ने ही किसान को ठगा है।

हमारी भी यही दशा है और हम अगृहीत मिथ्यात्व के जोर में यह सोच भी नहीं पाते कि हमारे अनुकूल-प्रतिकूल जो भी हुआ है, वह सब हमने ही किया है; क्योंकि कोई अन्य व्यक्ति के पुण्य-पाप को हम नहीं भोग सकते और हमारे पुण्य-पाप को अन्य कोई नहीं भोग सकता।

अगृहीत मिथ्यात्व के जोर में हमारी समझ में यह साधारण सी बात भी नहीं आती कि जो करे, सो भरे। हमारी बुद्धि तो निरन्तर दूसरों को उत्तरदायी ठहराने के तर्क खोजती रहती है। यह अगृहीत मिथ्यात्वरूप मोह की महिमा है। इससे अधिक और अब हम क्या कह सकते हैं?

इसप्रकार अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त खेद व्यक्त करते हुए पण्डितजी मिथ्यात्वरूप दर्शनमोह की महिमा का बखान करते हुए लिखते हैं

''ऐसे ये मिथ्यादर्शनादिक भाव जीव के अनादि से पाये जाते हैं, नवीन ग्रहण नहीं किये हैं। देखो इसकी महिमा कि जो पर्याय धारण करता है, वहाँ बिना ही सिखाये मोह के उदय से स्वयमेव ऐसा ही परिणमन होता है। तथा मनुष्यादिक को सत्यविचार होने के कारण मिलने पर भी

सम्यक् परिणमन नहीं होता और श्रीगुरु के उपदेश का निमित्त बने, वे बारम्बार समझायें; परन्तु यह कुछ विचार नहीं करता। तथा स्वयं को भी प्रत्यक्ष भासित हो, वह तो नहीं मानता और अन्यथा ही मानता है।

किसप्रकार? सो कहते हैं मरण होने पर शरीर-आत्मा प्रत्यक्ष भिन्न होते हैं। एक शरीर को छोड़कर आत्मा अन्य शरीर धारण करता है; वहाँ व्यन्तरादिक अपने पूर्वभव का संबंध प्रगट करते देखे जाते हैं; परन्तु इसको शरीर से भिन्न-बुद्धि नहीं हो सकती।

स्त्री-पुत्रादिक अपने स्वार्थ के सगे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं; उनका प्रयोजन सिद्ध न हो तभी विपरीत होते दिखायी देते हैं; यह उनमें ममत्व करता है और उनके अर्थ नरकादिक में गमन के कारणभूत नानाप्रकार के पाप उत्पन्न करता है।

धनादिक सामग्री किसी की भी होती नहीं देखी जाती है, यह उन्हें अपनी मानता है। तथा शरीर की अवस्था और बाह्य सामग्री स्वयमेव उत्पन्न होती है तथा विनष्ट होती दिखायी देती है, यह वृथा स्वयं कर्ता होता है।

वहाँ जो कार्य अपने मनोरथ के अनुसार होता है, उसे तो कहता है 'मैंने किया' और अन्यथा हो तो कहता है 'मैं क्या करूँ' 'ऐसा ही होना था अथवा ऐसा क्यों हुआ?' ऐसा मानता है। परन्तु या तो सर्व का कर्ता ही होना था या अकर्ता रहना था, सो विचार नहीं है।

तथा मरण अवश्य होगा ऐसा जानता है, परन्तु मरण का निश्चय करके कुछ कर्तव्य नहीं करता; इस पर्याय संबंधी ही यत्न करता है।

तथा मरण का निश्चय करके कभी तो कहता है कि मैं मरूँगा और शरीर को जला देंगे। कभी कहता है कि मुझे जला देंगे। कभी कहता है यश रहा तो हम जीवित ही हैं। कभी कहता है पुत्रादिक रहेंगे तो मैं ही जीऊँगा। इसप्रकार पागल की भांति बकता है, कुछ सावधानी नहीं है।

तथा अपने को परलोक में जाना है, यह प्रत्यक्ष जानता है; उसके

इष्ट-अनिष्ट का तो यह कुछ भी उपाय नहीं करता और यहाँ पुत्र, पौत्र आदि मेरी सन्तति में बहुत काल तक इष्ट बना रहे, अनिष्ट न हो; ऐसे अनेक उपाय करता है। किसी के परलोक जाने के बाद इस लोक की सामग्री द्वारा उपकार हुआ देखा नहीं है; परन्तु इसको परलोक होने का निश्चय होने पर भी इस लोक की सामग्री का ही पालन रहता है।

तथा विषय-कषायों की परिणति से तथा हिंसादि कार्यों द्वारा स्वयं दु:खी होता है, खेदखिन्न होता है, दूसरों का शत्रु होता है, इस लोक में निंद्य होता है, परलोक में बुरा होता है ऐसा स्वयं प्रत्यक्ष जानता है; तथापि उन्हीं में प्रवर्तता है।

इत्यादि अनेकप्रकार से प्रत्यक्ष भासित हो, उसका भी अन्यथा श्रद्धान करता है, जानता है, आचरण करता है; सो यह मोह का माहात्म्य है।

इसप्रकार यह जीव अनादि से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है। इसी परिणमन से संसार में अनेक प्रकार का दु:ख उत्पन्न करनेवाले कर्मों का संबंध पाया जाता है। यही भाव दु:खों के बीज हैं, अन्य कोई नहीं।

इसलिए हे भव्य ! यदि दु:खों से मुक्त होना चाहता है तो इन मिथ्यादर्शनादिक विभावभावों का अभाव करना ही कार्य है; इस कार्य के करने से तेरा परम कल्याण होगा।[१]''

उक्त कथन में पण्डित टोडरमलजी ने अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीवों की परिणति का जो चित्र प्रस्तुत किया है; वह न केवल पण्डितजी के समय की स्थिति का चित्र है, अपितु आज भी सर्वत्र वही दृष्टिगोचर होता है। इससे स्पष्ट होता है कि यह स्थिति किसी स्थान विशेष की नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व की है। इसीप्रकार मात्र वर्तमानकाल की नहीं, सदा की है। तात्पर्य यह है कि अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव जहाँ भी होंगे और जब भी होंगे, वहाँ और तब उनकी यही स्थिति रहनेवाली है।

पण्डितजी कहते हैं कि अपने क्षयोपशमज्ञान में यह स्पष्ट हो जाने पर

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-९३-९४

भी कि मेरा आवास इस देह में अवश्य है, पर मैं देह नहीं हूँ। मैं तो देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ। इस देह का संयोग तो अत्यल्प काल का है; अन्तत: तो मुझे इसे छोड़कर ही जाना है; फिर भी सम्पूर्ण जीवन इस शरीर की सेवा में लगा देता है, आत्मा की तो सुध ही नहीं लेता।

इसीप्रकार स्त्री-पुत्रादि और धनादि का संयोग भी अत्यल्प काल का है। यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव अपना सम्पूर्ण जीवन देह, स्त्री-पुत्रादि और धनादि की सम्हाल में लगा देता है। अपने आत्मा के संदर्भ में कोई विचार ही नहीं करता।

भक्ष्य-अभक्ष्य से शरीर का पोषण और न्याय-अन्याय से धन का उपार्जन करके अपार पाप का संग्रह करता है। पाप को तो साथ ले जाना पड़ता है और धन यहीं छूट जाता है। देह की आगामी पीढी की चिन्ता मरते दम तक करता है, पर अगले भव में आत्मा का क्या होगा इसके संबंध में क्षणभर भी नहीं सोचता।

यह तो हम सभी जानते हैं कि मरना तो है ही। किसी को दो-चार वर्ष बाद तो, किसी को दस-बीस वर्ष बाद। यदि किसी की उम्र कम है तो वह अधिक से पचास-साठ वर्ष और जियेगा। सौ वर्ष के भीतर तो सभी को जाना है। हजार-दो हजार वर्ष तक कोई रहनेवाला नहीं है। ऐसा जानकर भी मृत्यु के अन्तिम क्षण तक इस भव की ही चिन्ता करता है, अगले भव के बारे में कोई विचार नहीं करता।

पण्डितजी तो यहाँ तक लिखते हैं कि यह मोह की मदिरा पीकर पागल जैसा हो गया है। कभी दार्शनिक मुद्रा बनाकर कहता है

हंसा उड़ जायेगा, पक्षी उड़ जायेगा; अर तू यही पड़ा रह जायेगा।
औरत देहरी तक साथ देगी, बेटा मसान तक ले जायेगा।
सब मिलकर तुझे जला देंगे, तू धू-धूकर जल जायेगा।
हंसा उड़ जायेगा, पंक्षी उड़ जायेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि यह वैराग्य का गीत है, कुछ कहते हैं कि इसमें

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

अध्यात्म भरा है; पर मैं कहता हूँ कि यदि यह वैराग्य है, अध्यात्म है तो फिर अज्ञान क्या है, मिथ्यात्व क्या है ?

मैं जानना चाहता हूँ कि मरने पर जो यहाँ पड़ा रह जायेगा, वह तू है या जो उड़ जायेगा, वह तू है। जिसके साथ औरत देहरी तक जावेगी, जिसे बेटा मसान तक ले जायेगा और जिसे सब लोग मिलकर जला देंगे; तू वह है या जो उड़ जावेगा, वह तू है ?

अरे, भाई ! तू तो वह भगवान आत्मा है, जो मृत्यु होने पर अगले भव में चला जाता है; जो यहाँ पड़ी रहेगी, जिसे मसान ले जाया जायेगा और अन्त में जला दिया जायेगा, वह तो देह है।

जिस भजन में तुझे शरीर बताया जा रहा हो, वह तो अगृहीत मिथ्यादर्शन का पोषक है; वह अच्छा कैसे हो सकता है ?

शरीर, स्त्री-पुत्रादि और धनादि का संयोग पुण्य-पाप के उदयानुसार प्राप्त होते हैं; पर यह समझता है कि धनादि को मैंने कमाया है, शरीर को संभाल कर मैंने रखा है, स्त्री-पुत्रादि की रक्षा मैं करता हूँ। अरे, भाई ! स्त्री-पुत्रादि का पुण्य-पाप उसके साथ होता है, उन्हें जो भी अनुकूलता-प्रतिकूलता प्राप्त होती है; वह सब तो उनके पुण्य-पाप का फल है। उसमें तेरा क्या है ? भले ही यह कहता है कि यह सब मैंने किया है, किन्तु जब इसकी इच्छानुसार कार्य नहीं होता है तो कहने लगता है कि मैं क्या करूँ ?

इसकी यह शक्ति और प्रवृत्ति अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्या-ज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्ररूप मोह का परिणाम है।

अधिकार के अन्त में पण्डितजी कहते हैं कि यदि तुम इन सांसारिक दु:खों से मुक्त होना चाहते हो तो इन अगृहीत मिथ्यादर्शनादि विभावभावों का अभाव करने का पुरुषार्थ करो। करने योग्य कार्य तो एकमात्र यही है। इसके करने से तेरा कल्याण अवश्य होगा। ●

सातवाँ प्रवचन

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र की विषयवस्तु के संबंध में चर्चा चल रही है। **चौथे अधिकार** में अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अब इस **पाँचवें अधिकार** से गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र का निरूपण आरंभ करते हैं।

इस बात का उल्लेख इसी अधिकार के आरंभ में पण्डितजी इसप्रकार करते हैं

''यहाँ अनादि से जो मिथ्यात्वादि भाव पाये जाते हैं, उन्हें तो अगृहीत मिथ्यात्वादि जानना; क्योंकि वे नवीन ग्रहण नहीं किये हैं। तथा उनके पुष्ट करने के कारणों से विशेष मिथ्यात्वादिभाव होते हैं, उन्हें गृहीत मिथ्यात्वादि जानना। वहाँ अगृहीत मिथ्यात्वादि का वर्णन तो पहले किया है, वह जानना और अब अगृहीत मिथ्यात्वादि का निरूपण करते हैं सो जानना।[१]''

जिसप्रकार कोई जन्मजात रोगी सचेत होकर भी कुपथ्य का सेवन करे तो उस रोगी का ठीक होना और अधिक कठिन हो जाता है; उसीप्रकार अनादि से अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव सैनी पंचेन्द्रिय दशा में विशेष ज्ञानशक्ति पाकर विपरीत मान्यता का पोषण करे तो उसका सुलझना और अधिक कठिन हो जाता है।

इसलिए जिसप्रकार वैद्य कुपथ्यों को विस्तार से बताकर उनके सेवन करने का निषेध करता है; उसीप्रकार यहाँ सद्गुरु अनादिकालीन मिथ्या श्रद्धानादि के पोषक बाह्य कारणों को विस्तार से बताकर उनका निषेध करते हैं।

गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का स्वरूप पण्डितजी अति संक्षेप में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-९५

''कुदेव-कुगुरु-कुधर्म और कल्पित तत्त्वों का श्रद्धान तो मिथ्यादर्शन है। तथा जिनमें विपरीत निरूपण द्वारा रागादि का पोषण किया गया हो ऐसे कुशास्त्रों का श्रद्धानपूर्वक अभ्यास सो मिथ्याज्ञान है। तथा जिस आचरण में कषायों का सेवन हो और उसे धर्मरूप अंगीकार करे सो मिथ्याचारित्र है।[१]''

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की परिभाषा में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म तथा कल्पित तत्त्वों के श्रद्धान को मिथ्यादर्शन; रागादि पोषक शास्त्रों के श्रद्धापूर्वक अभ्यास को मिथ्याज्ञान और धर्म मानकर कषायों के सेवनरूप आचरण को मिथ्याचारित्र कहा है; क्योंकि यह प्रकरण गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का है।

यह तो आपको ध्यान में है ही कि अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र के निरूपण के समय देहादि संयोगों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि को मिथ्यादर्शन, देहादि संयोगों को निजरूप जानने, उनका स्वामी और कर्ता-भोक्ता जानने का नाम मिथ्याज्ञान और इन मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञानपूर्वक विषय-कषाय में प्रवृत्ति को मिथ्याचारित्र कहा था।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की उक्त परिभाषाओं में जो अन्तर दिखाई देता है, वह अगृहीत और गृहीत के भेद के कारण है। **अगृहीत में अंतरंग की मुख्यता है और गृहीत में बाह्य की।**

आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वार्थश्रद्धान को और आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन और इन्हीं के सम्यक् परिज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानसहित पाँच पापों के एकदेश त्याग को देशसंयम और सम्पूर्णत: त्याग को सकल संयम अर्थात् चारित्र कहते हैं।

उन्हीं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विरुद्ध यहाँ गृहीत मिथ्यादर्शन के

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-९६

प्रकरण में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म तथा कल्पित तत्त्वार्थों के श्रद्धान को मिथ्यादर्शन, धर्म के नाम पर श्रद्धापूर्वक रागादि पोषक शास्त्रों के अभ्यास को मिथ्याज्ञान और विषय-कषायों के सेवन सहित आचरण को धर्मरूप से अंगीकार करने को मिथ्याचारित्र कहा है।

अगृहीत मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र को अंतरंग वृत्ति और प्रवृत्ति रूप से प्रस्तुत किया है और गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को निमित्तादि की अपेक्षा बाह्य व्यवहाररूप में समझाया जा रहा है।

जरा विचार तो करो, अनादिकाल से निगोद में तो यह जीव देहादि में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व से ग्रसित रहा; भाग्य से वहाँ से निकला और द्वीन्द्रियादि अवस्थाओं को पार करता हुआ महाभाग्य से इस सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्य पर्याय में आया तो यहाँ कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्रों के चक्कर में पड़ गया।

अन्तर में तो परपदार्थों को अपना मानने, उनका स्वामी और कर्ता-भोक्ता बनने का संस्कार था ही; ऊपर से कुदेव और कुगुरुओं से भी यही सुनने को मिला, कुशास्त्रों में भी यही पढ़ने को मिला कि देहादि संयोगों को संभालो। इसप्रकार अनादिकालीन मिथ्या मान्यता और अधिक पुष्ट हो गई तथा सन्मार्ग मिलना और अधिक दुर्लभ हो गया।

इस लोक में अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व की सुरक्षा और पोषण की कितनी बड़ी व्यवस्था है; उसका विवेचन पण्डितजी पाँचवें, छठवें और सातवें अधिकार में विस्तार से कर रहे हैं। उसकी सुरक्षा के लिए पर कर्तृत्व के पोषक लोग प्रत्येक नगर की गली-गली में बैठे हैं, घर-घर में जम रहे हैं और निरन्तर परकर्तृत्व की मान्यता को पुष्ट कर रहे हैं।

यह हमारा महाभाग्य है कि कहीं-कहीं इक्के-दुक्के महापण्डित टोडरमलजी जैसे ज्ञानी धर्मात्मा इसके विरुद्ध आवाज लगाते रहे हैं, डंका बजा-बजा कर जगाते रहे हैं; कहते रहे हैं कि हे भव्यजीवो ! इस अनादि-कालीन महा मिथ्यात्व को अब तो छोड़ो।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि क्यों गला खराब कर रहे हो; इस नक्कारखाने में कौन सुनता है तुम्हारी इस तूती की आवाज को।

उनसे हमारा कहना यह है कि जिनकी भली होनहार होगी, जिनकी काललब्धि आ गई होगी, जिनका संसार सागर का किनारा निकट आ गया होगा; वे निकटभव्यजीव सुनेंगे हमारी बात।

यह तो आप जानते ही हैं कि सागर के भीतर अन्तर गहराई में वडवाग्नि जलती है। जिसप्रकार पेट में लगी आग को जठराग्नि कहते हैं, जंगल में लगी आग को दावाग्नि कहते हैं; उसीप्रकार सागर के तल में जलनेवाली आग को वडवाग्नि कहते हैं।

एकबार सागर ने वडवाग्नि से कहा कि तू हमारे पेट में लाखों वर्ष से जल रही है; फिर भी हमारा तो कुछ नहीं बिगड़ा। जरा-सी गर्मी पड़ती है तो नदियाँ सूख जाती हैं, तालाब सूख जाते हैं; पर बाहर से सूरज तप रहा है, अन्दर तू जल रही है; पर क्या हुआ हमारा ? व्यर्थ ही क्यों जल रही है।

वडवाग्नि ने बड़ी ही विनम्रता से कहा कि पेट की अग्नि में दश तोला घी पड़ जावे तो बुझ जाती, चूले की आग एक लोटा पानी पड़ने से बुझ जाती है, जंगल की आग भी मेघ वर्षा होने से बुझ जाती है; पर मेरे ऊपर लाखों वर्षों से समुद्रों पानी पड़ा है, फिर भी मैं जिन्दा हूँ मेरी सत्ता के लिए क्या इतना ही पर्याप्त नहीं है ?

यह तो आपने सुना ही होगा कि जब नदियों में बाढ आती है तो उनके तट पर बसे ग्राम, नगर बह जाते हैं, उजड़ जाते हैं; संकट में पड़ जाते हैं। यदि सागर में बाढ आ जाय तो क्या होगा ? इसकी कल्पना की है कभी आपने ? अरे, भाई ! सागर में कभी बाढ नहीं आती; क्योंकि उसके पेट में वडवाग्नि जल रही है। उसने सागर पर अंकुश लगा रखा है।

सूरज का ताप उसके पानी को निरन्तर बादलों के रूप में उड़ा कर ले जा रहा है। उक्त अग्नि ने और सूरज की गर्मी ने भले ही सागर को पूरी

तरह सुखा नहीं पाया; पर बेकाबू भी नहीं होने दिया, मर्यादा में रखा। क्या यह वडवाग्नि की कम उपयोगिता है ?

जिसप्रकार अत्यन्त शक्तिशाली हाथी को छोटा-सा अंकुश काबू में रखता है, उसे उश्रृंखल नहीं होने देता; उसीप्रकार इतने बड़े सागर को वडवाग्नि का अंकुश काबू रखता है, उश्रृंखल नहीं होने देता।

आज के इस मनुष्य लोक में गाँव-गाँव में, गली-गली में परकर्तृत्व के प्रतिपादन का बोल-बाला है। जहाँ देखो, वहाँ सर्वत्र उसकी ही चर्चा है। अकर्तावादी जैनदर्शन को माननेवाले भी कर्तृत्व के अहंकार में डूबे जा रहे हैं; सारी दुनिया को देह की सेवा में लगा रहे हैं, घर-परिवार से राग करने की प्रेरणा दे रहे हैं, देश और धर्म की रक्षा के नाम पर मरने-मारने को उकसा रहे हैं; ऐसे तूफानों से आन्दोलित मनुष्यलोक में यदि हम, पर में एकत्व-ममत्व का निषेध कर रहे हैं, पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के विरोध की आवाज उठा रहे हैं तो क्या हमारे अस्तित्व के लिए इतना पर्याप्त नहीं है?

भोगों के इस सागर में जो थोड़ी-बहुत मर्यादा दिखाई देती है; वह हमारे प्रयासों का ही प्रभाव है, हमारे प्रतिपादन के अंकुश का ही परिणाम है।

आपका यह कहना भी सही नहीं है कि इस नक्कारखाने में कौन सुनता हमारी इस तूती की आवाज को। अरे, भाई ! हमारी आवाज को सुननेवाले, हमारे लेखन को पढनेवाले, हमारी प्रेरणा से सन्मार्ग में लगनेवाले भी लाखों लोग हैं। न हमें श्रोताओं की कमी है, न पाठकों की और सन्मार्ग में लगनेवालों की भी कमी नहीं है।

इस पर वे कहते हैं कि यदि ऐसा है तो फिर आप ऐसा क्यों कहते हैं कि कौन सुनता है हमारी बात।

अरे, भाई ! अरबों में, लाखों ने सुन लिया, लाखों ने पढ लिया; तो भी तो ऊँट के मुँह में जीरा ही है ? इसलिए कभी-कभी हम कहते हैं कि कौन सुनता है हमारी आवाज ? पर आपने जो यह कहा कि इस

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

नक्कारखाने में कौन सुनता है तुम्हारी इस तूती की आवाज को; इस पर हम कहना चाहते हैं कि **हमारी तो तूती बोल ही रही है और बोलती भी रहेगी, जिनका भाग्य होगा, वे सुनेंगे और जिनके भाग्य में नहीं होगा, वे नहीं सुनेंगे**। उनके लिए तो पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''जिसप्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे कोढ़ी को अमृत-पान कराये और वह न करे; उसीप्रकार **संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो नहीं हो सकती। उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है।** कहा है कि

साहीणे गुरुजोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ।
ते धिट्ठदुट्ठचिता अह सुहडा भवभयविहुणा।।

स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव धर्मवचनों को नहीं सुनते, वे धीठ हैं और उनका चित्त दुष्ट है। अथवा जिस संसारभय से तीर्थंकरादि डरे, उस संसारभय से रहित हैं, वे बड़े सुभट हैं।''

एक मदारी था, जो गांव-गांव में, चौराहे-चौराहे पर बंदर को नचा-नचाकर लोगों का मनोरंजन किया करता था। एक दिन एक गांव के बाजार में एक दुकान के सामने उसने अपनी डुग-डुगी बजाना शुरू की तो बन्दर का खेल देखने के लिए बच्चों की भीड़ इकट्ठी होने लगी।

दुकानदार सेठ ने आकर कहा ''चलो, हटो यहाँ से; हमारी दुकान के सामने तुम यह मजमा नहीं लगा सकते।''

मदारी ने हाथ जोड़कर कहा ''बस, आधा घंटे का काम है, दिखा लेने दो बंदर का खेल। किराये के रूप में तुम्हारे बच्चे और तुम खेल को मुफ्त में देख लेना।''

पर सेठ नहीं माना और बार-बार कहने लगा ''हटो यहाँ से, वरना.....''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२०

उसका यह रुख देखकर मदारी बोला ''सुनो सेठजी, हमने तो यह काम चुना है सो अब हमें तो जिन्दगी भर डुग-डुगी ही बजाना है, बन्दर का खेल ही दिखाना है; यहाँ न सही, तो दूसरी जगह, इस गांव में नहीं तो दूसरे गांव में। भारत में सात लाख गांव हैं। इसलिए हमारी यह डुग-डुगी तो बजेगी ही, बंद होनेवाली नहीं है। सोच लो सेठजी, तुम और तुम्हारे बच्चे ही खेल देखे बिना रह जायेंगे।''

इसीप्रकार हमारा भी यही कहना है कि हमने तो वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजाने का कार्य अपनाया है, सो अब तो यह डंका जिन्दगी भर बजाना ही है; इस गांव में न सही तो दूसरे गांव में, उसमें भी नहीं तो तीसरे गांव में। भारत में सात लाख गांव हैं और भी सारी दुनिया पड़ी है। अत: हमारा काम तो रुकनेवाला नहीं है। हमारी डुग-डुगी तो बजनेवाली ही है, हमारी तूती तो बोलनेवाली ही है। अब आप अपनी सोचिये।

यदि आपने विरोधभाव रखा, विरोध किया तो आप ही इस वीतरागी तत्त्वज्ञान से वंचित रह जावेंगे, आपका मनुष्य भव व्यर्थ के कामों में और अनर्गल भोगों में चला जायेगा। उसके बाद न जाने चार गति और चौरासी लाख योनियों में कहाँ-कहाँ घूमना होगा ? इसलिए हमारा कहना तो यही है कि आप भी हमारी बात पर ध्यान दें, व्यर्थ के विवाद से कोई लाभ नहीं है। इसके बारे में सोचा है कभी आपने ? यदि नहीं तो जरा सोचिये, गंभीरता से विचार कीजिये, अन्यथा यह भव यों ही चला जावेगा।

अरे, भाई ! गृहीत मिथ्यात्व का यह निरूपण पण्डित टोडरमलजी ने जान की बाजी लगाकर किया है। उन्होंने किसी के विरुद्ध कुछ नहीं किया, कुछ नहीं कहा, कुछ नहीं लिखा; उन्होंने तो यह महान कार्य भूले-भटके लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए किया था, मिथ्यात्व के महापाप से बचाने के लिए किया था। और उनका यह प्रयास अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है, क्योंकि उनके मोक्षमार्ग प्रकाशक ने विगत २५०

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

वर्षों से अभीतक लाखों लोगों को सन्मार्ग पर लगाया है, लाखों लोगों का गृहीत मिथ्यात्व छुड़ाया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का जीवन भी समयसार और मोक्षमार्गप्रकाशक पढकर ही बदला था। हम भी उन लोगों में हैं, जिन्होंने मोक्षमार्गप्रकाशक से बहुत कुछ सीखा है।

उनके इस उपकार को, उनके बलिदान को भुलाया नहीं जा सकता। हमें भी आज यही काम करना है और उसी हिम्मत के साथ करना है, सावधानी से करना है, विनम्रता के साथ करना है, आलोचना-प्रत्यालोचना से दूर रहकर करना है। जो निधि हमें व आपको प्राप्त हुई है; उसका भरपूर लाभ लेना है और उसे जन-जन तक पहुँचाना है।

गृहीत मिथ्यात्व का निरूपण करते हुए सबसे पहले इस पाँचवें अधिकार में जैनेतर मतों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है; जिसमें उन्होंने उन सभी मतों की समीक्षा की है; जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थे।

जैनदर्शन के न्याय ग्रंथों में जो कुछ उपलब्ध होता है, यदि उसे सरल-सुबोध भाषा में एक साथ एक स्थान पर देखना हो तो मोक्षमार्गप्रकाशक का पाँचवाँ अधिकार पढ लीजिए।

जो कुछ जैन न्याय ग्रंथों में उपलब्ध होता है, वह सबकुछ तो इसमें है ही; उसके अतिरिक्त **उस समय प्रचलित मुस्लिम मत आदि की समीक्षा भी की गई है।**

एक जमाना यह था कि जब भारतीय दर्शनों में परस्पर वाद-विवाद हुआ करते थे। उस समय का समाज सहिष्णु समाज था और वह उसमें बढ़-चढ़ कर भाग लेता था। दोनों पक्षों की बात गंभीरता से सुनी जाती थी और गुण-दोषों के आधार पर निर्णय होते थे।

ये वाद-विवाद राज-दरबार में हुआ करते थे और न्यायप्रिय राजागण स्वयं उक्त सभा के अध्यक्ष रहा करते थे। आज से लगभग उन्नीस सौ वर्ष पहले इसप्रकार के वाद-विवादों के माध्यम से जैन न्याय के प्रतिष्ठापक

आचार्य समन्तभद्र ने सारे देश में घूम-घूम कर जैनदर्शन की बहुत प्रभावना की थी।

करहाटक नगर के राजा ने जब उनसे उनका परिचय पूछा तो उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा था कि

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्वं पाटिलपुत्र - मध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धु टुक्क विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।।

हे राजन् ! सबसे पहले मैंने पाटलिपुत्र (पटना) नगर में शास्त्रार्थ (वाद-विवाद) के लिए भेरी बजाई; उसके बाद मालव, सिन्धु, ढक्क, कांची, विदिशा आदि स्थानों पर जाकर भेरी बजाई और अब बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों से परिपूर्ण इस करहाटक नगर में आया हूँ। मैं वादार्थी हूँ और सिंह के समान सर्वत्र ही निर्भय होकर विचरण करता हूँ।

आचार्य समन्तभद्र के उक्त कथन से न केवल उनकी विद्वता की महिमा हमारे ध्यान में आती है; अपितु उस समय के सहिष्णु समाज का स्वरूप भी हमारे ध्यान में आता है।

उस काल में सभी दर्शनों में स्वमत मंडन और परमत खंडन संबंधी विपुल साहित्य की रचना हुई है। जैनदर्शन भी उससे अछूता नहीं रहा। जैनदर्शन में 'न्यायशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध जितना भी साहित्य है; लगभग वह सभी इसीप्रकार का है।

पण्डित टोडरमलजी ने न केवल उक्त साहित्य का गहराई से अध्ययन किया था, अपितु जैनेतर साहित्य का भी भरपूर आलोढ़न किया था।

तत्कालीन विसंगतियों से भी वे भलीभांति परिचित थे। इस बात के प्रमाण उनके इस मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें अधिकार में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं।

जिस समय मोक्षमार्गप्रकाशक लिखा जा रहा था, उस समय

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

परिस्थितियाँ पूरी तरह बदल गई थीं। समाज में पहले जैसी सहिष्णुता नहीं रही थी और सात्विक वाद-विवाद, वितंडावाद का रूप ले चुके थे। साहित्य के क्षेत्र में भी इसका असर देखा जा सकता था। इसकारण उस समय इसप्रकार का समीक्षात्मक साहित्य लिखना खतरे से खाली नहीं रह गया था।

उक्त परिस्थितियों से पण्डित टोडरमलजी भलीभाँति परिचित थे। फिर भी उन्होंने हम-तुम जैसे लोगों के उपकार के लिये जान की बाजी लगाकर यह काम किया।

यह लिखते समय उनके चित्त में अनेक विकल्प खड़े हुए थे, जिनकी झलक उनके निम्नांकित कथनों में देखी जा सकती है

''तथा वह कहता है कि यह तो सच है; परन्तु अन्यमत की निन्दा करने से अन्यमती दु:खी होंगे, विरोध उत्पन्न होगा; इसलिए निन्दा किसलिए करें ?

वहाँ कहते हैं कि हम कषाय से निन्दा करें व औरों को दु:ख उपजायें तो हम पापी ही हैं; परन्तु अन्यमत के श्रद्धानादि से जीवों के अतत्त्वश्रद्धान दृढ़ हो, जिससे संसार में जीव दु:खी होंगे; इसलिए करुणा भाव से यथार्थ निरूपण किया है। कोई बिना दोष दु:ख पाता हो, विरोध उत्पन्न करे तो हम क्या करें ?

जैसे मदिरा की निन्दा करने से कलाल दु:खी हो, कुशील की निन्दा करने से वेश्यादिक दु:ख पायें और खोटा-खरा पहिचानने की परीक्षा बतलाने से ठग दु:खी हो तो हम क्या करें ?

इसीप्रकार यदि पापियों के भय से धर्मोपदेश न दें तो जीवों का भला कैसे होगा ? ऐसा तो कोई उपदेश है नहीं, जिससे सभी चैन पावें ?

तथा वे विरोध उत्पन्न करते हैं; सो विरोध तो परस्पर करे तो होता है; परन्तु हम लड़ेंगे नहीं, वे आप ही उपशांत हो जायेंगे। हमें तो अपने परिणामों का फल होगा।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-१३८

इसप्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में शान्त रहने के संकल्प के साथ अत्यन्त करुणा भाव से इस प्रकरण पर कलम चलाई थी। फिर भी वे विरोधियों के षड्यंत्र के शिकार हो गये।

उस समय के बाद से परिस्थितियाँ तेजी से बदलती गईं और वाद-विवाद मात्र स्कूल-कॉलेजों में होनेवाली वाद-विवाद प्रतियोगिताओं तक सीमित होकर रह गये हैं। आज इसप्रकार के साहित्य का लेखन भी देखने में नहीं आता।

प्राचीनकाल में विभिन्न दर्शनों में मूलभूत अन्तर क्या है ? इस बात की खोज की जाती थी और उनकी प्रामाणिकता पर पूरी गंभीरता से विचार किया जाता था; पर आजकल विभिन्न दर्शनों में क्या अन्तर है इसकी चर्चा न करके, उनमें क्या समानता है यह खोजा जाने लगा है; क्योंकि आज मानस यह बन गया है कि विभिन्न दर्शनों में अन्तर है, इसकी चर्चा करने से देश व समाज की एकता खण्डित होती है और उन दर्शनों में से किसकी कितनी बात तर्क की कसौटी पर खरी उतरती है और कितनी नहीं; इसकी चर्चा मात्र से वातावरण विषाक्त हो जाता है।

अतः आजकल के विश्वधर्म सम्मेलनों में तो यही चर्चा होती है कि लगभग सभी दर्शन समान ही हैं।

अब स्वमतमंडन और परमतखण्डन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अब तो **अहो रूपं, अहो ध्वनि** का जमाना आ गया है।

हाँ, विश्वविद्यालयों में अभी भी यही पढ़ाया जाता है कि विभिन्न दर्शनों में परस्पर अन्तर क्या है? परीक्षाओं में प्रश्न भी इसीप्रकार के आते हैं कि जैनदर्शन और बौद्धदर्शन में मूलभूत अन्तर क्या है?

यद्यपि यह सत्य है कि अन्तर की चर्चा से वातावरण विक्षुब्ध होता है; तथापि विक्षुब्धता का मूल कारण सहिष्णुता का अभाव है, दार्शनिक चर्चा नहीं। अतः **समाज को सहिष्णु बनाने का प्रयास होना चाहिये। सभी समान हैं ऐसा कहने से तो विभिन्न दर्शनों की पहिचान ही समाप्त**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

हो जायेगी। यह किसी देश या समाज के लिये गौरव की बात नहीं है। इसमें सत्य की खोज का रास्ता ही बन्द हो जाने का खतरा है।

यदि सभी समान हैं तो फिर उक्त दर्शनों में परस्पर विरुद्ध कथन क्यों पाये जाते हैं ? कहा गया है कि

कपिलो यदि सर्वज्ञः बुद्धो नेति का प्रमा?
बुद्धो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ?
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ।।

यदि कपिल सर्वज्ञ हैं तो इस बात के क्या प्रमाण हैं कि बुद्ध सर्वज्ञ नहीं हैं। इसीप्रकार बुद्ध यदि सर्वज्ञ हैं तो इस बात के क्या प्रमाण हैं कि कपिल सर्वज्ञ नहीं है। यदि वे दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो उन दोनों में मतभेद क्यों है ? इसीप्रकार यह भी कहा जा सकता है कि यदि सभी दर्शन समान हैं तो फिर ये दर्शन अनेक क्यों हैं ?

यद्यपि यह हो सकता है कि कुछ दर्शनों में कतिपय बातों में समानता हो, पर कुछ बातों की समानता के आधार पर उन्हें एक नहीं माना जा सकता। जितने भी ईश्वरवादी दर्शन हैं, उनमें ईश्वर को मानने संबंधी समानता तो होगी ही; पर अन्य बातों में जमीन-आसमान का अन्तर हो सकता है। इसीप्रकार **जैन, बौद्ध और चार्वाक अनीश्वरवादी दर्शन हैं; पर उनमें भी अनेक बातों में महान अन्तर है। बौद्ध क्षणिकवादी हैं, पर जैन कथंचित् क्षणिक और कथंचित् नित्य माननेवाले होने से स्याद्वादी हैं। चार्वाक भोगवादी है, पर जैनदर्शन त्याग में भरोसा रखता है।**

जैनदर्शन की जैनेतर दर्शनों से तुलना करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि जैनदर्शन में वीतरागता को धर्म कहा है और अन्य अनेक दर्शनों में रागभाव (शुभराग) में धर्म बताया गया है। जैनदर्शन कहता है कि **होता स्वयं जगत परिणाम** पर ईश्वरवादी कहते हैं कि इस जगत की रचना सर्वशक्तिमान ईश्वर ने की है।

ये दार्शनिक मुद्दे हैं, जिनमें मतभेद हैं; पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय

ये सदाचार संबंधी बातें हैं; जो सभी में एक जैसी पाई जाती हैं; क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी को कौन भला कह सकता है ?

हिंसा, झूठ, चोरी को तो सरकार भी बुरा कहती है। यदि आप ये कार्य करेंगे तो सरकार आपको रोकेगी, शक्ति से रोकेगी।

सदाचार संबंधी एकता के आधार पर दर्शनों को एक नहीं माना जा सकता। दर्शन और धर्म हमारी निधि है, हमारी संस्कृति के अंग हैं, हमारी विकसित सभ्यता के प्रमाण हैं। इनकी उपेक्षा करके हम अपना सब कुछ खो देंगे।

दर्शनों की विभिन्नता हमारी संस्कृति के गुलदस्ते हैं, हमारी सहिष्णु सभ्यता के जीवन्त प्रमाण हैं, विभिन्नता में एकता और एकता में विभिन्नता भारतीय मिट्टी की सुगंध हैं। इसे नष्ट करके हम नहीं बच सकते। देश का विकास, गरीबों का उद्धार आदि सुनहरे नारे तो सभी राजनैतिक पार्टियाँ देती हैं, पर उनकी मूल विचारधाराओं में भारी अन्तर देखने में आता है; अन्यथा ये वामपंथी-दक्षिणपंथी एक क्यों नहीं हो जाते ?

जब वामपंथी और दक्षिणपंथी एक नहीं हो सकते हैं तो सभी दर्शन एक कैसे हो सकते हैं ? क्या राजनैतिक विचारधाराओं की विभिन्नता देश में कम झगड़े कराती है ? झगड़ा मिटाने के लिए पहले उन्हें एक कर दीजिये, फिर दर्शनों के बारे में सोचना।

चुनाव भाषणों में देश की एकता के लिए यह क्यों नहीं कहा जाता कि सभी पार्टियाँ एक ही हैं; क्योंकि सभी देश का विकास चाहती हैं, सभी गरीबों का उद्धार करना चाहती हैं। यदि उन्हें इस आधार पर एक नहीं किया जा सकता तो फिर दर्शनों को एक कैसे किया जा सकता है ?

एक भी राजनैतिक पार्टी यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि वह चुनाव प्रचार में यह कहे कि हम सब एक हैं; क्योंकि हम सभी आपकी भलाई चाहते हैं। वहाँ तो सभी अपनी रीति-नीति कार्यप्रणाली की

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

उपयोगिता ही बताते हैं; पर धर्म की चर्चा में यह कहने में भी डर लगता है कि हमारी दार्शनिक मान्यता ही सत्य है।

मेरे उक्त चिन्तन पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। **पण्डित टोडरमलजी तो साफ-साफ कहते हैं कि हम अपनी बात भी कहेंगे, उसे सत्य भी सिद्ध करेंगे; पर किसी से झगड़ा नहीं करेंगे।**

यदि सामनेवाला फिर भी झगड़ा करेगा तो हम चुप रहेंगे; उसकी बात का उत्तर नहीं देंगे, पर अपनी बात कहना भी बंद नहीं करेंगे।

यह मोक्षमार्गप्रकाशक का सार उन लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है, जो जैन हैं; जैनदर्शन में जिनकी पूर्ण आस्था है। अत: उनके समक्ष अन्य दर्शनों की मीमांसा करना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के तौर पर हम कह सकते हैं कि जब यहाँ बैठा कोई व्यक्ति ईश्वर को जगत का कर्ता-धर्ता मानता ही नहीं है तो फिर उसके सामने यह प्रस्तुत करने की क्या आवश्यकता है कि ईश्वर जगत का कर्ता-धर्ता नहीं है।

इसप्रकार जैनेतर मतों की समीक्षा पर अधिक बोलना-लिखना न तो आज के युग की परिस्थितियों के अनुकूल है और न इसकी विशेष आवश्यकता हमारे श्रोताओं और पाठकों को ही है। जिन लोगों को विशेष जिज्ञासा हो, वे लोग मूल ग्रन्थ का गहराई से स्वाध्याय करें।

इस अधिकार में जैनदर्शन की प्राचीनता सिद्ध करते हुए जैनेतर ग्रन्थों के अनेकानेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं; जो जैनदर्शन की प्राचीनता को तो सिद्ध करते ही हैं; साथ में पण्डितजी के जैन और जैनेतर ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन को भी प्रस्तुत करते हैं।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस ग्रंथ मोक्षमार्गप्रकाशक में विभिन्न प्राचीनतम भाषाओं में लिखे विभिन्न दर्शनों के महाभारत जैसे विशाल ६७ ग्रन्थों के सैकड़ों उद्धरण दिये गये हैं; जिनमें प्राचीनतम ग्रंथ वेदों के उद्धरण भी शामिल हैं।

उक्त ६७ ग्रन्थों में ३८ ग्रंथ तो जैनेतर भारतीय दर्शनों के ग्रन्थ हैं तथा

१९ जैन ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों की सूची मेरे शोध ग्रंथ 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' के पृष्ठ ३०-३१ पर दी गई है।

पण्डित टोडरमलजी के काल में ग्रन्थों की मुद्रण व्यवस्था नहीं थी। सभी ग्रंथ हस्तलिखित प्रतियों में ही प्राप्त होते थे। इसकारण उनकी उपलब्धता अत्यन्त कठिन थी। हमारी समझ में ही नहीं आता कि उन्होंने इतने ग्रन्थ कहाँ से और कैसे उपलब्ध किये थे।

वे कोई करोड़पति सेठ तो थे नहीं। उन्हें अपनी आजीविका के लिए जयपुर छोड़कर लगभग १५० किलोमीटर दूर सिंघाणा जाना पड़ा था। वहाँ वे एक साहूकार के यहाँ मुनीमी का कार्य करते थे। ऐसी परिस्थिति में ग्रंथों की उपलब्धता और भी कठिन हो जाती है।

उस जमाने में लोगों के घरों में तो शास्त्रों के उपलब्ध होने का कोई सवाल ही नहीं उठता, मंदिरों के शास्त्रभण्डारों में ही शास्त्र उपलब्ध होते थे। वे भी एक-एक, दो-दो प्रतियों में। उन्हें घर ले जाना संभव नहीं था, मंदिर में बैठकर ही उनका स्वाध्याय करना पड़ता था।

पठन-पाठन की कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी ऐसी परिस्थितियों में इतने महान ग्रन्थों का इतना गहरा अध्ययन; उनकी प्रतिभा, निष्ठा, धर्मप्रियता और करुणाभाव को प्रदर्शित करता है।

जैन मान्यतानुसार तो जैनदर्शन अनादि से है। तीर्थंकर जैनदर्शन के प्रवर्तक नहीं, प्रचारक हैं। जैनेतर ग्रन्थों के आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन सभी दर्शनों में प्राचीनतम दर्शन है। यह जानने के लिए पाँचवें अधिकार के इस प्रकरण का अध्ययन गहराई से अवश्य करना चाहिए।

जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करनेवाले इस प्रकरण के अध्ययन और प्रचार-प्रसार करने की सर्वाधिक आवश्यकता है; क्योंकि आजकल जैनेतर लोगों में यह प्रचार बड़े पैमाने पर हो रहा है कि **बौद्धधर्म भगवान बुद्ध ने चलाया और उसी समय जैनधर्म की स्थापना भगवान महावीर ने की थी। इस भ्रामक प्रचार के निषेध के लिए यह अत्यन्त उपयोगी प्रकरण है। इस दृष्टि से इस प्रकरण का पठन-पाठन अवश्य होना चाहिए।**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

लगभग सभी प्राचीनतम जैनेतर भारतीय साहित्य में, यहाँ तक कि वेदों में भी जैनधर्म के उल्लेख पाये जाते हैं; इससे सहज ही यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन वेदों से भी पहले का तो है ही।

आपको यह जानकर भी सुखद आश्चर्य होगा कि अब तक प्राप्त प्राचीन मूर्तियों के अवशेषों में सबसे प्राचीन अवशेष जैनमूर्तियों के ही हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक ओर तो पण्डित टोडरमलजी यह कहते हैं कि जिनमें विपरीत निरूपण द्वारा रागादि का पोषण किया गया हो, उन शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना गृहीत मिथ्याज्ञान है और दूसरी ओर उन्होंने स्वयं जैनेतर साहित्य का इतना अध्ययन किया। इस विरोधाभास का क्या कारण है ?

अरे, भाई ! आपने पण्डितजी द्वारा लिखी गई गृहीत मिथ्याज्ञान की परिभाषा को ध्यान से नहीं पढ़ा। उसमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि **जिनमें विपरीत निरूपण द्वारा रागादि का पोषण किया गया हो; उन शास्त्रों को 'श्रद्धानपूर्वक' पढ़ना-पढ़ाना गृहीत मिथ्यात्व है।**

इसमें आपने 'श्रद्धानपूर्वक' शब्द पर ध्यान नहीं दिया। इसकारण ही यह प्रश्न उपस्थित हुआ है।

जैनेतर शास्त्रों के पढ़ने का निषेध नहीं है। यदि उनके पढ़ने का सर्वथा निषेध करेंगे तो न केवल पण्डित टोडरमलजी, अपितु न्यायशास्त्र के उन सभी आचार्यों पर भी प्रश्नचिन्ह लग जावेगा; जिन्होंने स्वमत मण्डन और परमत खण्डन संबंधी ग्रन्थों की रचना की है; क्योंकि जैनेतर ग्रन्थों के अध्ययन के बिना तो यह कार्य संभव ही नहीं था। **आचार्य अकलंकदेव तो दीक्षा से पहले बौद्धों के विद्यालयों में बौद्धदर्शन का गहरा अध्ययन करने के लिए गये थे।**

यदि ऐसा है तो आप यह प्रेरणा क्यों देते हैं कि यहाँ-वहाँ के साहित्य को पढ़ने में समय खराब मत करो; उन आध्यात्मिक शास्त्रों का स्वाध्याय करो कि जिनमें राग का पोषण नहीं है और उस शुद्धात्मा का स्वरूप

समझाया गया है; जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन, जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और जिनमें जम जाने, रम जाने का नाम सम्यक्चारित्र है।

अरे, भाई ! यह बात उनके लिए कही जाती है; जिनके पास समय बहुत कम है। जो लोग या तो वृद्धावस्था के नजदीक पहुँच गये हैं या फिर धंधे-पानी में उलझे हुए हैं; उन लोगों के पास जो भी थोड़ा-बहुत समय है या उनमें से जो लोग थोड़ा-बहुत समय निकालते हैं; उन्हें उन्हीं शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए कि जिनमें सीधी आत्महित की ही बात हो।

जिसप्रकार यद्यपि छात्रों को पाठ्यक्रम के बाहर की पुस्तकों के पढ़ने का निषेध नहीं है; तथापि परीक्षा निकट हो और छात्र पढ़ाई में कमजोर हो तो उससे कहा जाता है कि यहाँ-वहाँ की पुस्तकें पढ़ने में समय बर्बाद मत करो, पाठ्यक्रम की किताबों को ही मन लगाकर पढ़ो; उसीप्रकार यद्यपि जैनेतर शास्त्रों के पढ़ने का निषेध नहीं है; तथापि यहाँ जिन लोगों को धार्मिक ज्ञान अल्प है, जिनके पास समय भी कम है, जिनका बुढ़ापा नजदीक है; उन लोगों को यह कहा जा रहा है कि प्रयोजनभूत तत्त्वों के प्रतिपादक शास्त्रों का ही स्वाध्याय करो, यहाँ-वहाँ मत भटको।

जिन लोगों ने सम्पूर्ण जीवन ही जिनागम के स्वाध्याय के लिए समर्पित कर दिया है; अत: जिनके पास समय की कोई कमी नहीं है; उन लोगों को न्याय, व्याकरण के साथ-साथ जैनेतर दर्शनों का भी ज्ञान अर्जित करना चाहिए। इससे उनके ज्ञान में तो निर्मलता आती ही है; वे आचार्यों की बातों को किसी के दूसरे के सहयोग के बिना समझ सकते हैं। **न्यायशास्त्र में निपुण होने से प्रयोजनभूत तत्त्वों को भी तर्क की कसौटी पर कसकर सम्यक् निर्णय कर सकते हैं। स्वयं के हित के साथ-साथ परहित में भी निमित्त बन सकते हैं, जिनवाणी की सुरक्षा में भी सहयोग कर सकते हैं।**

हम हमारे यहाँ अध्ययन करनेवाले छात्रों को व्याकरण, न्याय एवं अन्य दर्शन के ग्रन्थों का भी अध्ययन कराते हैं; पर मुख्यता जिन-अध्यात्म की ही रखते हैं। ●

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

आठवाँ प्रवचन

यह मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र है। इसमें **पाँचवें अधिकार** से गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र का विवेचन आरंभ हुआ है; जिसमें अभी जैनेतर मतों की समीक्षा संबंधी प्रकरण चल रहा है। इस पाँचवें अधिकार की विषयवस्तु का उल्लेख करते हुए '**पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व**' में लिखा गया है

''**पाँचवें अधिकार में गृहीत मिथ्यात्व का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके अंतर्गत विविध मतों की समीक्षा की गई है** जिसमें सर्वव्यापी अद्वैतब्रह्म, सृष्टिकर्तावाद, अवतारवाद, यज्ञ में पशु-हिंसा, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मुस्लिममत, सांख्यमत, नैयायिकमत, वैशेषिकमत, मीमांसक-मत, जैमिनीयमत, बौद्धमत, चार्वाकमत की समीक्षा की गई है तथा उक्त मतों और जैनमत के बीच तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अन्य मतों के प्राचीनतम महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के आधार पर जैनमत की प्राचीनता और समीचीनता सिद्ध की गई है। तदनन्तर जैनियों के अंतर्गत सम्प्रदाय श्वेताम्बरमत पर विचार करते हुए स्त्रीमुक्ति, शूद्रमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवली-कवलाहार-निहार, ढूंढकमत, मूर्तिपूजा, मुंहपत्ति आदि विषयों पर युक्तिपूर्वक विचार किया गया है।[१]''

अन्यमतों से जैनमत की तुलना करते हुए कहा था कि जैनदर्शन वीतरागभाव को धर्म मानता है; इसलिए सम्पूर्ण जिनवाणी में यत्र-तत्र-सर्वत्र वीतराग भाव का ही पोषण किया गया है।

मैंने स्वयं देव-शास्त्र-गुरु पूजन की जयमाला में जिनवाणी की स्तुति के प्रकरण में लिखा है कि

राग धर्ममय धर्म रागमय अबतक ऐसा जाना था।
शुभकर्म कमाते सुख होगा बस अबतक ऐसा माना था।।

१. पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ २५-२६

पर आज समझ में आया है कि वीतरागता धर्म अहा।
रागभाव में धर्म मानना जिनमत में मिथ्यात्व कहा।।
वीतरागता की पोषक ही जिनवाणी कहलाती है।
यह है मुक्ति का मार्ग निरन्तर हमको जो दिखलाती है।।

पंचास्तिकाय की समयव्याख्या नामक टीका में लिखा है कि **समस्त शास्त्रों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता ही है।**[१]

पण्डित टोडरमलजी तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों को ही वीतरागता के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं

''**इसलिए बहुत क्या कहें जिसप्रकार से रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है; जिसप्रकार से रागादि मिटाने का जानना हो, वही जानना सम्यग्ज्ञान है तथा जिसप्रकार से रागादि मिटें, वही आचरण सम्यक्चारित्र है ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।**[२]''

पण्डितजी के उक्त कथन में सम्यग्दर्शनादि तीनों की परिभाषाओं में रागादि को मेटना ही मुख्यरूप से विद्यमान है। जैनदर्शन की मूल भावना तो यही है।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी की निम्नांकित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं

''जैनमत में एक वीतरागभाव के पोषण का प्रयोजन है; सो कथाओं में, लोकादिक के निरूपण में, आचरण में व तत्त्वों में; जहाँ-तहाँ वीतराग भाव की पुष्टि की है। तथा अन्यमतों में सरागभाव के पोषण का प्रयोजन है।[३]''

उक्त संदर्भ में पण्डितजी महाकवि भतृहरि के वैराग्यशतक का एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है

''**एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्द्धधारी हरो,**
नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः।

१. आचार्य कुन्दकुन्द : पंचास्तिकाय, गाथा १७२ की टीका
२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२१३
३. वही, पृष्ठ १३७

दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषव्यासक्तमुग्धो जनः,
शेषः कामविडंबितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः ।।१ ।।

रागी पुरुषों में तो एक महादेव शोभित होते हैं, जिन्होंने अपनी प्रियतमा पार्वती को आधे शरीर में धारण कर रखा है और वीतरागियों में जिनदेव शोभित हैं, जिनके समान स्त्रियों का संग छोड़नेवाला दूसरा कोई नहीं है। शेष लोग तो दुर्निवार कामदेव के बाणरूप सर्पों के विष से मूर्च्छित हुए हैं, जो काम की विडम्बना से न तो विषयों को भलीभांति भोग ही सकते हैं और न छोड़ ही सकते हैं।''

उक्त छन्द में सरागी देवी-देवताओं में महादेव को प्रधान कहा है और वीतरागियों में जिनदेव को प्रधान कहा है। इससे भी सिद्ध होता है कि **जैनदर्शन में वीतरागता को ही धर्म माना गया है।**

यह बात इतनी स्पष्ट है कि इसे जैनेतर साहित्यकार भी अच्छी तरह जानते थे, जानते हैं और जानते रहेंगे; पर आज जो देखने में आ रहा है, उससे लगता है कि जैनी लोग अपनी इस बात को भूलते जा रहे हैं और शुभराग को धर्म मानकर, उसी में मग्न हैं।

मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि आप अपने बाप-दादाओं के बही-खाते उठाकर देखिये। उनमें सबसे पहले **'वीतरागाय नमः'** लिखा मिलेगा।

पुराने जमाने में दीपावली के अवसर पर घर के दरवाजे पर **'वीतरागाय नमः'** लिखा जाता था और जब कोई पत्र लिखते थे तो सबसे पहले सबसे ऊपर **'वीतरागायः नमः'** लिखते थे। शादी की लग्न पत्रिका में भी तथा निमंत्रण पत्रिकाओं में भी सबसे ऊपर **'वीतरागाय नमः'** लिखा जाता था। 'वीतरागता ही धर्म है' यह बात पीढ़ियों से हमारे रोम-रोम में समाहित रही है। हम सब अपने जन्म से यही प्रार्थना करते आ रहे हैं कि

इन्द्रादिक पद नहीं चाहूँ, विषयन में नहिं लुभाऊँ।
रागादिक दोष हरीजै, परमातम निजपद दीजै।।[१]

१. पण्डित दौलतराम : देवस्तुति का अंतिम छन्द

पर आज न मालूम क्या हो गया हमें; जो हम राग को ही धर्म मानने पर उतारू हैं। इस बात पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

जैनियों में भी दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से दो सम्प्रदाय हैं। पण्डितजी ने दोनों सम्प्रदायों में समागत गृहीत मिथ्यात्व संबंधी विकृतियों की भी खुलकर आलोचना की है। पर विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि **श्वेताम्बर सम्प्रदाय संबंधी गृहीत मिथ्यात्व की चर्चा इसी पाँचवें अधिकार में की है और दिगम्बरों में प्राप्त होनेवाले गृहीत मिथ्यात्व संबंधी विकृतियों की चर्चा छठवें-सातवें अधिकार में की गई है।**

दिगम्बर-श्वेताम्बर रूप में हुआ जैनियों का यह विभाजन अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के अन्तिम काल में हुआ था।

आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में जैन मुनियों का एक विशाल संघ उज्जैनी नगरी में चातुर्मास कर रहा था। आहार को जाते समय आचार्य श्री भद्रबाहु ने एक नग्न बालक को भूख से बिलखते हुए देखा। उस दृश्य को देखकर उन्होंने अपने निमित्तज्ञान से जाना कि यहाँ निकट भविष्य में १२ वर्ष तक का भीषण अकाल पड़नेवाला है।

जब उन्होंने यह बात सभी संघ को बताई और कहा कि यहाँ अपना निर्वाह होना संभव नहीं है; अतः हम सभी को कम से कम १२ वर्ष के लिए दक्षिण भारत की ओर चले जाना चाहिए।

उस समय मगध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य भी वहीं पर थे। यह सुनकर वे भी दीक्षित हो गये।

जब सभी संघ दक्षिण की ओर विहार करने लगा; तब जनता के अनुरोध पर संघ का एक छोटा हिस्सा वहीं रह गया। शेष सभी मुनिराज आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत की ओर विहार कर गये। नव दीक्षित सम्राट चन्द्रगुप्त भी उनके साथ थे।

भीषण अकाल के कारण उज्जैनी की स्थिति जब ऐसी हो गई कि मुनिराज आहार करके लौटकर जंगल की ओर जाते थे तो लोग उनका

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

भरा पेट देखकर, पेट को चीरकर भोजन निकाल कर खा जाते थे।

आपातकाल की ऐसी स्थिति में संघ ने आपात्कालीन व्यवस्था बनाई कि जब मुनिराज आहार को जावे, तब एक वस्त्र लपेट कर जावें, बर्तन लेकर जावें, भोजन उसमें लावें और आकर जंगल में आहार करें। आहार के लिए नगर में जाते समय एक एढ़ी-टेढ़ी लाठी भी साथ में रखें।

उसके पीछे चिन्तन यह था कि आहार लकड़ी के बर्तन में लायेंगे तो लोग बर्तन ही छीनेंगे, पेट को तो नहीं चीरेंगे। कपड़ा इसलिए कि भोजन के बर्तन को ढंक कर लाया जा सके।

यद्यपि मुनिराजों को किसी से लड़ना नहीं है, लाठी से किसी को मारना भी नही है; तथापि निर्विष सर्प को भी फुंफकारना तो सीखना ही चाहिए, अन्यथा उनका रहना ही मुश्किल हो जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार लाठी हाथ में रखना जरूरी समझा गया। लाठी का टेढ़ी-मेढ़ी होना भी इसलिए जरूरी था कि जिसे कोई चुराये नहीं। सुन्दरतम लाठी के चुराये जाने की संभावना अधिक रहती है।

बर्तन भी लकड़ी के इसलिए कि उन्हें कोई चुराये नहीं; धातु के बर्तन कीमती होने से उनके चुराये जाने की संभावना अधिक हो जाती है।

आपातकाल समाप्त हो जाने पर जब यह कहा गया कि अब हम अपने मूलरूप नग्न दिगम्बर अवस्था में आ जायें तो बहुत कुछ लोग मूल अवस्था में आ गये, पर कुछ सुविधाभोगी तर्क करने लगे कि जब हम बारह वर्ष तक उक्त स्थिति में रहते हुए मुनिराज रह सकते हैं तो सदा क्यों नहीं रह सकते ?

इसप्रकार अकाल के समय उज्जैन में रह गया संघ भी विभाजित हो गया। जो लोग सफेद वस्त्र धारण करके भी अपने को मुनिराज मानने लगे थे, वे श्वेताम्बर कहलाये और शेष नग्न दिगम्बर संत दिगम्बर कहे जाने लगे। आचार्य भद्रबाहु के साथ गये लोग तो दिगम्बर थे ही।

इस घटना के पहले न तो किसी को दिगम्बर कहा जाता था, न

किसी को श्वेताम्बर; सभी दिगम्बर ही रहते थे; पर सभी का नाम तो एक जैन साधु ही था।

श्वेताम्बर मुनिराज भी आरंभिक अवस्था में उस समय ही वस्त्र ग्रहण करते थे कि जब भोजन सामग्री लेने नगर में जाते थे, शेष काल जंगल में तो वे नग्न ही रहते थे; पर धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ गई कि वे चौबीसों घंटे वस्त्रों में रहने लगे।

इसप्रकार जब सवस्त्र मुक्ति आ गई तो फिर उसके सहारे स्त्री मुक्ति और ग्रहस्थ मुक्ति भी आ गई।

भाग्य की बात है कि तबतक भगवान महावीर की वाणी कंठाग्र ही चल रही थी। जितना भी जैन साहित्य अभी उपलब्ध होता है, वह सभी आचार्य भद्रबाहु के बाद का ही है। अत: दोनों परम्पराओं का साहित्य भी स्वत: ही अलग-अलग हो गया।

दिगम्बराचार्यों ने जो साहित्य लिखा, वह तो उन्होंने स्वयं के नाम से ही लिखा और भगवान महावीर की आचार्य परम्परा से उसे जोड़ा। यही कहा कि भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति आदि गणधरों से लेकर हमारे गुरु पर्यन्त जो अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही है; हमें यह ज्ञान उसी से प्राप्त हुआ है और उसे ही हम लिखित रूप से व्यवस्थित कर रहे हैं; पर श्वेताम्बर आचार्यों ने जो साहित्य लिखा, उसे गणधरों द्वारा लिखित घोषित किया। नाम भी वैसे ही रखे जो द्वादशांग जिनवाणी में बताये गये हैं। जैसे आचारांग, सूत्रकृतांग आदि।

पर उन ग्रन्थों का जो स्तर है; वह द्वादशांग के पाठी गणधरदेव की प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है। यही कारण है कि श्वेताम्बर मत की समीक्षा करते समय पण्डित टोडरमलजी सबसे पहले उनके यहाँ उपलब्ध साहित्य के संबंध में बात करते हैं। अनेक तर्क और युक्तियों से यह प्रमाणित करते हैं कि आज जो ग्रन्थ उनके यहाँ उपलब्ध होते हैं; वे महावीर के प्रथम गणधर द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता श्रुतकेवली इन्द्रभूति गौतम के द्वारा लिखित नहीं हो सकते।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

द्वादशांगरूप जो श्रुतज्ञान है; उसमें आचारांग के अठारह हजार पद माने गये हैं; श्वेताम्बरों के यहाँ जो आचारांग सूत्र प्राप्त होता है, वह बहुत छोटा है।

इस पर वे कहते हैं कि उसका कुछ अंश रखा गया है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह अधूरा है या पूरा ?

यदि खो गया है तो यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि आरंभ का खोया है, मध्य का खोया है या फिर अन्त का खो गया है ? यदि मध्य का खोया तो प्राप्तांश टूटक रहा। ऐसा टूटा-फूटा ग्रन्थ प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है ?

ऐसी और भी अनेक निराधार बातें हैं, जो तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। जिन्हें सिद्ध करना संभव नहीं है; उन बातों को अछेरा कहकर सामनेवाले का मुँह बंद करने का प्रयास किया गया है।

'अछेरा' का अर्थ यह है कि इसे छेड़ो मत, इसके बारे में तर्क-वितर्क मत करो; बस यों ही मान लो कि ये ऐसा ही है, अतिशय है। इस बारे में भी पण्डितजी ने समीक्षा की है, जो मूलत: पठनीय है।

इसके बाद श्वेताम्बरों द्वारा माने गये देव, गुरु और धर्म के संबंध में विस्तार से विचार किया गया है।

उक्त सन्दर्भ में विस्तारभय से यहाँ कुछ विशेष कहना संभव नहीं है; जिन्हें विशेष जिज्ञासा हो, वे मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त प्रकरण का गंभीरता से अध्ययन अवश्य करें।

इसके बाद वे ढूढकमत अर्थात् स्थानकवासी सम्प्रदाय की समीक्षा करते हैं। श्वेताम्बर समाज में मुँहपट्टी का प्रयोग करनेवाले स्थानकवासी और तेरापंथी नाम से दो संप्रदाय हैं। स्थानकवासी सम्प्रदाय के संत कपड़े की जिन मुँहपट्टियों का प्रयोग करते हैं, वे मुँहपट्टियाँ अपेक्षाकृत अधिक चौड़ी होती हैं और उनमें डोरी मात्र ऊपर की ओर ही रहती है; किन्तु श्वेताम्बर तेरापंथी सम्प्रदायवालों की मुँहपट्टियाँ अपेक्षाकृत कम चौड़ाई की होती हैं और उनमें नीचे और ऊपर दोनों ओर डोरी लगी होती है।

पण्डित टोडरमलजी के समय या तो श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय होगा ही नहीं। यदि होगा भी तो, वह अत्यन्त आरंभिक अवस्था में होगा। यही कारण है कि उन्होंने मोक्षमार्गप्रकाशक में उनकी कोई चर्चा नहीं की।

स्थानकवासी (ढूढिया) सम्प्रदाय उनके दो-ढाई सौ वर्ष पहले आरंभ हो चुका था। उसकी मान्यताओं की समीक्षा इस मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में विस्तार से की गई है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय में मुँहपट्टी के साथ-साथ दूसरा अन्तर मूर्ति-मंदिर के निषेध का है। वे मंदिर नहीं बनवाते, मूर्तियाँ प्रतिष्ठित नहीं करते, मंदिरों के स्थान पर स्थानक बनवाते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति की भी समीक्षा यहाँ की गई है।

पण्डितजी कहते हैं कि अहिंसा का एकान्त पकड़ कर प्रतिमा, चैत्यालय (मंदिर) और पूजनादि क्रिया का निषेध करना ठीक नहीं है; क्योंकि उनके (स्थानक वासियों के) शास्त्रों में भी प्रतिमा आदि का निरूपण पाया जाता है। भगवती सूत्र में ऋद्धिधारी मुनि का निरूपण है।

उक्त प्रकरण में ऐसा पाठ है कि मेरुगिरि आदि में जाकर **'तत्थ चेययाइं वंदई'** **इसका अर्थ यह है कि वहाँ जाकर चैत्यों की वंदना करते हैं। 'चैत्य' शब्द का प्रयोग प्रतिमा के अर्थ में होता है यह बात तो सर्वजन प्रसिद्ध ही है।**

इस पर वे कहते हैं कि **चैत्य** शब्द के **ज्ञानादि** अनेक अर्थ होते हैं? अत: चैत्य शब्द का अर्थ प्रतिमा न लेकर ज्ञान लेना चाहिए; किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञान की वंदना तो कहीं भी की जा सकती है। **ज्ञान की वंदना के लिए मेरुगिरि पर या नन्दीश्वर द्वीप में जाने की क्या आवश्यकता है ?**

अत: यहाँ चैत्य शब्द का प्रतिमा अर्थ ही सही है। चैत्यों के विराजमान होने से उक्त जिनमंदिरों को चैत्यालय कहा जाता है।

अरे भाई ! जिसप्रकार काष्ठ-पाषाण आदि की महिलाओं की मूर्ति

को देखकर विकारभाव होता है; उसीप्रकार जिनप्रतिमा को देखकर भक्तिभाव क्यों नहीं होगा ?

इसप्रकार पण्डितजी अनेक आगम प्रमाण और युक्तियों के आधार से मूर्ति और मंदिरों की स्थापना करते हैं।

यद्यपि पण्डितजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में मंदिरमार्गी मूर्तिपूजक और स्थानकवासी श्वेताम्बरों की चर्चा बहुत विस्तार से की है; तथापि हमें यहाँ उक्त संदर्भ में विशेष चर्चा करना अभीष्ट नहीं है। जिन भाई-बहिनों को उक्त संदर्भ में विशेष जानना हो; वे मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त प्रकरणों का निष्पक्षभाव से गंभीर अध्ययन करें।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस पाँचवें अधिकार में अन्य मतों की समीक्षा के साथ-साथ मूर्तिपूजक मंदिरमार्गी श्वेताम्बर मत और स्थानक-वासी श्वेताम्बर मतवालों की भी समीक्षा की गई है।

इसके बाद छठवाँ अधिकार आरंभ होता है। इस अधिकार में गृहीत मिथ्यात्व के ही अन्तर्गत कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का स्वरूप बताकर उनकी उपासना का निषेध किया गया है। इसके ही अंतर्गत गणगौर, शीतला, भूत-प्रेतादि व्यंतर, सूर्य-चन्द्र-शनिश्चरादि ग्रह, पीर-पैगम्बर, गाय आदि पशु, अग्नि, जलादि के पूज्यत्व पर भी विचार किया गया है।

इसके अतिरिक्त क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि एवं यक्ष-यक्षिका की पूजा-उपासना आदि के संदर्भ में सयुक्ति विवेचन प्रस्तुत किया गया है और इनको पूजने का निराकरण किया गया है।

पाँचवें अधिकार में जैनेतर एवं श्वेताम्बर मत की समीक्षा के उपरान्त अब इस छठवें अधिकार में दिगम्बर धर्म के अनुयायियों में प्राप्त होनेवाली गृहीत मिथ्यात्व संबंधी विकृतियों की चर्चा आरंभ करते हैं।

कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के संदर्भ में सर्वप्रथम यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि अदेव को देव, अगुरु को गुरु और अधर्म को धर्म मान लेना ही कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की उपासना है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन में वीतरागी-सर्वज्ञ अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी सच्चे देव हैं, वीतरागता के मार्ग पर चलनेवाले छटवें-सातवें गुणस्थान और उसके

आगे बारहवें गुणस्थान तक के संत ही देव-गुरु-धर्मवाले गुरु हैं तथा वीतरागतारूप और वीतरागता की पोषक परिणति ही धर्म है।

कहीं-कहीं अरहंत भगवान को भी परमगुरु कहा गया है। अत: हम यह भी कह सकते हैं कि पंच परमेष्ठियों में सिद्ध भगवान देव हैं और शेष चार परमेष्ठी अरहंत, आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि लोक में विद्यागुरु को भी गुरु कहा जाता है; माता-पिता, बड़े भाई आदि पारिवारिक पूज्यपुरुषों को भी गुरु शब्द से अभिहित किया जाता है। अत: यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि यहाँ जिन गुरुओं की बात चल रही है; वे गुरु देव-शास्त्र-गुरुवाले गुरु ही हैं; अन्य अध्यापकादि और घर के पूज्यपुरुष नहीं।

जैनदर्शन अकर्तावादी दर्शन है। उसके अनुसार कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य की परिणति का कर्ता-धर्ता नहीं है। निश्चय अर्थात् परमसत्य बात तो यही है; यदि कहीं किसी द्रव्य को किसी अन्य द्रव्य का कर्ता-धर्ता कहा गया हो तो उसे प्रयोजनवश निमित्तादि की अपेक्षा व्यवहारनय से किया गया उपचरित कथन ही समझना चाहिए।

जैनदर्शन में सच्चे देव को वीतरागी और सर्वज्ञ होने के साथ-साथ हितोपदेशी अर्थात् हित का उपदेश देनेवाला तो कहा गया है; किन्तु पर के हित-अहित का कर्ता-धर्ता नहीं माना गया।

अत: यदि कहीं इसप्रकार का व्यवहार कथन प्राप्त हो जाय कि भगवान ने उसका भला किया तो उसका अर्थ यही समझना चाहिए कि भगवान की दिव्यध्वनि में समागत तत्त्वज्ञान को समझ कर उस व्यक्ति ने स्वयं ही स्वयं का भला किया है, भगवान ने उसमें कुछ नहीं किया है।

उक्त तथ्य पर पण्डितजी ने आगे चलकर सातवें अधिकार में अनेक तर्क और युक्तियों के माध्यम से पर्याप्त प्रकाश डाला है।

यदि कोई व्यक्ति अरहंतादिक को भी पर का कर्ता-धर्ता मानकर पूजे तो उसकी वह मान्यता कुदेव संबंधी मान्यता होगी।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि कोई व्यक्ति भगवान आदिनाथ से महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों को भी अपने हित-अहित का कर्ता माने तो क्या वे भी कुदेव कहलायेंगे ?

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि वे तो सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी होने से सच्चे देव ही हैं; तथापि उसकी वह मान्यता गृहीत मिथ्यात्वरूप कुदेव संबंधी मिथ्या मान्यता अवश्य है; क्योंकि उससे वह अपनी **'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता है'** इस अनादिकालीन मिथ्या मान्यता का पोषण कर रहा है।

अरे, भाई ! कोई व्यक्ति कुदेव नहीं होता; वह तो यदि सच्चा देव नहीं है, सर्वज्ञ और वीतरागी नहीं है तो अदेव है। इसप्रकार अरहंत और सिद्धों को छोड़कर समस्त संसारी जीव अदेव हैं। उनमें से किसी को भी हम अरहंत-सिद्ध जैसा सच्चा देव माने, सच्चा देव मानकर पूजें तो हमारी वह मान्यता देवसंबंधी कुदेव को माननेरूप गृहीत मिथ्यात्व है।

इस पर कोई कह सकता है कि तो क्या हम देवगति के देवों को भी देव नहीं कह सकते, देव नहीं मान सकते ?

नहीं; भाई ! ऐसी बात नहीं है। देवगति के देवों को देव कहने या मानने में कोई आपत्ति नहीं है; परन्तु धार्मिक आधार पर अरहंत-सिद्ध जैसी पूज्यता उनमें नहीं है।

यहाँ इस प्रकरण में गृहीत मिथ्यात्व के संदर्भ में सच्चे देव और कुदेव की बात चल रही है। इससे देवगति के देवों का कोई लेना-देना नहीं है। वस्तुतः बात तो ऐसी है कि ये वीतरागी-सर्वज्ञ सच्चे देव देवगति में नहीं; मनुष्यगति में होते हैं, पंचमगति (सिद्ध-अवस्था) में होते हैं। अरहंत भगवान मनुष्यगति के जीव हैं और सिद्ध भगवान पंचमगति के जीव हैं।

पण्डित टोडरमलजी के काल में दिगम्बर जैनियों में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि लोग देव के नाम पर भूत-प्रेतादि व्यन्तरदेवों की उपासना करने लगे थे। आज भी स्थिति कोई विशेष अच्छी हो ऐसा

नहीं माना जा सकता; क्योंकि आज भी बहुत से लोग धर्म के नाम पर इसप्रकार की प्रवृत्तियों में लगे रहते हैं और इसप्रकार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देनेवाले कुगुरुओं की भी कहीं कोई कमी नहीं है।

उक्त सभी प्रवृत्तियाँ गृहीत मिथ्यात्व संबंधी प्रवृत्तियाँ हैं। इनके संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी ने इस अधिकार में खुलकर चर्चा की है।

वे लिखते हैं कि **बहुत से जीव इस पर्याय संबंधी शत्रुनाशादिक, रोगादि मिटाने, धनादि व पुत्रादिक की प्राप्ति के लिए कुदेवादिक को पूजते हैं; भूत-प्रेतादि व्यंतरों को पूजते हैं; सूर्य-चन्द्रमादि ज्योतिषियों को पूजते हैं; पीर-पैगम्बर को पूजते हैं; गाय, घोड़ा, सर्पादि तिर्यंचों को पूजते हैं, अग्नि-जलादिक को पूजते हैं, हथियारों को पूजते हैं; अधिक क्या कहें रोड़ा आदि को भी पूजते हैं।**

इन सबको पूजने का निषेध करते हुए वे लिखते हैं कि यदि अपने पाप का उदय हो तो वे सुख नहीं दे सकते और पुण्य का उदय हो तो दुख नहीं दे सकते तथा उनको पूजने से पुण्यबंध भी नहीं होता, रागादिक की वृद्धि होने से पापबंध ही होता है; इसलिए उनका मानना-पूजना कार्यकारी नहीं है, बुरा करनेवाला है।

कुदेवों के प्रकरण का समापन करते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि देखो तो मिथ्यात्व की महिमा ! **लोक में तो अपने से नीचे को नमन करने में अपने को निंद्य मानते हैं और यहाँ मोहित होकर रोडों को तक पूजते फिरते हैं।**

इस पर कोई कहता है कि उनके पूजने से भले ही कोई लाभ न हो, पर हानि भी नहीं है।

इसतरह की बातें दवाईयों के बारे में भी बहुत चलती हैं। लोग कहते हैं कि होम्योपैथिक दवाई से यदि फायदा नहीं होगा तो नुकसान भी नहीं होगा; पर ऐसा कैसे हो सकता है ? जो नुकसान नहीं करेगी, वह दवाई बीमारी को भी नुकसान कैसे पहुँचा सकती है ? जब बीमारी को भी नुकसान नहीं पहुँचायेगी तो फिर बीमारी का अभाव कैसे होगा ?

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

अत: यह बात पक्की ही है कि जो वस्तु नुकसान नहीं पहुँचा सकती, वह लाभ भी नहीं पहुँचा सकती।

कुछ लोग कहते हैं कि मैं तो किसी से भी राग-द्वेष नहीं रखता। डॉक्टर की दवाई तो लेता ही हूँ, साथ में वैद्यजी की भी ले लेता हूँ। होम्योपैथिक की मीठी-मीठी गोलियाँ तो चलती ही रहती हैं। साथ में झाड़ाफूँक, एक्यप्रेशर और रेकी भी करवा लेता हूँ। सभी कुछ एक साथ चलता है; जिससे लाभ होना होगा, हो जायेगा।

इसीप्रकार धर्म के संबंध में भी लोग बहुत उदार हैं। जिनेन्द्र भगवान के साथ-साथ सभी देवी-देवता और पीर-पैगम्बर की भी आराधना चलती रहती है; क्योंकि उनकी मान्यता ऐसी है कि जिससे जो लाभ होता होगा, हो जायेगा; हानि तो कुछ है ही नहीं।

अरे, भाई ! ऐसा नहीं होता। मान लीजिए हमें उच्च रक्तचाप रहता है तो डॉक्टर उसे ठीक करने की दवाई देगा और वैद्य भी देगा; तब क्या दवाई की मात्रा (डोज) दुगुनी (डबल) नहीं हो जायेगी ? दुगुनी मात्रा से रक्तचाप इतना कम हो सकता है कि जीवन भी संकट में पड़ जावे।

जब दवाइयों में ऐसा नहीं चल सकता है तो धर्म के बारे में कैसे चलेगा ? रागी और वीतरागी की पूजा एक साथ कैसे हो सकती है ?

इसलिए ऐसा मानना सही नहीं है कि यदि लाभ नहीं होगा तो नुकसान भी नहीं होगा।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का कहना यह है कि अरे भाई, यदि बिगाड़ नहीं होता तो हम निषेध क्यों करते ? सबसे बड़ा बिगाड़ तो यह है कि कुदेवों की आराधनारूप इस गृहीत मिथ्यात्व से अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व पुष्ट होता है; जिसके कारण यह जीव अनन्तकाल तक संसार में रुलता हुआ अनंत दुख प्राप्त करता है और दूसरे इसप्रकार की प्रवृत्तियों से पाप बंध भी होता है।

इस पर भी वह कहता है कि मिथ्यात्वादि भाव तो अतत्त्वश्रद्धान

होने पर होते हैं और पापबंध बुरे कार्य करने से होता है; क्षेत्रपालादि के मानने से मिथ्यात्वभाव और पापबंध किसप्रकार होता है ?

इसके उत्तर में पण्डितजी कहते हैं कि पहली बात तो यह है कि परपदार्थों को इष्टानिष्ट मानना मिथ्या है, मिथ्यात्व है; क्योंकि अन्य पदार्थ किसी के शत्रु-मित्र हैं ही नहीं और कुदेवों को मानने से परपदार्थों में इष्टानिष्टबुद्धि पुष्ट होती है, वृद्धि को प्राप्त होती है, मिटती नहीं है।

दूसरी बात यह है कि कुदेवादिक आजतक किसी को भी धनादिक पदार्थ देते देखे नहीं गये और छीनते भी नहीं देखे गये; अत: इन्हें मानने-पूजने से कोई लाभ नहीं है; अपितु इनको मानना-पूजना अनर्थकारी ही है।

कुदेवादि के मानने-पूजनेरूप परिणाम तीव्र मिथ्यात्वादिरूप हैं; इसकारण इनके रहते हुए मुक्ति का मार्ग भी अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है।

मानने शब्द का अर्थ पूजना भी होता है और अस्तित्व स्वीकार करना भी होता है। इसलिए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस शब्द का अर्थ हम प्रकरणानुसार ही करें।

एक व्यक्ति ने मुझसे पूछा कि क्या आप व्यन्तरादिक देवों को मानते हैं ?

जब मैंने कहा "हाँ, मानते हैं।" तब वह एकदम नाराज होते हुए कहने लगा

"तुम, पण्डित होकर, तेरापंथी होकर, टोडरमल स्मारक में बैठकर व्यन्तरों को मानते हो ऐसा कहते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती ?"

मैंने अत्यन्त धैर्य के साथ कहा "क्या पण्डित टोडरमलजी व्यन्तरों को नहीं मानते थे, क्या वे तत्त्वार्थसूत्र को नहीं मानते थे ?

अरे भाई ! चार प्रकार के देवों में एक प्रकार के देव व्यन्तरदेव भी हैं। हम ऐसा मानते हैं कि देवों में एक व्यन्तरदेवों की भी जाति है, लोक में उनका भी अस्तित्व है। यह बात प्रत्येक जैनी को मानना चाहिए,

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि उनके अस्तित्व से इन्कार करना भी तो सत्य का अपलाप करना है।''

वस्तुत: बात यह है कि लोग मानने का अर्थ पूजना या पूजने के योग्य मानना ही समझते हैं। मानने का एक अर्थ पूजना भी हो सकता है; क्योंकि लोक में इसप्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं; किन्तु **मानने का असली अर्थ तो उनके अस्तित्व को स्वीकार करना है।**

हम उन्हें पूजने योग्य नहीं मानते, उनकी पूजा करने को गृहीत मिथ्यात्व मानते हैं; पर लोक में उनके अस्तित्व से भी इन्कार नहीं करते।

इसीप्रकार का प्रश्न ज्योतिषशास्त्र के संबंध में किया जाता है कि आप ज्योतिष को मानते हैं? यदि हम कह दें कि मानते हैं तो फिर यही कहा जाने लगता है कि सब बकवास है।

अरे भाई ! कोई ज्योतिषी गलत हो सकता है, ठग हो सकता है; परन्तु ज्योतिष शास्त्र तो गलत नहीं है, ज्योतिष विद्या तो ठग विद्या नहीं है। यदि कुछ लोगों ने ज्योतिष के नाम पर ठगी का धंधा आरंभ कर दिया है, तो इसकारण ज्योतिष शास्त्र को तो ठग विद्या नहीं माना जा सकता। जब हम यह कहते हैं कि ज्योतिष भी है तो लोग समझते हैं कि हम उन ठगों का समर्थन कर रहे हैं, जो ज्योतिष के नाम पर लोगों को ठगते हैं।

अरे भाई ! हम ज्योतिषियों को नहीं, ज्योतिष विद्या को निमित्तज्ञान का अंग मानते हैं। इसीप्रकार **हम व्यंतरों का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं, पर उन्हें पूज्य नहीं मानते, उनकी पूजा नहीं करते।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि पण्डित टोडरमलजी ने प्रत्येक वस्तुस्थिति को बड़े ही संतुलन के साथ प्रस्तुत किया है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि वे दूसरों का भला-बुरा करते भी देखे जाते हैं; डराते-धमकाते तो हैं ही; आगे-पीछे की बातें भी बताते हैं।

इसके उत्तर में पण्डितजी कहते हैं कि वे भला-बुरा करने की बातें चाहे जितनी भी करें, पर वे किसी का भला-बुरा कर नहीं सकते; किन्तु

जो लोग उन्हें पूजते हैं, वे **बुरा न कर दें इस डर से और भला कर देंगे** इस लोभ से ही पूजते हैं या फिर उनसे हमें भविष्य की बातों का पता चल जावेगा इस आशा से पूजते हैं; परन्तु बात यह है कि मनुष्यों के समान **वे भी रागी-द्वेषी और कौतूहलप्रिय होने से कभी सत्य बोलते हैं तो कभी झूठ भी बोलते हैं। अत: उनके कथनों के आधार पर कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता; क्योंकि किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए सच्चाई की विश्वसनीयता होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए उनका ज्ञान भी हमारे किसी काम का नहीं है।**

व्यन्तर देवों को अवधिज्ञान होता है। उसके माध्यम से वे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा में बाह्य पौद्गलिक पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं। उनका यह अवधिज्ञान एक तो इसलिए निरर्थक है कि उसकी गति मात्र पौद्गलिक पदार्थों में है, आत्मा में नहीं और आत्मा का कल्याण तो आत्मा को जानने से होता है; पौद्गलिक पदार्थों को जानने से नहीं।

दूसरे उनके अवधिज्ञान की काल संबंधी मर्यादा भूतकाल की अपेक्षा भविष्यकाल की बहुत कम होती है। हमें भूतकाल को जानने में कोई रस नहीं है, हम तो भविष्य के बारे में जानना चाहते हैं; क्योंकि भूतकाल तो बीत चुका है और उसे तो बहुत कुछ हम भी जानते हैं।

व्यन्तर देव भूतकालीन बातें बता कर हमारा विश्वास प्राप्त कर लेते हैं; पर जब हम भविष्य की बात करते हैं तो....।

भविष्य की जिस बात को वे जानते नहीं है, उसके बारे में भी वे मान कषाय के कारण यह नहीं कह सकते कि हमें इस बात का पता नहीं है; अत: झूठ-सच कुछ भी बोल देते हैं। यह तो वे जानते ही हैं कि मैंने २० वर्ष आगे की बात बताई है; उसकी सच्चाई का पता तो बीस वर्ष बाद ही चलेगा। अत: कुछ भी चिन्ता करने की बात नहीं है।

इसतरह हम उनके उस अवधिज्ञान से भी कोई लाभ नहीं उठा सकते।

कुतुहलवश तो वे झूठ बोलते ही हैं, मानकषाय के वश होकर भी वे

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

कम झूठ नहीं बोलते। यह तो आप जानते ही हैं कि जब तक किसी बात की सच्चाई का भरोसा न हो, उससे लाभ लेना संभव नहीं है।

सदा सत्य बोलने वाले तो महान होते ही हैं; उनसे तो लाभ मिलता ही है, किन्तु जो लोग सदा ही गारंटी से झूठ बोलते हैं; कदाचित् उनसे भी लाभ उठाया जा सकता है; क्योंकि सुनिश्चितता होने से हम किसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं; किन्तु जो कभी झूठ और कभी सत्य बोलता है, उससे लाभ प्राप्त करना संभव नहीं है। व्यंतरों की यही अप्रमाणिकता **हमें उनसे सदा दूर ही रहना चाहिए** इसके लिए प्रेरित करती है।

प्रश्न सदा झूठ बोलनेवालों से लाभ उठाने की बात स्पष्ट नहीं हुई। कृपया उदाहरण देकर स्पष्ट करें ?

उत्तर जब हम किसी व्यक्ति से बाजारभाव के संदर्भ में मंदी-तेजी के बारे में पूछते हैं; तब यदि वह हमें सदा सत्य ही बताता है, सही सलाह देता है, ऐसी स्थिति में उससे तो लाभ उठाया ही जा सकता है; परन्तु जब कोई व्यक्ति सदा उल्टा ही बताता है; मंदी हो तो तेजी बताता है, तेजी हो तो मंदी बताता है; तब भी हम उससे लाभ उठा सकते हैं; क्योंकि हम जानते हैं कि इसने मंदी की बात की है तो बाजार में अवश्य तेजी होगी; इसीप्रकार तेजी की बात है तो मंदी ही होगी। इसप्रकार हमें बाजार की सही स्थिति का ज्ञान हो जाता है और हम उसके आधार पर सही निर्णय ले सकते हैं; किन्तु जो व्यक्ति कभी सत्य, कभी झूठ बोलता है; उसके वचनों के आधार पर तो कोई भी निर्णय लेना खतरे से खाली नहीं है।

व्यन्तरदेवों की यही कभी सत्य और कभी झूठ बोलने की आदत हमें किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायक नहीं है, उपयोगी नहीं है।

अत: व्यन्तरदेवों की पूजा-भक्ति से न तो लौकिक लाभ है और न पारलौकिक; अपितु गृहीत मिथ्यात्व होने से हानि ही हानि है; अत: उनकी पूजा-भक्ति करना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है। ●

नौवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक का **छठवाँ अधिकार** चल रहा है; जिसमें कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के संदर्भ में विशेष निरूपण है। उक्त संदर्भ में व्यन्तरादि देवों की चर्चा चल रही है। उनकी प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि कल्पित देवों के जो चमत्कारादि देखे जाते हैं; वे सभी व्यन्तरादि देवों द्वारा ही किये जाते हैं। पूर्व पर्याय में कोई व्यक्ति उनका सेवक था। वह मरकर व्यंतर हो गया, तब वह उनको मानने की प्रवृत्ति चलाने के लिए कुछ चमत्कार दिखाता है तो यह भोला जगत प्रभावित हो जाता है।

जिनप्रतिमादि के भी जो अतिशय देखने-सुनने में आते हैं; वे सभी भी जिनकृत नहीं हैं; उनमें श्रद्धा रखनेवाले व्यन्तरों के ही कार्य हैं।

व्यन्तरों की वृत्ति और प्रवृत्ति बालकों के समान कुतूहलप्रिय होती है। जिसप्रकार बालक कुतूहलवश कभी अपने को हीन दिखाता है, कभी महान दिखाता है, कभी चिढाता है, कभी गाली सुनाता है, कभी ऊँचे स्वर से रोता है और रोते-रोते हँसने लग जाता है; उसीप्रकार की अनर्गल चेष्टायें व्यंतर भी करते हैं।

ये व्यन्तर अन्य जीवों के शरीरादि को उनके पुण्य-पापानुसार परिणमा सकते हैं। वस्तुत: उनके परिणमन में ये तो मात्र बाह्य निमित्त हैं, अंतरंग निमित्त तो उनके स्वयं के पुण्य-पाप का उदय है। कार्य तो उपादानगत योग्यता के अनुसार ही होता है।

यह सुनकर कोई कह सकता है कि यदि यह बात है तो उनके पूजने में क्या दोष है ?

उससे कहते हैं कि निमित्त तो अपनी बीमारी को दूर करने में वैद्य-डॉक्टर भी हैं, लौकिक अनुकूलता जुटाने में माँ-बाप भी होते हैं, शिक्षा ग्रहण करने में शिक्षक भी होते हैं और सेवा करने में नौकर-चाकर भी होते हैं; इसकारण हम उनका उचित आदर-सत्कार भी करते हैं; पर उन्हें

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

सच्चा देव मानकर उनकी सच्चे देव के समान ही अष्ट द्रव्य से पूजा-अर्चना तो नहीं करने लगते। इसीप्रकार व्यन्तरों की भी पूजा-अर्चना करना ठीक नहीं है। वे तो हमारे और आपके समान ही रागी-द्वेषी देवगति के देव हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मोक्षमार्गप्रकाशक के छठवें अधिकार में व्यन्तरदेवों के संदर्भ में विस्तार से चर्चा की गई है। जिन्हें उक्त संदर्भ में विशेष जानने का विकल्प हो; उन्हें मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त प्रकरण का गहराई से अध्ययन करना चाहिए।

इसप्रकार अबतक व्यंतरदेवों के बारे में विचार किया, अब क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि के संदर्भ में बात करते हैं; क्योंकि दिगम्बर जैन समाज में इनके संदर्भ में भी बहुत भ्रान्ति है।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी लिखते हैं कि यदि कोई प्रश्न करे कि क्षेत्रपाल, पद्मावती और यक्ष-यक्षिणी तो जैनधर्म के अनुयायी हैं; उनकी पूजनादि करने में तो कोई दोष नहीं है न ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितजी कहते हैं कि जिनमत में तो संयम धारण करने से पूज्यपना होता है और देवगति के देवों में संयम नहीं होता। तथा जो लोग इनको सम्यक्त्वी मानकर पूजते हैं; उनसे कहते हैं कि भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषयों में सम्यक्त्व की मुख्यता नहीं है।

यदि सम्यक्त्व से ही पूजना है तो लौकान्तिक देवों अथवा सर्वार्थसिद्धि के देवों को क्यों नहीं पूजते ?

इस पर यदि कोई कहे कि इनके भक्ति विशेष है तो कहते हैं कि भक्ति की विशेषता तो सौधर्म इन्द्र में इनसे भी अधिक है और वे नियम से सम्यग्दृष्टि भी हैं; उन्हें छोड़कर इन्हें क्यों पूजते हो ?

इस पर भी यदि कोई यह कहे कि जिसप्रकार राजा के प्रतिहारादिक (द्वारपालादि) हैं तथा प्रतिहारादिक के मिलाने पर राजा से मिलना होता

है; उसीप्रकार ये क्षेत्रपालादि तीर्थंकर के प्रतिहारादिक हैं और इनके सहयोग से उनसे मिलना सहज हो जावेगा। अत: इनके पूजने में लाभ ही है।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितजी कहते हैं कि तीर्थंकरों के समवशरण में क्षेत्रपालादिक का कोई स्थान नहीं है, अधिकार नहीं है। तीर्थंकरों के दर्शन करने के लिए इनके सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। तीर्थंकर भगवान का समवशरण तो खुला दरबार है। जिनको श्रद्धा है, उनके प्रति भक्ति का भाव है, दिव्यध्वनि सुनने का उत्कृष्टतम भाव है; वे सभी सहजभाव से दौड़े-दौड़े चले जाते हैं; बिना किसी रोक-टोक के दर्शन करते हैं, भक्ति करते हैं और दिव्यध्वनि का श्रवण कर आनन्दित होते हैं।

इसलिए क्षेत्रपालादि की पूजन देवपूजन तो है ही नहीं; अपितु गृहीत मिथ्यात्व है, मनुष्य भव की नई कमाई है; जो इसके अनंत संसार का कारण बनेगी।

पद्मावती के संदर्भ में जो प्रसंग बना था; वह इसप्रकार है

अग्नि में जलते हुए नाग-नागिनी की रक्षा तीर्थंकर पार्श्वकुमार ने गृहस्थावस्था में की थी; उन्हें संबोधित भी किया था। फलस्वरूप वे धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में भवनवासी देव-देवी हो गये।

जब मुनि अवस्था में तीर्थंकर पार्श्व मुनिराज पर पूर्व भव के बैरी कमठ के जीव ने उपसर्ग किया; उन पर पत्थर बरसाये और भी अनेकप्रकार के उपद्रव किये; तब उन धरणेन्द्र-पद्मावती नामक देव-देवी को उक्त उपसर्ग को दूर करने का तीव्रतम विकल्प आया और उन्होंने जो कुछ संभव था; वह करने का भरपूर प्रयास किया।

उपसर्ग और रक्षा के प्रयास के बीच में आत्मनिमग्न पार्श्व मुनिराज को केवलज्ञान प्राप्त हो गया; वे अरहंत बन गये और उपसर्ग समाप्त हो गया; क्योंकि अरहंत अवस्था में उपसर्ग नहीं होता।

बात, बस इतनी ही है; पर उसने आज ऐसा रूप धारण कर लिया है

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

कि स्थान-स्थान पर पद्मावती की मूर्तियाँ विराजमान होकर अष्ट द्रव्य से पूजी जाने लगी हैं।

हम यह नहीं कहना चाहते हैं कि हम उनका निरादर करें; क्योंकि निरादर तो किसी का भी नहीं करना चाहिए, शत्रु का भी नहीं; फिर वे तो भगवान पार्श्वनाथ के भक्त होने से हमारे साधर्मी भाई-बहिन हैं। अत: उनके साथ उनकी भूमिकानुसार साधर्मी वात्सल्य तो होना ही चाहिए।

दिगम्बर जैन समाज में एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है; जो उनकी पूजा-भक्ति करता है। अत: उनके साथ किया गया असद्व्यवहार विग्रह का कारण बन सकता है; जो सामाजिक शान्ति की दृष्टि से भी ठीक नहीं है।

अच्छा तो यही है कि जहाँ जो परम्परा चल रही है, उसमें कोई छेड़छाड़ न की जावे।

यद्यपि यह सबकुछ ठीक है, पर प्रत्येक व्यक्ति का वस्तु के सत्य-स्वरूप का निर्णय करना न केवल जन्मसिद्ध अधिकार है; अपितु आत्म-कल्याण और परमसत्य की प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक भी है।

यदि कोई हमारे किसी पूज्य पुरुष की, माता-पिता की, भाई-बहिन की किसी आततायी से रक्षा करने का प्रयास करता है तो हम उसके साथ बहुत अच्छा व्यवहार करते हैं और करना भी चाहिए; परन्तु पंचपरमेष्ठियों के समान उसकी पूजा तो नहीं करने लगते। ठीक इसीप्रकार **धरणेन्द्र-पद्मावती के साथ वात्सल्यभाव का व्यवहार तो उचित माना जा सकता है; किन्तु उनकी पूजा-अर्चना को तो किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है; क्योंकि अष्टद्रव्य से तो एकमात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारी सकल संयमी पंचपरमेष्ठी ही पूज्य हैं।**

उपसर्ग दूर करने में तो धरणेन्द्र-पद्मावती दोनों ही साथ थे। ऐसे कार्यों में तो पति की ही प्रधानता रहती है, पत्नी तो उसका साथ देती है। इस परम्परा के अनुसार इस उपसर्ग के दूर करने के प्रयास में भी धरणेन्द्र को ही मुख्य होना चाहिए; किन्तु मूर्तियाँ धरणेन्द्र की नहीं, पद्मावती की

ही देखने में आती हैं; पूजा पाठ भी उनका ही विशेष होता है। एकाध स्थान पर धरणेन्द्र की मूर्ति हो सकती है; पर पद्मावती तो....।

उक्त मनोवृत्ति का कारण कुछ समझ में नहीं आता। सभी तीर्थंकर पुरुष होने से पुरुषों की मूर्तियाँ तो सर्वत्र हैं ही; पर महिलाओं की मूर्तियाँ देखने में नहीं आतीं। हो सकता है कि महिलाओं को प्रतिनिधित्व देने की भावना से यह सबकुछ हुआ हो; पर सोचने की बात यह है कि देवगति की महिला को क्यों चुना गया, वह भी भवनवासी ?

यह तो आप जानते ही हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव मर कर न तो महिला की पर्याय में जाते हैं और न भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में पैदा होते हैं। ऐसी स्थिति में उनका जन्म से सम्यग्दृष्टि होना संभव नहीं है।

हो सकता है, उन्हें जन्म के बाद सम्यग्दर्शन हो गया हो; पर संयम होने का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता; क्योंकि देवगति में तो संयम होता ही नहीं है। यदि सम्यग्दर्शन से ही पूजना है तो फिर जिनके सम्यग्दर्शन की गारंटी है, जो एक भवावतारी हैं; ऐसे लाखों अहमिन्द्र, इन्द्र और लौकान्तिक आदि देव हैं; उन्हें छोड़कर एक भवनवासी देवी को पूजना सहजभाव से गले नहीं उतरता।

तीर्थंकर जन्म से ही अतुल्यबल के धारी होते हैं, वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी होते हैं। तात्पर्य यह है कि उनका शरीर इतना मजबूत होता है कि वज्र का प्रहार भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता। तीर्थंकर नेमिनाथ के पैर को नारायण भी नहीं हिला सके थे। अरे, भाई! उनकी कोई उंगली भी नहीं मोड़ सकता। साधारण से देव के उपसर्ग से तीर्थंकर पार्श्वनाथ का क्या होनेवाला था, वे तो अपने में पूर्ण सुरक्षित थे।

यदि वे पैर की उंगली भी दबा देते तो कमठ का मद चूर हो जाता। पर वे तो अपने में मगन थे, आत्मध्यान में लवलीन थे, क्षपक श्रेणी में आरोहण कर रहे थे। यदि ऐसा नहीं होता तो उन्हें अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान कैसे हो जाता ?

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

यद्यपि यह सत्य है कि कमठ के जीव ने उन पर उपसर्ग किया था और धरणेन्द्र-पद्मावती को उपसर्ग दूर करने का भाव आया था; तथापि यह ठीक नहीं है कि उक्त उपसर्ग से उन पर कोई बड़ा संकट आ गया था और यदि धरणेन्द्र-पद्मावती न आते तो न मालूम क्या हो जाता ? क्योंकि वे तो अपने में पूर्ण सुरक्षित थे ही; उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए अन्य के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं थी।

शास्त्रों में आता है कि

कमठे धरणेन्द्रे च सोचितं कर्म कुर्वती।
प्रभु तुल्य: मनोवृत्ति: पार्श्वनाथ: नमोस्तु ते।।

कमठ ने अपनी कषाय के अनुसार उपसर्ग और धरणेन्द्र ने अपने भक्तिभाव के अनुसार उसके निवारण के प्रयास किये। यह कार्य उनके राग-द्वेषानुसार उचित ही थे; क्योंकि द्वेषवालों को उपसर्ग और रागवालों को उसके निवारण का भाव आना उचित ही है। किन्तु वीतराग धर्म की आराधना करनेवाले पार्श्व मुनिराज के चित्त में दोनों के प्रति समान भाव था, समता भाव था; न तो उन्हें कमठ से द्वेष था और न धरणेन्द्र से राग; वे तो पूर्ण वीतरागता की ओर तेजी से बढ रहे थे।

यही कारण है कि हम सब पार्श्वनाथ को नमस्कार करते हैं। यदि वे कमठ से द्वेष और धरणेन्द्र से राग करते तो फिर हममें और उनमें अन्तर ही क्या रहता, फिर हम उन्हें पूजते भी क्यों ?

इस छन्द में कमठ और धरणेन्द्र की चर्चा तो है; पर पद्मावती के नाम का उल्लेख नहीं है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि उपसर्ग निवारण में धरणेन्द्र ही प्रमुख थे। फिर भी न मालूम क्यों उनकी उपेक्षा हुई ? यह प्रश्न चित्त को आन्दोलित करता ही है।

जब लोग ऐसा बोलते हैं कि यदि धरणेन्द्र-पद्मावती समय पर नहीं पहुँचते तो न मालूम क्या हो जाता ? तब मुझे बड़ा अटपटा लगता है।

अरे, भाई ! यदि धरणेन्द्र-पद्मावती नहीं पहुँच पाते तो क्या होता का

प्रश्न ही कहाँ खड़ा होता है; क्योंकि वही होता; जो होना था, हुआ था। उन्हें केवलज्ञान होने का समय आ गया था, वे उसे प्राप्त करने के अभूतपूर्व पुरुषार्थ में संलग्न थे, पाँचों ही समवाय केवलज्ञान होने के थे सो केवलज्ञान हो गया। यह उपसर्ग तो उसमें निमित्त भी नहीं था; क्योंकि उसमें अंतरंग निमित्त तो चार घातियों का क्षय था, अभाव था।

यह बात तो ऐसी लगती है कि जैसे एक भारतकेसरी नामी पहलवान बाजार में जा रहा था कि सामने से एक आठ वर्ष का बालक आया और उस बालक ने उस पहलवान की पिटाई आरंभ कर दी; इतने में एक दस वर्ष का बालक आया और उसने उसे बचा लिया। यदि दस वर्ष का बालक नहीं आता और बचाता भी नहीं तो न मालूम आज क्या हो जाता ?

जब मैं ऐसा कह रहा था तो एक भाई बोले

अरे, भाई ! आपको झूठ बोलना भी ढंग से नहीं आता। इतना बड़ा सफेद झूठ। क्या आठ वर्ष का बालक किसी भारतकेसरी पहलवान को मार सकता है, बाल हठ के कारण कुछ हाथ-पैर चलाये भी तो क्या बिगड़ता है इतने बड़े पहलवान का ?

आठ वर्ष का बालक मार रहा था और दस वर्ष के बालक ने बचा लिया, अन्यथा न मालूम क्या हो जाता ? यह बात जिसप्रकार विश्वसनीय नहीं लगती; उसीप्रकार कमठ का जीव मार रहा था और धरणेन्द्र-पद्मावती ने बचा लिया, अन्यथा न जाने क्या हो जाता यह बात भी हृदय में आसानी से नहीं उतरती।

मैं आपसे ही पूछता हूँ क्या हो जाता ? क्या उस पहलवान के हाथ-पैर टूट जाते, उसे अस्पताल जाना पड़ता, क्या उसकी मृत्यु भी हो सकती थी ?

अरे, भाई ! कुछ नहीं होता। उस पहलवान का तो कुछ नहीं होता, पर उस बालक के हाथ में दर्द अवश्य हो जाता, हाथ में मोच भी आ सकती थी। हो सकता है कि उस बालक को अस्पताल ले जाना पड़ता।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

अरे, भाई ! पहलवान की तो व्यायाम भी नहीं हो पाती; क्योंकि वह तो प्रतिदिन अपने बराबरी के पहलवान से अभ्यास करता है, उसके प्रबल प्रहार करनेवाले मुक्के खाता है। बालक के आक्रमण से उसका कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं था, वह तो अपने आप में सुरक्षित ही था। उसे बचाने वाले दश वर्ष के बालक के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं थी।

इसीप्रकार क्या कमठ के उपसर्ग से पार्श्वनाथ क्षत-विक्षत हो जाते, उन्हें कोई बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती ?

नहीं, नहीं; ऐसा कुछ भी नहीं होता। अतुल्य बल और वज्रवृषभ-नाराचसंहननवाले पार्श्वनाथ मुनिराज को तो कुछ नहीं होता; पर कमठ को तीव्रतम पापबंध अवश्य होता, हुआ भी होगा और उसका फल उसे आगे चलकर भोगना ही होगा।

कमठ के आक्रमण से पार्श्व मुनिराज का कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं था, वे तो अपने आप में सुरक्षित ही थे। उन्हें धरणेन्द्र-पद्मावती के सहयोग की भी रंचमात्र आवश्यकता नहीं थी।

ऐसा भी हो सकता है कि वह अबोध बालक, उसी पहलवान का पुत्र हो और किसी बात पर बिगड़ कर उत्तेजना में उसने अपने पहलवान पिता पर हाथ उठा दिया हो और उसके ही बड़े भाई ने उसके अविनयपूर्ण व्यवहार से उसे रोक दिया हो; पर यह पहलवान पिता को तो एक कौतूहल ही है।

वह दस वर्ष का बालक यह अच्छी तरह जानता होगा कि आठ वर्ष के बालक के आक्रमण से उसके पहलवान पिता का कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं है, अपितु बालक को चोट अवश्य लग सकती है; अत: हम यह भी कह सकते हैं कि उसने अपने पिता को नहीं बचाया था, अपितु अपने छोटे भाई को पिता की अविनय करने रूप दुष्कर्म से बचाया था, उसे स्वयं को लगनेवाली चोट से बचाया था; इसप्रकार उसने पिता का नहीं, भाई का उपकार किया था।

वह पहलवान पिता न तो मारनेवाले बालक से नाराज ही होता और न बचानेवाले बालक से प्रसन्न; उसका दोनों के प्रति समभाव ही रहता है, वह तो दोनों को पुचकारता ही है, समझाता ही है।

इसीप्रकार अन्तरोन्मुखी मुनिराज पार्श्वनाथ पर हुए उपसर्ग की घटना भी एक कौतूहल से अधिक कुछ नहीं है। वे पार्श्वनाथ मुनिराज न तो कमठ से नाराज हुए और न धरणेन्द्र-पद्मावती से प्रसन्न। दोनों के प्रति समानभाव ही उनका समताभाव था, जिसके बल पर वे आगे बढते गये और अतीन्द्रियानन्द प्राप्त कर पूर्ण वीतरागी-सर्वज्ञ बन गये।

मुनिराज पार्श्व पर कोई बड़ा संकट नहीं था यह बात धरणेन्द्र-पद्मावती भी अच्छी तरह जानते होंगे; क्योंकि आखिर वे मुनिराज पार्श्व के भक्त थे। इसलिए हम कह सकते हैं कि उन्होंने मुनिराज पार्श्व की रक्षा नहीं की थी, अपितु उस कमठ के जीव को ही महान पाप करने से विरत किया था। वस्तुत: बात यह है कि उन्होंने उपकार मुनिराज पार्श्व का नहीं, कमठ के जीव का किया है। उन्हें कमठ पर करुणा आई और उन्होंने उसे नरक, निगोद ले जानेवाले महान पाप से बचा लिया।

सोचने का यह भी एक दृष्टिकोण हो सकता है। जो भी हो, पर यह सुनिश्चित है कि छठवें गुणस्थान के नीचे के जीवों की अष्टद्रव्य से पूजन करने को यहाँ गृहीत मिथ्यात्व कहा गया है और तत्संबंधी मान्यता को कुदेव संबंधी मान्यता माना गया है।

वस्तुत: स्थिति तो यह है कि आप किसी को भी अपने सुख-दु:ख और जीवन-मरण का कर्ता-धर्ता मानकर पूजोगे तो वह कुदेव संबंधी गृहीत मिथ्यात्व होगा; क्योंकि प्रत्येक जीव के सुख-दु:ख, जीवन-मरण आदि स्वयं की तत्समय की योग्यता और स्वयं के पुण्य-पाप के उदयानुसार होते हैं। **यदि हमारे पाप का उदय है और हमारा बुरा होना है तो दुनियाँ की कोई भी शक्ति बचा नहीं सकती। इसीप्रकार हमारी होनहार अच्छी है और तदनुसार पुण्य का उदय भी है तो दुनिया की कोई भी शक्ति हमारा बुरा नहीं कर सकती।**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

यदि हम इस परम सत्य से परिचित हैं तो फिर हमें किसी भी प्रकार के भय, स्नेह, आशा और लोभ से किसी रागी-द्वेषी देवी-देवता की आराधना करने की आवश्यकता नहीं है इस सम्पूर्ण प्रकरण का यही संदेश है।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि जब कोई किसी का कुछ कर ही नहीं सकता; यहाँ तक कि अरहंत भगवान भी किसी का भला-बुरा नहीं करते। यदि यही बात परमसत्य है तो फिर हम उनकी भक्ति क्यों करें?

अरे, भाई ! भक्ति तो पंचपरमेष्ठी के गुणों में होनेवाले अनुराग को कहते हैं। कहा भी है **'गुणेषु अनुरागः भक्तिः** गुणों में होनेवाले अनुराग को भक्ति कहते हैं।'

यदि किसी व्यक्ति में हम से अधिक गुण हैं तो उस व्यक्ति के प्रति हमारे हृदय में सहज ही अनुराग उत्पन्न होता। उक्त अनुराग को ही लोक में भक्ति कहते हैं। यदि वही अनुराग पंचपरमेष्ठी के गुणों के आधार पर उनमें हो तो, उसे जिनधर्म में भक्ति कहा जाता है। सच्ची भक्ति मात्र गुणों के आधार पर होती है; उसमें किसी भी प्रकार का स्वार्थ नहीं होता, नहीं होना चाहिए।

एक व्यक्ति क्रिकेट खेलना सीखना चाहता है। इसके लिए उसने एक कोच भी लगाया है, जो उसे प्रतिदिन जेठ की दोपहरी में घंटों अभ्यास कराता है, उसके साथ दौड़ता है, भागता है; पसीने से लथपथ हो जाता है; पर उसने अपने घर में जो चित्र लगाये हैं, उनमें उसका चित्र नहीं है; उसमें तो कपिलदेव का चित्र है, सचिन तेन्दुलकर का चित्र है।

यद्यपि वह अपने कोच की भी विनय रखता है, उनका सम्मान करता है; उन्हें उचित पारिश्रमिक भी देता है; तथापि यह सब उनके द्वारा किये सहयोग के कारण होता है; अत: विनय तो है, पर भक्ति नहीं।

यद्यपि यह परम सत्य है कि उक्त संदर्भ में उसे कपिलदेव या सचिन तेन्दुलकर से कोई सहयोग प्राप्त नहीं है, वे लोग उसके पत्र का भी उत्तर

नहीं देते, मिलने का तो सवाल पैदा ही नहीं होता, उनके पास जाने की कोशिश भी करे तो भी पुलिस के डंडे खाने पड़ते हैं, फिर भी घर में चित्र उनके ही लगाये हैं; क्योंकि यह उन जैसा क्रिकेटर बनना चाहता है, अपने कोच जैसा नहीं, जिसका नंबर जिले की टीम में भी नहीं आ पाया।

वे लोग उसके आदर्श हैं, वह उन जैसा बनना चाहता है; अत: उनके प्रति उसके हृदय में सहज ही भक्तिभाव उमड़ता है। जब वे जीतते हैं, तेजी से रन बनाते हैं तो यह उछल पड़ता है; जब वे हारते हैं तो यह उदास हो जाता है। यह सब एकदम निस्वार्थभाव से होता है।

इसीप्रकार जो हमें वस्तुस्वरूप समझाते हैं, पढाते हैं, सिखाते हैं, हमारा सभी प्रकार से पूरा सहयोग करते हैं; हम उन गृहस्थ ज्ञानियों का भी आदर करते हैं, विनय रखते हैं; रखना भी चाहिए; तथापि **हमारे आदर्श तो अरहंत-सिद्ध भगवान ही हैं; पंचपरमेष्ठी ही हैं; हम उन जैसा ही बनना चाहते हैं; इसलिए उनके प्रति हमारे हृदय में सहज ही भक्तिभाव उमड़ता है, उमड़ना भी चाहिए; यही कारण है कि हम उनके मंदिर बनवाते हैं, उनकी प्रतिमायें विराजमान करते हैं, उनकी पूजा-अर्चना करते हैं; वह सबकुछ करते हैं, जो एक सच्चे भक्त को करना चाहिए।**

उनसे हमें कुछ मिलेगा इस भावना से की गई भक्ति तो व्यापार है, धंधा है; उसमें तो स्वार्थ की दुर्गंध आती है। उनसे कुछ मांगना तो भिखारीपन है। **जिनेन्द्र भगवान के भक्त भिखारी नहीं होते।**

यद्यपि यह सत्य है कि हमें जो कुछ भी मिलता है, अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलते हैं; वे सब हमारे पुण्य-पापानुसार अपनी पर्यायगत योग्यता से ही प्राप्त होते हैं; तथापि हम जो भगवान से माँगते हैं, वह भी तो हमारे पुण्य-पापानुसार ही मिलेगा। अत: हम यही तो कहते हैं कि यदि हमारे कोई पुण्य शेष हों तो उसके फल में हमें अमुक संयोग प्राप्त हों

इसमें तो कोई बुरी बात नहीं होना चाहिए। फिर आप हमें ऐसा करने से क्यों रोकते हैं?

अरे, भाई ! आप यह भी तो सोचिये कि यदि बुरी बात नहीं होती तो

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

फिर हम क्यों रोकते ? अरे, भाई ! यह निदान नामक आर्तध्यान है, जिसका फल शास्त्रों में तिर्यंचगति की प्राप्ति होना बताया गया है।

यह तो आप जानते ही हैं कि तिर्यंचगति में निगोद भी शामिल है।

हमारी भक्ति तो निष्काम भाव से होना चाहिए। जिसप्रकार वह क्रिकेट सीखने का अभिलाषी बिना किसी आकांक्षा से मात्र भक्तिभाव से ही कपिलदेव और तेन्दुलकर का प्रशंसक है; उसीप्रकार हमें भी भगवान से बिना कुछ माँगे उनकी भक्ति का भाव आना चाहिए।

जिन लोगों को यह चिन्ता है कि यदि हम ऐसा कहेंगे कि भगवान किसी से कुछ लेते नहीं है और किसी को कुछ देते भी नहीं हैं तो फिर कौन करेगा भगवान की भक्ति, कौन देगा दान, कौन बनवायेगा मंदिर ये सभी धर्म काम चलेंगे कैसे ?

यदि हम चाहते हैं कि ये सभी कार्य चलते रहें तो हमें यह कहना ही होगा कि यदि तुम भगवान की पूजा-भक्ति करोगे, उनका मंदिर बनवाओगे तो तुम्हें धन की, सम्पत्ति की प्राप्ति होगी, स्त्री-पुत्रादि की अनुकूलता प्राप्त होगी। यदि हमने ऐसा नहीं किया तो सबकुछ चौपट हो जावेगा। अत: हमारा तो यही कहना है कि वस्तुस्थिति चाहे जो कुछ भी हो; कृपया उसे पोथियों में ही रहने दीजिए, अकेले में बैठकर आप पण्डित लोग ही समझते रहिये; समाज को तो यही समझाइये कि.....।

ऐसे लोगों से मैं कहना चाहता हूँ कि **हमें समाज चलाना है या आत्मकल्याण करना है; हमें समाज के समक्ष वस्तु के सत्यस्वरूप को प्रस्तुत करना है या धर्म के नाम पर उनसे चन्दा वसूल करना है, उन्हें क्रियाकाण्ड के बाह्य आडम्बर में उलझाये रखना है। अरे, भाई ! अब वस्तु का सच्चा स्वरूप हमारी समझ में आ गया है, हमारे ध्यान में आ गया है; अत: अब हमसे तो ऐसा अनर्थ होगा नहीं।**

जब लोग वस्तु का सही स्वरूप समझेंगे तो उनके हृदय में भी; उक्त सत्य स्वरूप जिनकी दिव्यध्वनि में आया है, जिन गुरुओं ने उसे लिपिबद्ध किया है, जिन शास्त्रों में वह लिखा है; उन सबके प्रति अगाधभक्ति का

भाव सहज ही उत्पन्न होगा, उन जैसा बनने का भाव भी जाग्रत होगा; न केवल भाव उत्पन्न होगा, अपितु उसके प्रचार-प्रसार के लिए साधन जुटाने का भी तीव्र विकल्प होगा; परिणामस्वरूप जिनमंदिर बनेंगे, स्वाध्याय भवन बनेंगे, शास्त्र छपेंगे, घर-घर पहुँचाये जावेंगे, पूजा-पाठ होगा; वह सबकुछ होगा जो जिनधर्म की प्रभावना के लिए आवश्यक है। कहीं कोई कमी रहनेवाली नहीं है।

इस बात की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है कि यदि हम भगवान को कर्ता-धर्ता नहीं बतायेंगे तो सबकुछ बर्बाद हो जायेगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने उदाहरण प्रस्तुत कर इस बात को सिद्ध कर दिया है कि वस्तु के सत्यस्वरूप को प्रस्तुत करने से जिनमंदिरों को कोई खतरा नहीं है; क्योंकि निरन्तर अध्यात्मधारा बहने पर भी उनके यहाँ जितना दान दिया जाता है, जैसी पूजा भक्ति होती है, जितने जिनमंदिर और स्वाध्याय भवन बने हैं, जितने शास्त्र छपे हैं और घर-घर पहुँचे हैं; उनकी तुलना में अन्यत्र जो कुछ भी हुआ है, वह नगण्य ही है, न के बराबर ही है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि भले ही भगवान कुछ लेते-देते न हों, पर उनकी पूजा-भक्ति से जो पुण्यबंध होता है; उसके फल में अनुकूलता तो मिलती ही है।

हाँ, यह बात सत्य है कि भगवान की पूजा-भक्ति से पुण्य का बंध होता है और उसके फल में लौकिक अनुकूलता भी प्राप्त होती है; **पर कुछ मांगने से, वह पुण्य बढता नहीं, अपितु कुछ कम हो जाता है, क्षीण हो जाता है; सातिशय पुण्य का बंध तो जैनदर्शन में ज्ञानी जीवों को निष्कामभाव से होनेवाली भक्ति से ही होता है।**

पण्डितजी कहते हैं कि कुदेवादिक के सेवन से जीव का बिगाड़ दो प्रकार से होता है। **एक तो मिथ्यात्वादि दृढ होने से मोक्षमार्ग दुर्लभ हो जाता है और दूसरे पाप का बंध होने से लौकिक प्रतिकूलतायें भी बनी**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

रहती हैं। इसमें सबसे अधिक नुकसानदेह तो मिथ्यात्व का पुष्ट होना ही है; क्योंकि मिथ्यात्व अनंत संसार का कारण है।

जब बेटा व्यापार करने मुम्बई गया था, तब हमने उसे पूंजी के लिए पाँच लाख रुपये दिये थे। यदि वह पाँच वर्ष में पाँच के पच्चीस करके लावे, तब तो कहना ही क्या है; किन्तु यदि वह पाँच लाख ही वापिस लेकर आ जावे तो हम कहते हैं कि कोई बात नहीं, लाभ नहीं कमाया तो नुकसान भी तो नहीं किया, पूंजी तो सुरक्षित रखी और पाँच वर्ष का खर्च भी तो चलाया; पर हम यह भूल जाते हैं कि इस बीच उसने भरी जवानी के पाँच वर्ष गमा दिये हैं, उसकी किसी को कोई कीमत ही नहीं है।

यदि रुपये गमाता है तो हम मानते कि कुछ गमाया है; पर जिस मनुष्य भव के एक समय का मूल्य अनंत चक्रवर्तियों की सम्पदा से भी अधिक मूल्यवान है; उस मनुष्य भव के अमूल्य पाँच वर्ष यों ही गमा दिये तो भी ऐसा नहीं लगता कि कुछ गमाया है।

देखो तो इस जीव की नादानी कि करोड़ों की एक-एक घड़ी चली जा रही है और यह विषय-कषाय में उलझ कर रह गया है।

यह मनुष्य भव इतना मूल्यवान है कि यदि हम इसका उपयोग आत्मानुभव करने में करें, अपने ज्ञान-दर्शन उपयोग को क्षण भर के लिए अपने में लगा देवें तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जावे और लगातार अन्तर्मुहूर्त तक आत्मा में ही लगाये रखें तो केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाये। ऐसे इस मनुष्य भव के पाँच वर्ष यों ही गमा दिये।

पण्डितजी कहते हैं कि सबसे बड़ा बिगाड़ तो यही है कि जिस मनुष्य भव में आत्मकल्याण किया जा सकता था; उसे यों ही गृहीत मिथ्यात्व के सेवन और विषय-कषायों के भोगने में लगा दिया। यह कोई समझदारी का काम नहीं है।

इसप्रकार यहाँ कुदेवों की चर्चा समाप्त होती है। ●

दसवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक का **छटवाँ अधिकार** चल रहा है। इस अधिकार में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की चर्चा की गयी है। अब तक अपन कुदेव के बारे में चर्चा कर चुके हैं और अब कुगुरुओं के संबंध में चर्चा करना है।

यद्यपि उक्त चर्चा आज के जमाने में खतरे से खाली नहीं है; तथापि उससे बचना भी तो संभव नहीं है; क्योंकि कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का स्वरूप समझे बिना गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटता और सच्चे देव, गुरु और धर्म का स्वरूप समझे बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

यदि हमें मुक्तिमहल की पहली सीढी सम्यग्दर्शन पर कदम रखना है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है तो हमें कुदेव, कुगुरु और कुधर्म तथा सच्चे देव, गुरु व धर्म का स्वरूप समझना ही होगा। यदि यह बात नहीं होती तो न तो पंडितजी इनकी चर्चा करते और न हम ही इस प्रसंग में कुछ कहते; किन्तु इनका सही स्वरूप समझे बिना कल्याण का मार्ग खुलता नहीं है; अत: इनका प्रतिपादन अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि हम चर्चा आरंभ कर रहे हैं; तथापि किसी के चित्त में विक्षोभ पैदा न हो इस बात का ध्यान रखेंगे। यह बात भी सत्य है कि हम चाहे जितनी सावधानी रखें; तो भी जो वस्तुस्थिति है; उसे तो स्पष्ट करना ही होगा। उसके बिना तो उनका स्वरूप ही स्पष्ट नहीं होगा।

कुगुरु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि जो जीव विषय-कषायादि अधर्मरूप परिणमित होते हैं, मानादिक कषायों के कारण स्वयं को धर्मात्मा मानते हैं, धर्मात्माओं के योग्य नमस्कारादि क्रियायें कराते हैं तथा किसी एक अंग को किंचित् धारण करके बड़ा धर्मात्मा कहलाते हैं, बड़े धर्मात्माओं के योग्य क्रियायें कराते हैं इसप्रकार धर्म के आधार पर अपने को बड़ा मनवाते हैं; उन सभी को कुगुरु जानना चाहिए; क्योंकि धर्मपद्धति में तो मिथ्यात्व और विषय-कषायादि के

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

छूटने पर सम्यग्दर्शन सहित जिस भूमिका के योग्य आचरण धारण करे, पद भी तदनुसार ही होता है।

कुगुरु के उक्त स्वरूप के संदर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें किसी व्यक्ति या धर्म या दर्शन का उल्लेख न करके वृत्ति और प्रवृत्तियों के माध्यम से कुगुरुओं का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य बल इस बात पर है कि गुरुता न होने पर भी लोग स्वयं को गुरु के रूप में स्थापित करना चाहते हैं, धर्मगुरुओं को सहजभाव से प्राप्त होनेवाले सम्मान को प्राप्त करना चाहते हैं; एतदर्थ अनेक प्रकार के आडम्बर करते हैं, वेषादि धारण करते हैं।

ये बातें ऐसी हैं कि जो किसी शास्त्र में देखकर नहीं लिखीं जा सकती; जगत में उस समय जिसप्रकार की प्रवृत्तियाँ चल रही थीं; उनका बारीकी से निरीक्षण करके ही पण्डितजी ने इस विषय को प्रस्तुत किया है।

वे लिखते हैं कि कुछ लोग कुल की अपेक्षा अपना गुरुपना स्थापित करते हैं। वे कहते हैं कि हमारा कुल ऊँचा है, इसलिए हम सबके गुरु हैं।

इस पर पण्डितजी यह कहना चाहते हैं कि यदि कोई उच्च कुलवाला हीन आचरण करे तो उसे गुरु कैसे माना जा सकता है ? किसी कुल में पैदा होने मात्र से क्या होता है, उच्चता और नीचता का निर्णय तो आचरण से होना चाहिए, न कि कुल से। **गुरुपना तो एकदम व्यक्तिगत है, किसी कुल या परिवार को गुरु कैसे माना जा सकता है ?**

कुछ लोग कहते हैं कि हमारे पूर्वजों में बड़े-बड़े धर्मात्मा हो गये हैं, सन्त हो गये हैं; विद्वान हो गये हैं, त्यागी-तपस्वी हो गये हैं, दानवीर हो गये हैं; इसलिए हम भी महान हैं; उनसे पण्डितजी कहते हैं कि पूर्वजों की महानता से तुम महान कैसे हो सकते हो ?

यदि तुम्हें महान बनना है तो तुम्हें स्वयं महान कार्य करने होंगे। पूर्वजों की महानता उनके साथ गई, वह तुम्हारे किसी काम आनेवाली नहीं है।

जिसप्रकार डॉक्टर के बेटे को डॉक्टर, वकील के बेटे को वकील, विद्वान के बेटे को विद्वान नहीं माना जा सकता; उसीप्रकार तुम्हें भी पूर्वजों के कारण महान नहीं माना जा सकता।

दिगम्बर जैनदर्शन में तो यह बात किसी भी स्थिति में संभव नहीं है; क्योंकि दिगम्बर जैनों में देव-शास्त्र-गुरुवाले गुरु तो नग्न दिगम्बर पूर्ण ब्रह्मचारी ही होते हैं; अत: उनके कोई संतान होना ही संभव नहीं है।

यद्यपि आज कुल से गुरु मानने की बात समाप्तप्राय: ही है; तथापि टोडरमलजी के युग में विशेषकर जैनेतरों में इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ बहुत थीं। यही कारण है कि पण्डितजी ने महाभारतादि के उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

यद्यपि दिगम्बर जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक सकल संयमधारी नग्न दिगम्बर मुनिराजों को ही गुरु संज्ञा प्राप्त है; तथापि आज की स्थिति तो यह है कि कोई भी व्यक्ति; घर छोड़ा, चादर ओढी और अपने को गुरु मानने लगता है, मनवाने लगता है।

वैसे तो जैनदर्शन में ब्रह्मचर्य व्रत सातवीं प्रतिमा में होता है। सातवीं प्रतिमा का नाम भी ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। उसके पहले ब्रह्मचर्याणुव्रत तो हो सकता है, पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। अरे, भाई ! ब्रह्मचर्याणुव्रत भी मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभावपूर्वक होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान व अणुव्रतरूप देशचारित्र पूर्वक होता है। न सम्यग्दर्शन का ठिकाना है, न सम्यग्ज्ञान का पता है, अणुव्रती भी नहीं है और ब्रह्मचारी हो गये और मानने लगे कि हम जगत से हट के हैं, कुछ विशेष हैं; इसलिए जगत के गुरु हैं।

अरे, भाई ! **पत्नी या पति का नहीं होना ही तो ब्रह्मचर्य नहीं है। ऐसा तो पाप के उदय में भी हो सकता है;** अधिकांशत: होता भी ऐसा ही है। तुलसीदासजी ने भी लिखा है

नारि मुई अर संपति नाशी। मूढ मुड़ाय भये सन्यासी।।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

आज तो मूढ मुड़ाने की भी जरूरत नहीं है, लम्बे-लम्बे बाल रख लेने से भी काम चल जाता है।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी कहते हैं कि अकेला अब्रह्म (कुशील) ही तो पाप नहीं है; हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह भी तो पाप हैं; क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें भी तो पाप हैं और मिथ्यात्व तो पाप के बाप का भी बाप है। जो इन सब पापों को छोड़े बिना ही अपने को महान मानने लगे तो उसके लिए क्या कहा जाय ?

सामान्य गृहस्थों में तो थोड़ी-बहुत सहनशीलता देखी भी जाती है; क्योंकि उन्हें अपने परिवार के साथ तो समायोजन करना ही पड़ता है; पर ये तो.....। इनकी स्थिति तो यह है कि न सम्यग्दर्शन, न सम्यग्ज्ञान, न उन्हें प्राप्त करने की ललक; न तत्त्वज्ञान, न उसे प्राप्त करने के लिए अभ्यास ; न अध्ययन, न मनन, न चिन्तन, न खान-पान की मर्यादा; बस कोरे ब्रह्मचारी बन गये हैं और इसी के आधार पर स्वयं को गुरु मानकर पुजना चाहते हैं। यदि कोई उन्हें न पूजे, नमस्कारादि न करे तो फिर देखो इनका रंग, देखते ही बनता है।

पण्डितजी ने उस समय का जो चित्र खीचा है; आज की स्थिति तो उससे भी बदतर है।

सामान्यजनों के समान ही निरन्तर जगत प्रपंचों में उलझे रहना, कषायचक्र में जलते रहना, उबलते रहना, दंद-फंद करते रहना क्या यही काम रह गया इन ब्रह्मचारियों को, गृहत्यागियों को ? यह एक गंभीर प्रश्न है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि पण्डित टोडरमलजी और आध्यात्मिक-सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी दोनों अविरत थे, सम्यग्दृष्टि थे; अविरत सम्यग्दृष्टि थे और आप स्वयं दोनों को गुरु मानते हैं, गुरुदेव कहते हैं। इसका क्या उत्तर है आपके पास ?

अरे, भाई ! बात उत्तर की नहीं है, वस्तुस्थिति यह है कि देव-शास्त्र-गुरु में जिन्हें गुरु माना गया है, जिनकी हम अरहंतदेव के समान ही प्रतिदिन पूजन करते हैं; इसप्रकार के गुरु न तो पण्डित टोडरमलजी थे और न आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ही थे। न तो वे स्वयं को देव-शास्त्र-गुरुवाला गुरु मानते थे और न हम ही उन्हें देव-शास्त्र-गुरुवाला गुरु मानते हैं।

जिसप्रकार लोक में किसी भी विषय को पढानेवाला कोई भी अध्यापक उनसे पढनेवाले छात्रों का गुरु कहलाता है; उसीप्रकार जैनदर्शन का मर्म बतानेवाले, पढानेवाले; अध्यात्म का रहस्य समझानेवाले भी तो गुरु ही हैं। **लौकिक विषय पढानेवालों से तो वे असंख्यगुणे महान हैं, उपकारी हैं; इसी अपेक्षा हम उन्हें गुरुदेव कहते हैं। उनके उपकार को स्मरण करते हैं; उनकी पूजा नहीं करते।**

कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर भी तो गुरुदेव ही कहे जाते थे। महाराष्ट्र में आज भी हर अध्यापक को गुरुजी कहकर बुलाते हैं। हम जब पढते थे; तब अपने अध्यापक पण्डित नन्हेलालजी शास्त्री को गुरुजी ही कहते थे।

यहाँ जो प्रकरण चल रहा है, वह देव-शास्त्र-गुरुवाले गुरु का है। उसे इससे मिलाने की आवश्यकता नहीं है।

इसप्रकार का प्रश्न एक बार मैंने स्वयं स्वामीजी से किया था, जिसका उत्तर उन्होंने इसप्रकार दिया था

''**प्रश्न** आपको लोग गुरुदेव कहते हैं। क्या आप साधु हैं ? गुरु तो साधु को कहते हैं ?

उत्तर साधु तो नग्न दिगम्बर छटवे-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलते भावलिंगी वीतरागी सन्त ही होते हैं। हम तो सामान्य श्रावक हैं, साधु नहीं। हम तो साधुओं के दासानुदास हैं। अहा ! वीतरागी सन्त कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्र आदि मुनिवरों के स्मरण मात्र से हमारा रोमांच हो जाता है।

प्रश्न तो फिर आपको लोग गुरुदेव क्यों कहते हैं ?

उत्तर भाई ! गोपालदासजी बरैया को भी तो गुरु कहते थे। **देव-**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

शास्त्र-गुरुवाले गुरु तो पंचपरमेष्ठी में आचार्य, उपाध्याय, साधु ही हैं। हमसे लोग अध्यात्म सुनते हैं, सीखते हैं, सो गुरुदेव कहते हैं।

प्रश्न तो आपको गुरुदेव विद्यागुरु के अर्थ में कहा जाता है, देव-शास्त्र-गुरु के अर्थ में नहीं ?

उत्तर हाँ, हाँ; यही बात है। भाई ! हम तो कई बार कहते हैं कि वस्त्रादि रखे और अपने को देव-शास्त्र-गुरुवाला गुरु माने, मनवावे; वह तो अज्ञानी है। इससे अधिक हम क्या कहें ?[१]''

यह बात आज से ३३ वर्ष पहले उस समय की है, जब जुलाई १९७६ ई. में सोनगढ से प्रकाशित और आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का प्रसारक आत्मधर्म (आध्यात्मिक मासिक) का संपादन मुझे सौंपा गया था; तब सबसे पहले मेरे संपादन में प्रकाशित होनेवाले पहले ही अंक में संपादकीय के रूप में, उनसे लिया गया एक साक्षात्कार (इन्टरव्यू) प्रकाशित किया था; जिसमें उनके मुख के माध्यम से उन सभी शंकाओं का समाधान प्रस्तुत किया गया था; जो उनके विरुद्ध बुद्धिपूर्वक फैलाई जा रही थीं।

उक्त अंश उसी साक्षात्कार का है। जिन्हें विशेष जिज्ञासा है, वे लोग चैतन्यचमत्कार नामक पुस्तक में उसे पूरा पढ सकते हैं, वह पुस्तक हमारे यहाँ अभी भी उपलब्ध है।

प्रश्न आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी भी तो भाई-बहिनों को ब्रह्मचर्यव्रत देते थे ? जिन्हें वे ब्रह्मचर्यव्रत देते थे; क्या वे सभी सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी होते थे, अणुव्रती होते थे ? यदि नहीं तो फिर.....।

उत्तर जब वे किसी को ब्रह्मचर्यव्रत देते थे तो पहले वर्षों तक तत्त्वाभ्यास कराते थे, निवृत्तिमय जीवन जीने की प्रेरणा देते थे। न केवल प्रेरणा देते थे, अपितु लोग उनके सान्निध्य में रहकर वर्षों तत्त्वाभ्यास करते थे; जब वे उनके अध्ययन और आचरण से पूरी तरह संतुष्ट हो जाते थे,

१. चैतन्यचमत्कार, पृष्ठ ७-८

तब भी ब्रह्मचर्यव्रत देते समय यह साफ-साफ कहते थे कि यह ब्रह्मचर्य प्रतिमावाला ब्रह्मचर्य नहीं है। यह तो तत्त्वाभ्यास के लिए पर्याप्त समय मिल सके; इसलिए निवृत्ति का मार्ग है। यह तो मात्र शादी न करके पूरी तरह स्वाध्याय में जीवन समर्पित करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के प्रयास के लिए समर्पित होने का मार्ग है; क्योंकि शादी के बाद उलझाव ही उलझाव रहते हैं। इसलिए वे कहते थे कि यह काया का ब्रह्मचर्य है, मन-वचन के पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और कम से कम ७वीं प्रतिमा के योग्य देशचारित्र होना आवश्यक है।

यही कारण है कि वे किसी वेश को धारण करने की बात नहीं करते थे, उनसे ब्रह्मचर्य लेनेवाले सभी वही अपनी पुरानी पोशाक धोती-कुर्ता ही पहनते थे।

प्रश्न पर वे स्वयं तो.....।

उत्तर जब उन्होंने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया; उसके पूर्व वे स्थानकवासी श्वेताम्बर साधु थे। अत: जिस वेश में रहते थे, उसमें से स्थानकवासी श्वेताम्बर साधुत्व की निशानी मुहपट्टी तो उन्होंने छोड़ दी, शेष वैसे ही कपड़े पहनते रहे। उन्हें लगा कि अब क्या धोती-कुर्ता पहनूँ; पर वे स्पष्ट कहते रहे कि मैं कोई साधु नहीं हूँ, मेरे कोई प्रतिमा भी नहीं है। **यदि वे अपने वेश को ब्रह्मचारियों का वेश मानते होते तो जिन्होंने उनसे ब्रह्मचर्य लिया था, कम से कम वे लोग तो उनके वेश में रहते।**

जैनदर्शन में साधुता के तीन ही वेष (लिंग) हैं। एक नग्न दिगम्बर मुनिराज का, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का और तीसरा आर्यिकाओं का। इसके अतिरिक्त कोई वेश दिगम्बर जिनधर्म में मान्य नहीं है।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का मोक्षमार्गप्रकाशक में समागत निम्नांकित कथन दृष्टव्य है

''तथा कितने ही प्रकार का भेष धारण करने से गुरुपना मानते हैं; परन्तु भेष धारण करने से कौनसा धर्म हुआ कि जिससे उन्हें धर्मात्मा-गुरु

मानें ? वहाँ कोई टोपी लगाते हैं, कोई गुदड़ी रखते हैं, कोई चोला पहिनते हैं, कोई चादर ओढते हैं, कोई लाल वस्त्र रखते हैं, कोई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कोई भगवा रखते हैं, कोई टाट पहिनते हैं, कोई मृगछाला रखते हैं, कोई राख लगाते हैं इत्यादि अनेक स्वांग बनाते हैं।

परन्तु यदि शीत-उष्णादिक नहीं सहे जाते थे, लज्जा नहीं छूटी थी, तो पगड़ी जामा इत्यादि प्रवृत्तिरूप वस्त्रादि का त्याग किसलिए किया ? उनको छोड़कर ऐसे स्वांग बनाने में धर्म का कौनसा अंग हुआ ?

गृहस्थों को ठगने के अर्थ ऐसे भेष जानना। यदि गृहस्थ जैसा अपना स्वांग रखे तो गृहस्थ ठगे कैसे जायेंगे ? और इन्हें उनके द्वारा आजीविका व धनादिक व मानादि का प्रयोजन साधना है; इसलिए ऐसा स्वांग बनाते हैं। भोला जगत उस स्वांग को देखकर ठगाता है और धर्म हुआ मानता है; परन्तु यह भ्रम है। यही कहा है

जह कुवि वेस्सारत्तो मुसिज्जमाणो विमण्णए हरिसं।
तह मिच्छवेसमुसिया गयं पि ण मुणंति धम्मणिहिं।।

(उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला)

जैसे कोई वेश्यासक्त पुरुष धनादिक को ठगाते हुए भी हर्ष मानते हैं; उसीप्रकार मिथ्याभेष द्वारा ठगे हुए जीव नष्ट होते हुए धर्मनिधि को नहीं जानते हैं। इन मिथ्यावेशवाले जीवों की सुश्रुषा आदि से अपना धर्मधन नष्ट होता है, उसका विषाद नहीं है, मिथ्याबुद्धि से हर्ष करते हैं।

वहाँ कोई तो मिथ्याशास्त्रों में जो वेश निरूपित किये हैं, उनको धारण करते हैं; परन्तु उन शास्त्रों के कर्ता पापियों ने सुगम क्रिया करने से उच्चपद प्ररूपित करने में हमारी मान्यता होगी व अन्य बहुत जीव इस मार्ग में लग जायेंगे, इस अभिप्राय से मिथ्या उपदेश दिया है।

उसकी परम्परा से विचार रहित जीव इतना भी विचार नहीं करते कि सुगमक्रिया से उच्चपद होना बतलाते हैं सो यहाँ कुछ दगा है। भ्रम से उनके कहे हुए मार्ग में प्रवर्तते हैं।

तथा कोई शास्त्रों में तो कठिन मार्ग निरूपित किया है, वह तो सधेगा नहीं और अपना ऊँचा नाम धराये बिना लोग मानेंगे नहीं; इस अभिप्राय से यति, मुनि, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, संन्यासी, योगी, तपस्वी, नग्न इत्यादि इच्छानुसार नाना वेश बनाते हैं तथा कितने ही अपनी इच्छानुसार ही नवीन नाम धारण करते हैं और इच्छानुसार ही वेश बनाते हैं।

इसप्रकार अनेक वेश धारण करने से गुरुपना मानते हैं; सो यह मिथ्या है।

यहाँ कोई पूछे कि वेश तो बहुत प्रकार के दिखते हैं, उनमें सच्चे-झूठे वेश की पहिचान किसप्रकार होगी ?

समाधान जिन वेशों में विषय-कषाय का किंचित् लगाव नहीं है, वे वेश सच्चे हैं। वे सच्चे वेश तीन प्रकार के हैं; अन्य सर्व वेश मिथ्या हैं।

वही षटपाहुड़ में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।।१८।।

(दर्शनपाहुड़)

एक तो जिनस्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का रूप दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक का लिंग, तीसरा आर्यिकाओं का रूप यह स्त्रियों का लिंग ऐसे यह तीन लिंग तो श्रद्धापूर्वक हैं तथा चौथा कोई लिंग सम्यग्दर्शनस्वरूप नहीं है।

इन तीन लिंग के अतिरिक्त अन्य लिंग को जो मानता है, वह श्रद्धानी नहीं है, मिथ्यादृष्टि है तथा इन वेशियों में कितने ही वेशी अपने वेश की प्रतीति कराने के अर्थ किंचित् धर्म के अंग को भी पालते हैं।

जिसप्रकार खोटा रुपया चलानेवाला उसमें कुछ चांदी का अंश भी रखता है; उसीप्रकार धर्म का कोई अंग दिखाकर अपना उच्चपद मानते हैं।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १७८

उक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि दिगम्बर जैनधर्म के अनुसार मुनि, आर्यिका और उत्कृष्ट श्रावक इनके अतिरिक्त न कोई पद हैं और न कोई वेश। त्यागी, व्रती, ब्रह्मचारी, भट्टारक आदि कोई ऐसा पद नहीं है कि जो धर्ममान्य हो और न इनका कोई भेष ही सुनिश्चित है।

हमारे एक मित्र थे। वे अत्यन्त सात्त्विक वृत्ति के सदाचारी ब्रह्मचारी विद्वान थे। वे पहले तो धोती-कुर्ता ही पहनते थे; किन्तु बाद में उन्होंने चादर ओढ ली।

मैंने उनसे अत्यन्त नम्रता से पूछा ''क्या कुछ और व्रत ले लिये हैं?''

उन्होंने कहा ''नहीं, नहीं; ऐसी कोई बात नहीं है।''

तब मैंने कहा ''तब फिर भेष में यह परिवर्तन क्यों? अरे, भाई! यदि जीवन में कोई अन्तर नहीं आया तो फिर कपड़े क्यों बदले?''

वस्तुतः बात यह है कि हमें बदलना तो स्वयं को था, स्वयं के जीवन को था, जीवनचर्या को था; किन्तु हम कपड़े बदल कर धर्मात्मा बनना चाहते हैं। बनना क्या दिखना चाहते हैं।

गुणों को तो गुणवान ही पहिचान पाते हैं; भोली-भाली जनता तो वेश से ही प्रभावित होती है। जबतक गांधीजी शूट-बूट में रहे, तबतक जनता का दिल नहीं जीत सके; पर जब उन्होंने लगोटी लगा ली, चादर ओढ ली तो सारी दुनियाँ झुक गई।

आज भी इस दुनियाँ में तो वेश की ही पूजा होती है। यही कारण है कि लोग जनमत को प्रभावित करने के लिए वेश बदलते रहते हैं।

अन्दर के बदले बिना बाहर से वेश बदलने से धर्मात्मा तो नहीं बनते; पर ठग अवश्य बन जाते हैं।

मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि गांधीजी ने दुनियाँ को ठगने के लिए वेश बदला था; क्योंकि उन्होंने तो जो कुछ किया था, विचारपूर्वक पवित्रभाव से किया था। उनका चिन्तन यह था कि जब मैं भारत की भूखी-नंगी जनता का प्रतिनिधि हूँ, उनके कल्याण के लिए लड़ रहा हूँ तो फिर मुझे कपड़े भी उन जैसे ही पहनना चाहिए।

किन्तु दिगम्बर मुनिराज नग्न किसी दूसरों के कारण नहीं रहते; अपितु मुनिराजों की नग्नदशा उनकी वीतरागी परिणति का परिणाम है। यही कारण है कि जिसके मिथ्यात्व और तीन कषायों के अभावरूप वीतराग परिणति तो न हो और बाह्य में नग्न दिगम्बर दशा हो तो उसे द्रव्यलिंगी कहा जाता है।

जो व्यक्ति विचित्र प्रकार के वस्त्रादि धारण कर साधुता का सम्मान लेना चाहते हैं; वे तो द्रव्यलिंगी भी नहीं; न मालूम कौन हैं, समझ में नहीं आता उन्हें क्या कहा जाय?

कुछ लोग कहते हैं कि दिगम्बर भी तो एक वेश है। उनसे मैं कहना चाहता हूँ कि दिगम्बरत्व कोई वेश नहीं है, एक प्रकार से सब वेशों के परित्याग का नाम ही दिगम्बरत्व है। पर क्या किया जा सकता, वेशों की भाषा के अभ्यासियों ने सब वेशों के त्याग को दिगम्बर वेश नाम दे दिया है।

उक्त संदर्भ में ''वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर'' में लिखा है

''साधु बनने में भेष पलटना पड़ता है, साधु होने में स्वयं ही पलट जाता है। स्वयं के बदल जाने पर वेश भी सहज ही बदल जाता है। वेश बदल क्या जाता है, सहज वेश हो जाता है, यथाजात वेश हो जाता है; जैसा पैदा हुआ था, वही रह जाता है, बाकी सब छूट जाता है।

वस्तुतः साधु की कोई ड्रेस नहीं है, सब ड्रेसों का त्याग ही साधु का वेश है। ड्रेस बदलने से साधुता नहीं आती, साधुता आने पर ड्रेस छूट जाती है। यथाजातरूप (नग्न) ही सहज वेश है और सब वेश तो श्रमसाध्य हैं, धारण करनेरूप हैं। वे साधु के वेश नहीं हो सकते; क्योंकि उनमें गांठ है, उनमें गांठ बांधना अनिवार्य है। साधुता बंधन नहीं है, उसमें सर्व बन्धनों की अस्वीकृति है।

साधु का कोई वेश नहीं होता, नग्नता कोई वेश नहीं। वेश साज-संभार है, साधु को सजने-संवरने की फुर्सत ही कहाँ है? उसका सजने का भाव ही चला गया है। सजने में 'मैं दूसरों को कैसा लगता हूँ' का भाव प्रमुख रहता है। साधु को दूसरों से प्रयोजन ही नहीं है, वह जैसा है,

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

वैसा ही है। वह अपने में ऐसा मग्न है कि दूसरों के बारे में सोचने का काम ही नहीं। दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं, इसकी उसे परवाह ही नहीं। सर्व वेश शृंगार के सूचक हैं, साधु को शृंगार की आवश्यकता ही नहीं। अत: उसका कोई वेश नहीं होता।

दिगम्बर कोई वेश नहीं है, सम्प्रदाय नहीं है; वस्तु का स्वरूप है। पर हम वेशों को देखने के आदी हो गये हैं कि वेश के बिना सोच ही नहीं सकते। हमारी भाषा वेशों की भाषा हो गई है। अत: हमारे लिए दिगम्बर भी वेष हो गया है। हो क्या गया कहा जाने लगा है।

सब वेशों में कुछ उतारना पड़ता है और कुछ पहिनना होता है, पर इसमें छोड़ना ही छोड़ना है, ओढना कुछ भी नहीं। छोड़ना भी क्या, उघड़ना है, छूटना है।[१]''

दिगम्बर मान्यतानुसार यद्यपि यह परम सत्य है कि आदिनाथ से लेकर महावीर तक सभी तीर्थंकरों ने नग्न दिगम्बर दशा में ही केवलज्ञान की प्राप्ति की थी तथा उस समय उनकी परम्परा के सभी सन्त नग्न ही रहते थे; तथापि उन्हें दिगम्बर शब्द से अभिहित नहीं किया जाता था; क्योंकि ये **दिगम्बर-श्वेताम्बर नाम तो भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय से आरंभ हुए हैं।**

जब श्वेत कपड़े पहननेवालों को श्वेताम्बर कहा जाने लगा तो उनसे विरुद्ध नग्न सन्तों को दिगम्बर शब्द से अभिहित किया जाने लगा।

मैं ये नहीं कहना चाहता कि आप शुद्ध-सात्त्विक पोशाक (ड्रेस) न पहन कर ऐसे कपड़े पहिनें कि दूर से देखने पर कार्टून जैसे लगें। अन्तर की सात्त्विक वृत्ति के अनुसार बाहर का वेश भी सात्त्विक होना चाहिए; क्योंकि शालीन व्यक्ति का वेश भी शालीन ही होता है। **पर मूल बात तो यह है कि अन्तर की पवित्रता के बिना ही कुछ ऐसा वेश बनाना कि जगत को लगे कि आप उनसे कुछ हटकर हैं; क्योंकि इसके बिना लोगों की श्रद्धा को लूटना संभव नहीं है। इसप्रकार के प्रयत्नों को किसी भी रूप में उचित नहीं माना जा सकता; पर हमारे मानने न मानने**

१. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर, पृष्ठ १४-१५

से क्या होता है ? हो तो ऐसा ही रहा है और आगे भी ऐसा ही होता रहेगा। सहज ज्ञाता-दृष्टा रहने के अतिरिक्त हम और कर भी क्या सकते हैं ?

कुछ लोग पट्ट द्वारा गुरुपना मानते हैं। कहते हैं कि हम अमुक गुरु के पट्टाधीश हैं। ऐसे पट्टाधीशों की चर्चा करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''तथा कितने ही पट्ट द्वारा गुरुपना मानते हैं। पूर्वकाल में कोई महन्त पुरुष हुआ हो, उसकी गादी पर जो शिष्य-प्रतिशिष्य होते आये हों, उनमें उस महत्पुरुष जैसे गुण न होने पर गुरुपना मानते हैं।

यदि ऐसा ही हो तो उस गादी में कोई परस्त्रीगमनादि महापाप कार्य करेगा, वह भी धर्मात्मा होगा, सुगति को प्राप्त होगा; परन्तु यह सम्भव नहीं है और वह पापी है तो गादी का अधिकार कहाँ रहा ? जो गुरुपद योग्य कार्य करे, वही गुरु है।[१]''

पट्ट माने गादी, गद्दी। जिसप्रकार जैनेतरों में शंकराचार्य की गद्दी चलती है; उसीप्रकार उस समय दिगम्बर जैनों में भी भट्टारकों की गद्दियाँ चलने लगी थीं। जिसप्रकार शंकराचार्य की गद्दी पर बैठनेवाले का नाम भी शंकराचार्य ही रहता है; उसीप्रकार दिगम्बर जैनों में भी रहता था।

यह बात तो हम सब जानते ही हैं कि जो विद्वता, जो प्रभाव और अन्य भी अनेक विशेषतायें मूल शंकराचार्य में रही होंगी; उनकी गद्दी पर बैठनेवालों में यह बात शायद ही रही हो। इसीप्रकार की स्थिति भट्टारक परम्परा में भी रही होगी।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी का कहना यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने गुणों से महान होता है, किसी की गद्दी पर बैठने से नहीं। गद्दी पर बैठनेवाले गद्दी पर तो बैठ जाते हैं; नाम भी वही रख लेते हैं; पर विद्वता तो स्वयं ही अर्जित करनी होगी, संयम तो स्वयं ही साधना होगा।

आजकल तो इसका निर्णय समाज करने लगा है कि कौन बैठेगा गद्दी पर। इसमें भी राजनीति चलने लगी है और जो इन गद्दियों पर बैठते हैं, उन्हें मठ की व्यवस्थाओं में ही उलझे रहना होता है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १७६

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

वे मठ या तो तीर्थों पर हैं या फिर वे स्थल (मठ) तीर्थ बन गये हैं। अत: वहाँ की व्यवस्थायें भी बहुत बड़ी हो गई हैं; जिनमें उलझे रहना उनकी मजबूरी हो गई है।

उत्तर भारत में यह भट्टारक परम्परा एकप्रकार से लुप्त हो गई है; परन्तु दक्षिण भारत में यह आज भी विद्यमान है।

उत्तर भारत में भी यह परम्परा नये रूप में उभर रही है और नये प्रकार के मठ बनते जा रहे हैं।

मैं कहना चाहता हूँ कि क्या अजितनाथ आदिनाथ की गद्दी पर बैठे थे? इसीप्रकार क्या संभवनाथ भी अजितनाथ की गद्दी पर बैठे थे?

जैनदर्शन की साधुता गद्दियों से नहीं चलती; वह तो गादी के त्याग-पूर्वक होती है।

गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के समय पर भी यह चर्चा बहुत चलती थी कि कानजी स्वामी के बाद कौन बैठेगा उनकी गादी पर।

हमारा तो एक यही उत्तर रहता था कि स्वामीजी की कोई गद्दी है ही नहीं, उन्होंने गादी बनाई ही नहीं; तो फिर उनकी गादी पर कौन बैठेगा यह प्रश्न ही कहाँ खड़ा होता है?

यह बात तो पीछे स्पष्ट कर ही आये हैं कि वे दिगम्बर साधु नहीं थे। न वे स्वयं स्वयं को दिगम्बर साधु मानते थे और न उनके अनुयायी ही उन्हें साधु मानते हैं, वे तो एक सम्यग्दृष्टि सामान्य श्रावक थे।

उन्होंने दिगम्बर जिनधर्म प्राप्त कर अपना कल्याण किया और जगत के सामने भी जिन-अध्यात्म का मर्म प्रस्तुत किया है। आगे भी जिसमें योग्यता होगी, वह भी जिन-अध्यात्म का मर्म समझ कर अपना कल्याण करेगा और अपनी योग्यतानुसार जगत के सामने उसे प्रस्तुत भी करेगा।

अब मुझसे भी लोग पूछने लगे हैं कि आपके बाद कौन बैठेगा आपकी गद्दी पर; पर मेरा एक ही उत्तर होता है कि हमने कोई गादी बनाई ही नहीं। आरंभ से ही जिस गादी पर बैठकर मैं प्रवचन करता हूँ, उसी गादी पर बिठाकर अपने प्रत्येक विद्यार्थी के प्रवचन कराता रहा हूँ।

अरे, भाई! जैनदर्शन में किसके बाद कौन? का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता; क्योंकि जैनदर्शन में प्रत्येक आत्मा अनादि-अनन्त है; ऐसी स्थिति में उसके पहले और उसके बाद का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होना चाहिए।

न तो मैंने किसी का काम संभाला है और न किसी को मेरा काम संभालने की आवश्यकता है। स्वामीजी ने अपना काम किया, अपने आत्मकल्याण का काम किया और मैं भी अपना काम ही करता हूँ, अपने कल्याण का कार्य ही करता हूँ। मेरे छात्र भी स्वयं का ही कार्य करेंगे। कोई किसी का कार्य नहीं करता, न कर सकता है; सब अपना-अपना कार्य ही करते हैं। जैनदर्शन में तो परकर्तृत्व के अभिमान को मिथ्यात्व कहा है।

प्रत्येक आत्मा अपनी-अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार अपना-अपना कार्य करते हैं और जिनकी वाणी जिनके आत्मकल्याण में निमित्त बनना होती है, सहजभाव से बन जाती है।

जैनदर्शन की तो अनादि परम्परा ऐसी ही है। इसमें उत्तराधिकारी के रूप में मठाधीशों के लिए कोई स्थान नहीं है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी इस मोक्षमार्गप्रकाशक में कुगुरु संबंधी प्रकरण के उपसंहार में वर्तमान स्थिति पर खेद प्रकट करते हुए लिखते हैं

"देखो, हुण्डावसर्पिणी काल में यह कलिकाल वर्त रहा है, इसके दोष से; जिनमत में मुनि का स्वरूप तो ऐसा है, जहाँ बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का लगाव नहीं है, केवल अपने आत्मा का आपरूप अनुभवन करते हुए शुभाशुभभावों से उदासीन रहते हैं और अब विषय-कषायासक्त जीव मुनिपद धारण करते हैं; वहाँ सर्व सावद्य के त्यागी होकर पंचमहाव्रतादि अंगीकार करते हैं, श्वेत-रक्तादि वस्त्रों को ग्रहण करते हैं, भोजनादि में लोलुपी होते हैं, अपनी पद्धति बढाने में उद्यमी होते हैं व कितने ही धनादिक भी रखते हैं, हिंसादिक करते हैं व नाना आरम्भ करते हैं; परन्तु अल्प परिग्रह ग्रहण करने का फल निगोद कहा है, तब ऐसे पापों का फल तो अनंत संसार होगा ही होगा।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

लोगों की अज्ञानता तो देखो, कोई एक छोटी भी प्रतिज्ञा भंग करे उसे तो पापी कहते हैं और ऐसी बड़ी प्रतिज्ञा भंग करते देखकर भी उन्हें गुरु मानते हैं, उनका मुनिवत् सन्मानादि करते हैं; सो शास्त्र में कृत,कारित, अनुमोदना का फल कहा है; इसलिए उनको भी वैसा ही फल लगता है।

मुनिपद लेने का क्रम तो यह है पहले तत्त्वज्ञान होता है, पश्चात् उदासीन परिणाम होते हैं, परिषहादि सहने की शक्ति होती है; तब स्वयमेव मुनि होना चाहता है और तब श्रीगुरु मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।

यह कैसी विपरीतता है कि तत्त्वज्ञानरहित विषय-कषायासक्त जीवों को माया से व लोभ दिखाकर मुनिपद देना, पश्चात् अन्यथा प्रवृत्ति कराना; सो यह बड़ा अन्याय है।[१]''

पण्डित टोडरमलजी के समय में नग्न दिगम्बर मुनिराजों के विद्यमान होने के कोई उल्लेख तो प्राप्त होते नहीं; अत: यही लगता है कि उक्त कथन स्वयं को मुनिराज मानने और कहनेवाले भट्टारकों के संदर्भ में ही होंगे। जो भी हो.....।

इसके उपरान्त पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक में कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं; जिनमें कुगुरुओं के नंगे नाच का सजीव चित्रण हैं।

उनमें से श्वेताम्बर ग्रंथ 'संघपट्ट' का एक छन्द इसप्रकार है

(शार्दूलविक्रीडित)

क्षुत्क्षाम: किल कोपि रंकशिशुक: प्रवृज्य चैत्ये क्वचित्।
कृत्वा किंचनपक्षमक्षतकलि: प्राप्तस्तदाचार्यकम्।।
चित्रं चैत्यगृहे गृहीयति निज गच्छे कुटुम्बीयति।
स्वं शक्रीयति बालिशीयति बुधान् विश्व वराकीयति।।[२]

उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि भूख से पीड़ित किसी रंक का बालक किसी मठ में दीक्षा धारण करके आचार्य बन बैठा। वह निर्द्वन्द्वभाव मंदिर में घर और गच्छ में कुटुम्ब के समान प्रवृत्ति करता है, अपने को इन्द्र के समान महान मानता है, ज्ञानियों को बालकवत् और

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १७९ २. वही, पृष्ठ १८०

सामान्य गृहस्थों को रंक के समान मानकर व्यवहार करता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है।

इसके बाद मोक्षमार्गप्रकाशक में एक छन्द की मात्र एक पंक्ति[१] देकर पूरे छन्द का भाव प्रस्तुत किया गया है। उसका भाव बताते हुए लिखा गया है कि जिनसे जन्म नहीं लिया, जिन्होंने पाल-पोषकर बड़ा नहीं किया, जिन्होंने मोल नहीं लिया, जिनके कर्जदार भी नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जिनसे किसी भी प्रकार का संबंध नहीं है; उन गृहस्थों को ये मठाधीश बैलों के समान जोतते हैं, दानादिक के नाम पर जबरदस्ती चन्दा वसूलते हैं; हाय ! हाय !! यह जगत राजा रहित है, कोई न्याय पूछनेवाला नहीं है।[२]

उक्त छन्दों से यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि तत्कालीन जैन समाज कुगुरुओं से किसप्रकार त्रस्त रहा होगा।

उक्त संदर्भ में **'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व'** का निम्नांकित अंश दृष्टव्य है

''इसी बात को चन्द्रकवि इसप्रकार लिखते हैं कि जब सांगानेर में नरेन्द्रकीर्ति भट्टारक का चातुर्मास था, तब उनके व्याख्यान के समय अमरचंद गोदीका का पुत्र (जोधराज) जो सिद्धान्तशास्त्रों का ज्ञाता था, बीच-बीच में बहुत बोलता था। उसे व्याख्यान में से जूते मार कर निकाल दिया गया था। इससे चिढ कर अनादि से चली अन्य तेरह बातों का उत्थापन करके उसने तेरहपंथ चलाया।[३]

१. **यैर्जातो न च वर्द्धितो न च न च क्रीतो**....इत्यादि।
२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १८१
३. संवत् सोलासै पचोत्तरे कार्तिक मास अमावस कारी।
कीर्तिनरेन्द्र भट्टारक सोभित, चातुर्मास सांगावति धारी।
गोदीकारा उधरो अमरोसुत, सास्त्रसिंधत पढाइयो भारी।
बीच ही बीच बखानमैं बोलत, मारि निकार दियौ दुख भारी।।
तदि तेरह बात उथापि धरी, इह आदि अनादि को पंथ निवार्‌यो।
हिन्दू के मारे म्लेच्छ ज्यों रोवत, तैसे त्रयोदस रोय पुकार्‌यो।
पागरख्यां मारि जिनालय से विडारि दिए, तातैं कुभाव धारि न मानैं गुरु जती कों।
झूठो दंभ धरै फिरै झूठ ही विवाद करे, छोड़े नांहि रीस जानहार कुगती कों।।

अ.क.भूमिका, ५२

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इसतरह का कठोर व्यवहार भट्टारकों के अनुयायी श्रावक लोग ही नहीं करते थे, किन्तु भट्टारक लोग स्वयं भी उसमें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्षरूप से सक्रिय रहते थे। वे ऐसा करने के लिए श्रावकों को मात्र उकसाते ही नहीं थे, वरन् स्पष्ट आदेश तक देते थे। उनके द्वारा लिखित टीका ग्रन्थों में भी इसप्रकार के उल्लेख पाए जाते हैं।

सोलहवीं शती के भट्टारक श्रुतसागर सूरि ने कुन्दकुन्दाचार्य के पवित्रतम ग्रन्थ 'षट्पाहुड' (षट्प्राभृत) की टीका करते हुए इसप्रकार की अनर्गल बातें लिखी हैं

जब ये जिनसूत्र का उल्लंघन करें, तब आस्तिकों को चाहिए कि युक्तियुक्त वचनों से इनका निषेध करें; फिर भी यदि ये कदाग्रह न छोड़े तो समर्थ आस्तिक इनके मुँह पर विष्ठा से लिपटे हुए जूते मारें, इसमें जरा भी पाप नहीं है।[१]''

मोक्षमार्गप्रकाशक के कथनों को उक्त स्थिति के संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

इसके उपरान्त मोक्षमार्गप्रकाशक में अष्टपाहुड की अनेक गाथाओं में प्रस्तुत की गई हैं, जिनमें से कुछ गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है

(हरिगीत)

सद्धर्म का है मूल दर्शन जिनवरेन्द्रों ने कहा।
हे कानवालो सुनो! दर्शनहीन वंदन योग्य ना।।२।।
जो ज्ञान-दर्शन-भ्रष्ट हैं चारित्र से भी भ्रष्ट हैं।
वे भ्रष्ट करते अन्य को वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं।।८।।
चाहें नमन दृगवन्त से पर स्वयं दर्शनहीन हों।
है बोधिदुर्लभ उन्हें भी वे भी वचन-कर हीन हों।।१२।।
जो लाज गारव और भयवश पूजते दृगभ्रष्ट को।
की पाप की अनुमोदना ना बोधि उनको प्राप्त हो।।१३।।

१. यदि जिनसूत्रमुल्लंघंते तदाऽऽस्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीया:। तथापि यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भि: गूथलिप्ताभिर्मुरवै: ताडनीया: तत्र पापं नास्ति। षट्प्राभृत टीका, ३

जिन लिंग धर कर पाप करते पाप मोहितमति जो।
वे च्युत हुए हैं मुक्तिमग से दुर्गति दुर्मति हो।।७८।।

उक्त छन्दों में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वयं सम्यग्दर्शन से रहित है; किन्तु क्रियाकाण्ड के आधार पर सम्यग्दृष्टियों से अपने पैर पुजवाना चाहता है; उसे वास्तविक रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है और वह आगे जाकर गूंगा और लूला होगा अर्थात् वाणी और हाथों से रहित होगा। जो बोल नहीं सकता, उसे गूंगा कहते हैं और जिसके हाथ नहीं होते, उसे लूला कहते हैं।

वाणी और हाथों से रहित का अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि वह गूंगा और लूला मुनष्य होगा; अपितु यह है कि एकेन्द्रिय वृक्ष होगा अर्थात् निगोद जायेगा। एकेन्द्रिय जीवों की जबान न होने से वे गूंगे और वृक्षों के हाथ नहीं होते; इसलिए वे लूले हैं। यह तो आप सब जानते ही हैं कि निगोदिया जीव एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक होते हैं। अत: यह सहज ही प्रतिफलित हो जाता है कि ऐसे जीव निगोद जावेंगे; क्योंकि वे बज्र मिथ्यादृष्टि हैं और मिथ्यात्व का फल अंतत: निगोद ही है।

१२वें छन्द में यह कहने के उपरान्त १३वें छन्द में यह कहते हैं कि जो जीव लज्जा, गारव और भय के कारण मिथ्यादृष्टिओं के चरणों में झुकते हैं; उन्हें भी उनकी अनुमोदना के कारण रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होगी।

इसप्रकार हम देखते हैं कि कुगुरु स्वयं तो संसार सागर में डूबते ही हैं; पर साथ में अपने अनुयायियों के भवभ्रमण को भी बढा देते हैं। अत: उनसे दूर रहना ही अच्छा है।

न तो उनकी सेवा में स्वयं को समर्पित करना ठीक है और न उनके विरोध में अपने समय और शक्ति को बर्बाद करना उचित है; क्योंकि ये मनुष्य जन्म पाना इतना आसान नहीं है कि इसे चाहे जहाँ यों ही बर्बाद कर दिया जाय। ●

भगवान स्वरूप अपने आत्मा पर रीझे पुरुषों के गले में ही मुक्तिरूपी कन्या वरमाला डालती है। **आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२०२**

ग्यारहवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक का छठवाँ अधिकार चल रहा है। इसमें कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की चर्चा की गई है। अबतक अपन कुदेव की चर्चा कर चुके हैं और कुगुरु की चर्चा चल रही है; जिसमें अभीतक कुल अपेक्षा, पट्ट अपेक्षा एवं विविध वेशों की अपेक्षा कुगुरु की चर्चा हुई।

अब यह समझाते हैं कि ये कुगुरु और उसके अनुयायी अपने शिथिलाचार को किसप्रकार पुष्ट करते रहे हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि शास्त्रों में सच्चे गुरु का जो स्वरूप बताया गया है; वैसे गुरु तो कहीं देखने में आते नहीं हैं और यदि इन्हें भी हम गुरु के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे तो हम निगुरा कहलायेंगे।

निगुरा न कहलायें इसलिए किसी न किसी को तो गुरु स्वीकार करना ही है। अत: प्रकारान्तर का अभाव होने से इन्हीं को गुरु मान लेना ठीक है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितजी कहते हैं कि **निगुरा तो उसे कहते हैं, जो गुरु को मानते ही नहीं हैं; किन्तु इस क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति में गुरु का लक्षण दिखाई नहीं देने पर किसी व्यक्ति विशेष को गुरु नहीं मानने का नाम तो निगुरा नहीं है।**

जिसप्रकार नास्तिक तो उसका नाम है, जो परमेश्वर को नहीं मानता, उनकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता; परन्तु क्षेत्र विशेष में, किसी व्यक्ति विशेष में परमेश्वर का लक्षण न देखकर, उसे परमेश्वर नहीं मानने से तो नास्तिक नहीं होते; उसीप्रकार गुरु के संदर्भ में भी समझना चाहिए।

इस पर लोग कहते हैं कि शास्त्रों में कहा है कि पंचमकाल के अन्त तक इस क्षेत्र में मुनि-आर्यिका और श्रावक-श्राविका होंगे; अत: इन्हें गुरु मानना ही पड़ेगा।

अरे, भाई ! जिसप्रकार यह कहा है कि यहाँ हंस होते हैं। इसके

आधार पर असली हंस दिखाई न देने पर बगुलों को तो हंस नहीं माना जा सकता। यह क्षेत्र बहुत बड़ा है, भले ही यहाँ हंस नहीं है, पर कहीं न कहीं तो होंगे ही।

इसीप्रकार हमें कहीं कोई सच्चे साधु (गुरु) दिखाई न देने पर भी इन वेश धारियों को साधु नहीं माना जा सकता; यह भरतक्षेत्र बहुत बड़ा है, यहाँ नहीं तो कहीं न कहीं सच्चे साधु अवश्य होंगे।

अरे, भाई ! पिता के न होने पर अर्थात् पिता की मृत्यु हो जाने पर पिता सदृश किसी अन्य व्यक्ति को जिसप्रकार पिता नहीं माना जा सकता; पति के न होने पर या मृत्यु हो जाने पर जिसप्रकार किसी अन्य व्यक्ति को पति नहीं माना जा सकता; उसीप्रकार सच्चे गुरुओं के अभाव में किसी अगुरु या कुगुरु को गुरु या सुगुरु किसी भी स्थिति में नहीं माना जा सकता।

इस पर कोई कहता है कि एक अक्षर दाता को गुरु मानते हैं; जो शास्त्र सिखलाये, उसे गुरु क्यों नहीं मानें ?

उक्त प्रश्न का उत्तर पण्डितजी के शब्दों में देखिये

''गुरु नाम बड़े का है। इसलिए जिसप्रकार का बड़ापन जिसके संभव हो, उसे उसीप्रकार की गुरु संज्ञा संभव है। कुल अपेक्षा माता-पिता गुरु हैं, विद्या पढानेवाले विद्यागुरु हैं; परन्तु **यहाँ तो धर्म का प्रकरण है; इसलिए जिसके धर्म अपेक्षा महंतता हो, बड़ापन हो; उसे गुरु मानना।**

धर्म नाम चारित्र का है। कहा भी है कि **'चारित्तं खलु धम्मो'** इसलिए चारित्र के धारक को ही गुरु संज्ञा है।

जिसप्रकार भूतादि व्यंतरों का नाम भी देव हैं, तथापि यहाँ अरहंत-सिद्ध को ही देव के रूप में ग्रहण करना; उसीप्रकार औरों का नाम भी गुरु हैं, तथापि यहाँ **सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित चारित्र के धारी निर्ग्रन्थों को ही गुरु के रूप में ग्रहण कहना चाहिए।**

इस पर कोई कह सकता है कि जैसे श्रावक, तैसे मुनि; पर यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि **श्रावक तो सामान्य से सभी जैनियों को कहते हैं।**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

राजा श्रेणिक अव्रती था, पर उसे श्रावकोत्तम कह दिया। मुनियों में ऐसा नहीं चल सकता।

देखो, आदिनाथ के साथ चार हजार राजा दीक्षा लेकर पुन: भ्रष्ट हुए; तब देव उनसे कहने लगे कि जिनलिंगी होकर अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दंड देंगे। जिनलिंग छोड़कर जो तुम्हारी इच्छा हो सो तुम जानो। इससे यह सहज ही सिद्ध है कि जो जिनलिंगी होकर अन्यथा प्रवर्ते तो वे तो दण्ड योग्य हैं, वंदनादि योग्य कैसे होंगे ?[१]''

यहाँ पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक में उपदेशसिद्धान्तरत्न-माला की दो गाथायें उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार हैं

सप्पो इक्कं मरणं कुगुरु अणंताइ देह मरणाईं।
तो वर सप्पं गहियं मा कुगुरु सेवणं भद्दं।।३७।।
सप्पे दिट्ठे णासइ लोओ न हि कोवि किंपि अक्खेइ।
सो चयइ कुगुरु सप्पं हा मूढा भणइ तं दुट्ठं।।३६।।

सर्प द्वारा तो एक बार मरण होता है और कुगुरु अनन्त बार जन्म-मरण कराता है; इसलिए हे भद्रपुरुषो ! एक बार सर्प के ग्रहण को तो भला कह भी सकते हैं, किन्तु कुगुरु का सेवन तो कभी भी मत करना।

आश्चर्य की बात तो यह है कि सर्प को देखकर कोई भागे तो लोग उसे कुछ नहीं कहते; परन्तु, हाय, हाय; देखो तो जो लोग कुगुरु सर्प को छोड़ते हैं, उसे मूढ लोग दुष्ट कहते हैं, बुरा बताते हैं।

आज की स्थिति तो यह है कि गुरु के स्वरूप के बारे में भी जरा सी चर्चा करो तो लोग कहने लगते हैं कि तुम कौन होते हो गुरुओं की परीक्षा करने वाले ?

अरे, भाई ! हम किसी गुरु की परीक्षा करने की बात नहीं कह रहे हैं; हम तो सच्चे गुरु का स्वरूप समझने-समझाने का प्रयास कर रहे हैं।

रही बात किसी व्यक्ति विशेष की परीक्षा करने की बात तो भाई !

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १८६

किसी को गुरुरूप में स्वीकार करने के पहले उन्हें जानना-पहिचानना तो पड़ेगा ही; क्योंकि जाने-पहिचाने बिना किसी को भी किसी भी रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

हमारे अचार्यों ने तो बिना परीक्षा अरहंत भगवान को भी स्वीकार नहीं किया, हमारे शास्त्रों के तो नाम ही आप्तपरीक्षा, आप्तमीमांसा इसप्रकार के हैं और उनमें वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान की जमकर परीक्षा की गई है।

गजब हो गया; जब कोई किसी लड़की को पत्नी के रूप में या लड़के को पति के रूप में स्वीकार करता है तो पूरी जांच-परख करके ही करता है; पर जब गुरु की बात आती है तो यह कहा जाता है कि गुरुओं की क्या परीक्षा करना ?

अरे, भाई ! हम किसी को पति या पत्नी बनाने में जितने सतर्क रहते हैं; किसी को गुरुरूप में स्वीकार करने में उतने भी सतर्क नहीं रहना चाहते। क्या गुरु के संबंध में की गई यह उपेक्षा सही है ?

नहीं, कदापि नहीं। अरे, भाई ! देव तो हमारे आदर्श हैं, वे तो वर्तमानकाल में पूर्णत: परोक्ष ही हैं; किन्तु **गुरुओं का तो प्रत्यक्ष समागम होता है, वे तो हमारे सीधे मार्गदर्शक होते हैं; उनके चुनाव में की गई जरा सी असावधानी भी बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकती है। अत: हमें सुगुरु और कुगुरु के स्वरूप को बहुत ही सावधानी से समझने का प्रयास करना चाहिए।**

इसप्रकार यहाँ कुगुरु की चर्चा से विराम लेते हैं और अब कुधर्म के संबंध में बात आरंभ करते हैं।

जिनागम में लगभग सर्वत्र ही, जब भी देवादिक की चर्चा होती है तो देव-शास्त्र-गुरु की एकसाथ ही होती है; परन्तु यहाँ शास्त्र का स्थान धर्म ने ले लिया है।

अबतक कुदेव और कुगुरु के बारे में मंथन किया है और अब कुधर्म की प्रवृत्तियों की बात आरंभ कर रहे हैं। यद्यपि यह सभी चर्चा मुख्यत:

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

दिगम्बर जैनों के संदर्भ में की जा रही है; तथापि दिगम्बर जैन लोग; जिन लोगों के बीच रहते हैं, उन जैनेतर लोगों का विशाल जन समुदाय होने से, उन लोगों में पाई जाने वाली प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर उन्हें अपना लेते हैं। यद्यपि दशहरा और होली के त्योहार जैनों से संबंधित नहीं हैं; तथापि शायद ही कोई दिगम्बर जैन इनसे अछूता रहा होगा।

इसलिए यहाँ उन प्रवृत्तियों की भी चर्चा होगी; जो जैनेतरों से जैनियों में आ गई हैं। यद्यपि पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में एक छोटा सा कार्यक्रम पालना झूलन का होता है; परन्तु आजकल कुछ लोग जन्माष्टमी की नकल पर महावीर जयन्ती या पर्यूषण में भी पालनाझूलन का कार्यक्रम रख लेते हैं और उसमें प्रतिष्ठित प्रतिमा रखकर उसे झुलाते हैं; जबकि पंचकल्याणक में जो प्रतिमा झूले में रखी जाती है, वह तबतक अप्रतिष्ठित ही होती है। झूले में झूलना बालक को तो शोभा देता है, पर केवलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा के साथ बालकवत् व्यवहार करना कहाँ तक उचित है ?

पर आज लोगों ने उसे आय का साधन बना लिया है। जो जो क्रियायें आमदनी से जुड़ जाती हैं, वे कितनी ही गलत क्यों न हों, उनका रुकना संभव नहीं रहता।

आजादी के आन्दोलन के साथ शराब, सिगरेट आदि के विरुद्ध भी आवाज उठी थी और यह संकल्प लिये जा रहे थे कि आजाद भारत में कुछ नहीं होगा; किन्तु जब भारत आजाद हो गया तो पूरी तरह शराबबंदी को अव्यवहारिक मानकर उस पर अधिकाधिक टैक्स लगाने की बात रखी गई। इसप्रकार वर्ष-प्रतिवर्ष टैक्स बढता रहा और शराब-सिगरेट चलते रहे। जब उनके प्रचार-प्रसार में कोई कमी नहीं आई तो चिन्ता हुई कि क्या करें? फिर शराबबंदी के लिये आवाज उठने लगी, तबतक शराब भारत सरकार की आय का प्रमुख भाग बन गई थी और शराब के व्यापारी इतने समर्थ हो गये थे कि उनके चन्दे से ही नेता लोग चुनाव लड़ने लगे थे। ऐसी स्थिति में अब शराबबंदी एक स्वप्न बनकर रह गई है।

इसीप्रकार जब धर्म के नाम पर चलने वाली खोटी प्रवृत्तियाँ आय का साधन बन जाती हैं तो उनका उखड़ना असंभव सा हो जाता है। पालना झूलन जैसी प्रवृत्तियों के संदर्भ में भी यही सबकुछ हुआ है। पंचकल्याणकों में होनेवाले पालना झूलन का चार फुट का पालना बढते-बढते अब ४० फुट का हो गया है और न जाने अब कहाँ तक पहुँचेगा ?

यह पालना झूलन का कार्यक्रम जो कि कुछ मिनटों का था; आजकल घंटों में भी नहीं निबटता। तत्त्वचर्चा और प्रवचन आदि सबकुछ अस्त-व्यस्त हो जाते हैं; क्योंकि पालना के आकार-प्रकार के अनुसार उसकी बोलियों का आकार-प्रकार भी बढ जाता है और वे बोलियाँ भी घंटों तक चलती रहती हैं। उनमें भी खूब पैसा आता है, फिर प्रत्येक झुलाने वाला भी तो पैसे देता है। इसप्रकार पैसों की वर्षा में सबकुछ अस्त-व्यस्त हो जाता है।

पण्डितजी के जमाने में भी इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जा रही थीं। यही कारण है कि वे लिखते हैं कि कितने ही लोग भक्ति आदि कार्यों में हिंसादिक पाप बढाते हैं, गीत-नृत्य-गानादिक व इष्ट भोजनादिक व अन्य सामग्रियों द्वारा विषयों का पोषण करते हैं; कुतूहल प्रमादादिरूप प्रवर्तते हैं। वहाँ पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और धर्म का किंचित् भी साधन नहीं है। इन प्रवृत्तियों में धर्म मानना भी कुधर्म है।

देखो, काल का दोष कि वीतरागी जैनधर्म में कुधर्म की प्रवृत्तियाँ पनपने लगी हैं। जैनमत में तो जो धर्मपर्व कहे हैं, उनमें तो विषय-कषाय रूप प्रवृत्ति छोड़कर संयमरूप प्रवृत्ति इष्ट हैं; उसे तो ग्रहण नहीं करते और व्रतादिक का नाम धारण करके नाना शृंगार बनाते हैं; पूजन-प्रतिष्ठादि कार्यों में उपदेश तो यह था कि **'सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ दोषायनालं[१]'** बहुत से पुण्य की राशि (ढेर) में पाप का अंश हो तो दोष अधिक नहीं

१. पूज्यं जिनं त्वार्चयतोजनस्य, सावद्यलेशोबहुपुण्यराशौ।
दोषायनालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ।।५८ ।। बृहत् स्वयंभूस्तोत्र

है, न के बराबर ही है। इसके बहाने पूजा-प्रभावनादि कार्यों में रात्रि में दीपक (बिजली) से व अनन्तकायादिक के संग्रह द्वारा व अयत्नाचार प्रवृत्ति से हिंसादिरूप पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और स्तुति, भक्ति आदि शुभ परिणामों में नहीं प्रवर्तते या थोड़े प्रवर्तते हैं। इसलिए नुकसान अधिक और लाभ कम या कुछ भी नहीं। ऐसे कार्यों से तो बुरा ही होता है।

देखो, यहाँ पण्डितजी संगीत, नृत्य, गानादि को विषयों का पोषक बताकर बड़ी कड़काई से निषेध कर रहे हैं। पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सामने यह सब संभव ही नहीं था; पर आज तो मानो नाच-गाना ही सबकुछ हो गया है।

यदि इन सब प्रवृत्तियों के विरुद्ध थोड़ा-बहुत बोलो तो सभी को लगता है कि यह सब उनके विरुद्ध कहा जा रहा है। नाचनेवाले सोचते हैं यह बात हमारे विरुद्ध कही जा रही है, नचानेवाले पण्डित सोचते हैं यह हमारे विरुद्ध कहा जा रहा है, व्यवस्थापकों को लगता है कि यदि इन्द्र-इन्द्राणी और राजा-रानियों को नचायेंगे नहीं तो बोलियाँ कोई क्यों लेगा ? इन्द्र-इन्द्राणियों और राजा-रानियों का काम जैसे नाचना-गाना ही हो। क्या इन्द्र और राजा अपनी वास्तविक सभाओं में नाचते ही रहते होंगे, वह भी अपनी पत्नियों के साथ। अरे, भाई ! इससे उनके गंभीर व्यक्तित्व की महिमा नष्ट होती है।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी कहा करते थे कि लोगों को व्यवहार का पौर चढता है। पौर अर्थात् नशा। इस नाच-गाने का ऐसा नशा चढता है कि कुछ होश नहीं रहता। लोग सारी मर्यादायें तोड़कर उछलने-कूदने लगते हैं। जिनके सामने कभी गर्दन भी ऊँची नहीं की होगी, सदा गर्दन नीची करके बात की होगी; उनके सामने भी महिलायें नाचने-कूदने लगती हैं। मातायें-बहिनें, जिन्होंने हमसे कभी आँख उठाकर बात नहीं की होगी, वे भी धर्म के नाम पर नाचने-कूदने लग जाती हैं। आखिर हमें ही नीची गर्दन करके बैठना पड़ता है। क्या करें मर्यादा रखने के लिए

किसी एक को तो गर्दन नीची करनी ही होगी। अरे, भाई ! इसे ही कहते हैं गुरुदेव की भाषा में पौर चढना।

पहले एक नाचता है, फिर दूसरा उठता है; तीसरा, चौथा, इसप्रकार बहुत लोग उठ जाते हैं; पर गंभीर प्रकृति के लोग तब भी बैठे रहते हैं तो लोग उन्हें पकड़-पकड़ उठाते हैं और फिर सभी राग की आग में जल-जल कर नाचने-कूदने लगते हैं और मानते हैं कि हमें आनन्द आ रहा है, धर्म का आनन्द आ रहा है। अरे, भाई ! देखो तो सही कि पण्डित टोडरमलजी उक्त प्रवृत्तियों को कुधर्म कह रहे हैं।

उक्त प्रवृत्तियों ने मेरे चित्त को कभी भी एक सैकिण्ड के लिए भी आकर्षित नहीं किया और अब तो बर्दाश्त भी नहीं होतीं; इसकारण मैंने ऐसे प्रसंगों में बैठना भी बंद सा ही कर दिया है। क्या करें, कोई सुनता तो है नहीं।

अपनी इन प्रवृत्तियों को भक्ति का नाम देनेवाले सौधर्म इन्द्र का सहारा लेते हैं। कहते हैं वह भी तो नाचा था। जानते हैं वह मात्र जन्म-कल्याणक के अवसर पर ही नाचता है, भगवान के समोशरण में नहीं। सम्यग्दृष्टि एक भवावतारी अकेला वही नहीं है, सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र और लोकान्तिकदेव भी तो एक भवावतारी सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। वे कितना नाचते हैं, कब-कब नाचते हैं ? अरे, भाई ! सभी तीर्थंकर भी तो उसी भव से मोक्ष जानेवाले और सम्यग्दृष्टि होते हैं। वे कितना नाचते हैं और और कब नाचते हैं।

एक बात यह भी गंभीरता से विचार करने की है कि हमारे आदर्श तीर्थंकर भगवान हैं या उनके दरवाजे पर नाचनेवाले सौधर्म इन्द्र ?

अरे, भाई ! हमारे आदर्श तो तीर्थंकर भगवान हैं, अरहंत-सिद्ध भगवान हैं। हम तो अरहंत और सिद्ध भगवान के अनुयायी हैं, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं के अनुयायी हैं, पंचपरमेष्ठियों के अनुयायी हैं, वीतराग धर्म के अनुयायी हैं।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

अरे, भाई ! जिन पंचकल्याणकों में हम सीमातीत नाचना-गाना चाहते हैं; उन पंचकल्याणकों में जिनबिम्बों के रूप में हमारे आराध्य अरहंत भगवान की प्रतिष्ठा होती है, तीर्थंकर भगवान की प्रतिष्ठा होती है; सौधर्म इन्द्र की नहीं। **ध्यान रहे अरहंतों की प्रतिष्ठा नाच-गाने में नहीं है, नाच-गाना त्यागने में है; रागभाव में नहीं है, वीतरागता में है; क्योंकि जिनबिम्बों में वीतरागता की ही प्रतिष्ठा की जाती है, रागभाव की नहीं।**

अरे, भाई ! अब तक चार गति और चौरासी लाख योनियों में बहुत नाचे, अब हमें नहीं नाचना है। अब तो इस नाच-गाने को तिलांजलि देकर अपने में समा जाना है; क्योंकि यही धर्म है।

जिस पंचकल्याणक में विधिनायक भगवान नेमिनाथ होते हैं; उस पंचकल्याणक में वैराग्य के निमित्त के रूप में नेमिनाथ की बारात के नाम पर जो कुछ होता है; वह भी कम विचारणीय बिन्दु नहीं है।

वैराग्य का निमित्त बताने के लिए तो पाण्डाल के गेट से ही बारात का लाना पर्याप्त है; पर नेमिनाथ की बारात का जुलूस नाचते-गाते पूरे बाजार में घंटों तक घुमाना, बारात के स्वागत के नाम पर मार्ग में चाय-पानी की व्यवस्था करना, कार्ड बांटना यह सब क्या है ? यह सब रागवर्धक क्रियायें हैं या वैराग्यवर्धक ? आश्चर्य तो इस बात का है कि यह सब वैराग्य के प्रसंग में दिखाया जाता है।

इस बारात की वजह से आगे के सभी कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, वैराग्य के प्रसंग अचर्चित रहकर फीके हो जाते हैं। वैराग्य के दिन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समय राग-रंग में ही चला जाता है।

हम सभी को पता है कि गुरुदेव श्री इन नाच-गानों को बिलकुल पसंद नहीं करते थे और टोडरमलजी तो इन्हें स्पष्टरूप से कुधर्म की प्रवृत्ति कह रहे हैं। क्या आपने कभी गुरुदेवश्री को नाचते या किसी को नचाते देखा है या उन्होंने रसपूर्वक किसी को नाचते देखा भी है ?

इस भरत क्षेत्र में दश कोड़ाकोड़ी सागर में इन्द्र मात्र २४ बार ही

आता है और जन्मकल्याणक के समय पर नृत्य करता है। दस कोड़ाकोड़ी सागर में दो सागर की आयुवाले सौधर्म इन्द्र न जाने कितने हो जाते होंगे। उसके अनुपात में ये नाचने के शौकीन लोग इस ६०-७० वर्ष की जिन्दगी में नाचते ही रहते हैं। **अरे, भाई ! जैनधर्म नचैयों-गवइयों का धर्म नहीं है। यह तो वीतरागी धर्म है, इसमें वीतरागता की पोषक क्रियायें ही स्वीकृत हो सकती हैं।**

गुरुदेवश्री की उपस्थिति में जो भी पंचकल्याणक हुए हैं, पण्डितश्री नाथूलालजी ने कराये हैं; वे सभी बड़ी ही सादगी और पूर्ण वैराग्य के वातावरण में हुए हैं; पर हमारे देखते-देखते हम कहाँ से कहाँ पहुँच गये हैं यह भी एक विचारणीय बिन्दु है।

यदि गुरुदेवश्री इन प्रवृत्तियों को पसन्द नहीं करते थे और टोडरमलजी इन्हें कुधर्म कह रहे हैं तो फिर हम इन प्रवृत्तियों को इतना प्रोत्साहित क्यों कर रहे हैं ? उक्त दोनों महापुरुष हमारे परमोपकारी हैं तो हमें कुछ उनकी बात भी तो माननी चाहिए।

अरे, भाई ! गुरुदेवश्री की भावना की पोषक पण्डित टोडरमलजी की इस बात को कौन आगे बढायेगा, कौन संभालेगा ?

गुरुदेवश्री के अनुयायी श्री टोडरमल स्मारक भवन से जुड़े लोग ही तो संभालेंगे, टोडरमल महाविद्यालय में पढने-पढानेवाले विद्वान ही तो संभालेंगे। अब आप ही बताइये कि यदि कुयें में ही आग लग जायेगी तो क्या होगा इसकी कल्पना आप कर सकते हैं। यदि गुरुदेवश्री के अनुयायी श्री टोडरमल स्मारकभवनवाले भी इन प्रवृत्तियों में बहने लग जायेंगे; इन्हें प्रोत्साहित करने लग जावेंगे तो क्या होगा ?

इन बातों पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

हम यह बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है कि जो एक मिनिट में यह कह सकते हैं कि जिसे भगवान की भक्ति का भाव न आये, भक्ति में नाचने-गाने का भाव न आये; वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। वे यह भी कह सकते हैं कि वह तो जैनी भी नहीं है। यह भी

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

हम अच्छी तरह जानते हैं कि वे हमें मिथ्यादृष्टि के साथ-साथ अजैनी भी घोषित कर सकते हैं। उनके पास जितनी भी छोटी-बड़ी गालियाँ होंगी; वे उन सभी का प्रयोग करेंगे।

यह तो आप जानते ही होंगे कि जैनदर्शन की छोटी गाली मिथ्यादृष्टि और बड़ी गाली अभव्य है; क्योंकि जो अभी रत्नत्रयधारी नहीं हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं हैं; वे मिथ्यादृष्टि हैं और जो कभी भी सम्यग्दृष्टि नहीं होंगे, रत्नत्रयधारी नहीं होंगे, मोक्ष नहीं जावेंगे; वे अभव्य हैं।

इन छोटी-बड़ी गालियों में मात्र अभी और कभी का ही अन्तर है। जो अभी सम्यग्दृष्टि नहीं, वे मिथ्यादृष्टि और जो कभी सम्यग्दृष्टि न होंगे, वे अभव्य हैं।

हमें मालूम हैं कि इस पर लोगों की तालियाँ भी पिट जावेगी। इसलिए नहीं कि उन्होंने बहुत अच्छी और सच्ची बात कही है; किन्तु इसलिए कि उन्होंने उनके मन की बात कही है।

अरे, भाई ! यह हमारी बात नहीं है; यह टोडरमलजी की बात है, पूज्य गुरुदेवश्री की बात है, जिनवरदेव की बात है कि नाचने-गाने में धर्म नहीं है; क्योंकि नाचने-गाने का भाव रागभाव है और राग तो आग है यह बात तो आप बहुत अच्छी तरह जानते ही हैं।

जिसप्रकार खेत में अनाज पैदा करने के लिए जमीन को तैयार करना होता है, उसे सींचना पड़ता है; पर उसमें घास-फूस बिना बोये ही उग आता है और सारी खुराक खुद खा जाता है, अनाज को पनपने ही नहीं देता। उसीप्रकार यह क्रियाकाण्ड नाच-गाना तत्त्वज्ञान के अनाज को पनपने ही नहीं देता है; उसकी सारी खुराक यह खा जाता है।

आत्मार्थियों का धनबल, जनबल और बुद्धिबल भी इसी में लग जाता है। अच्छे भले विद्वान गवैया-नचैया बनकर रह जाते हैं। पुण्य में धर्म नहीं है यह प्रतिपादन करनेवाले गुरु के शिष्य पुण्य के गीत गाने लगते हैं, पुण्य कमाने की प्रेरणायें देने लगते हैं तो ऐसा लगता है कि पानी में आग लग गई है।

क्या यह आत्मार्थी समाज का छोटा नुकसान है ?

जिसप्रकार किसान अनाज की सुरक्षा के लिए खेत में से घास-फूस को उखाड़ देता है, तभी अनाज पनपता है; उसीप्रकार यदि तत्त्वज्ञान के बीज को उगाना है तो इन पद्धतियों को उखाड़ फेंकना बहुत जरूरी है।

यदि पूरी तरह से उखाड़ना संभव न हो तो उसे सीमा में रखना तो अत्यन्त आवश्यक है ही। यदि हमने इस दिशा में कुछ नहीं किया तो न तो तत्त्वज्ञान बचेगा और न पण्डित टोडरमलजी और पूज्य गुरुदेवश्री; क्योंकि वे अपने तत्त्वज्ञान से ही जाने-पहिचाने जाते हैं।

पण्डित टोडरमलजी तो साफ-साफ लिख रहे हैं कि जहाँ हिंसादि पाप उत्पन्न हों व विषय-कषायों में वृद्धि हो, वहाँ धर्म माने सो कुधर्म है।

जब हम नाचते हैं तो क्या ईर्यासमिति पूर्वक नाचते हैं। आपके नाचने से कितने जीवों का घात होता है सोचा है आपने कभी ?

हम सौधर्म इन्द्र का बहाना लेते हैं; पर भाई साहब सौधर्म इन्द्र के नृत्य में एक भी जीव का घात नहीं होता; क्योंकि उनका शरीर वैक्रियिक होता है; पर हम सब औदारिक शरीरवाले हैं; इसलिए हमारी शारीरिक उछलकूद से तो अनन्त जीवों का घात होता है।

अरे, भाई ! लोगों का नाच-गाना देखकर, सुनकर भी लोग आँख-कान के विषयों का ही पोषण करते हैं। यदि कोई व्यक्ति ढंग से नहीं नाच पाता हो या गानेवाले का गला अच्छा न हो तो फिर देखिये लोगों की प्रतिक्रिया। उक्त प्रतिक्रिया से हम समझ सकते हैं कि वे चक्षु और कर्ण इन्द्रियों के विषयों का आनन्द ले रहे थे या आत्मा का; उनकी वह प्रसन्नता, उनका वह आनन्दित होना विषयानन्द है या आत्मानन्द ?

ये कुछ ऐसी बातें हैं, जो गंभीरता से विचार करने योग्य हैं।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि हम तो यह सब धर्मप्रभावना के लिए करते हैं। ऐसे लोगों से हम यह कहना चाहते हैं कि असली धर्मप्रभावना तो वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में है, जिनेन्द्र भगवान की वाणी

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

को, जिनवाणी को, जैनशास्त्रों को घर-घर पहुँचाने से होती है, नाचने-गाने से नहीं। नाचने-गाने से तत्त्वप्रभावना होती नहीं है, अपितु बाधित होती है; क्योंकि लोगों ने जिनधर्म की प्रभावना के लिए अर्थात् तत्त्वज्ञान को घर-घर तक पहुँचाने की भावना से इतना बड़ा महोत्सव किया, हजारों लोगों को इकट्ठा किया, करोड़ों रुपये खर्च किये; फिर भी जिनवाणी तो घर-घर पहुँची नहीं, भगवान की दिव्यध्वनि का सार तो समझाया नहीं जा सका और सभी का संपूर्ण समय इन अनाड़ियों के नाच-गाने देखने-सुनने में चला गया, बारात में शामिल होने में या बारात का स्वागत करने में चला गया।

बारातें तो हम रोजाना देखते हैं, उनमें जाते भी खूब हैं और नाच-गाने भी टी.वी., सिनेमा में भरपूर देखते हैं। मैं जानता चाहता हूँ कि क्या सब लोग यहाँ बारात में सम्मिलित होने के लिए आये थे, नाच-गाने देखने-सुनने को आये थे ? वे तो यह सोचकर आये थे कि कुछ जिनवाणी का मर्म समझने को मिलेगा; पर यहाँ तो **सुनने को बोलियाँ मिल रही हैं और देखने-सुनने को नाच-गाने मिल रहे हैं। अरे, भाई ! इनसे तो जैनधर्म की प्रभावना नहीं, अप्रभावना ही हो रही है।**

उक्त संदर्भ में पण्डितजी का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है

''तथा कोई भक्ति आदि कार्यों में हिंसादिक पाप बढाते हैं; गीत-नृत्यगानादिक व इष्ट भोजनादिक व अन्य सामग्रियों द्वारा विषयों का पोषण करते हैं; कुतूहल प्रमादादिरूप प्रवर्तते हैं वहाँ पाप तो बहुत उत्पन्न करते हैं और धर्म का किंचित् साधन नहीं है। वहाँ धर्म मानते हैं सो सब कुधर्म है।[१]

देखो, काल का दोष, जैनधर्म में भी कुधर्म की प्रवृत्ति हो गयी है। **जैनमत में जो धर्मपर्व कहे हैं, वहाँ तो विषय-कषाय छोड़कर संयमरूप प्रवर्तना योग्य है। उसे तो ग्रहण नहीं करते और व्रतादिक का नाम**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १८९

धारण करके वहाँ नाना शृंगार बनाते हैं, इष्ट भोजनादि करते हैं, कुतूहलादि करते हैं व कषाय बढाने के कार्य करते हैं, जुआ इत्यादि महान पापरूप प्रवर्तते हैं।[१]''

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि यह सब तो ठीक, परन्तु इसमें मिथ्यात्व का पोषण कैसे हो गया ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितजी कहते हैं कि

''तत्त्वश्रद्धान करने में प्रयोजनभूत तो एक यह है कि **रागादिक छोड़ना। इसी भाव का नाम धर्म है। यदि रागादिक भावों को बढाकर धर्म माने, वहाँ तत्त्वश्रद्धान कैसे रहा ? तथा जिन आज्ञा से प्रतिकूल हुआ। रागादिभाव तो पाप हैं, उन्हें धर्म मानना सो यह झूठा श्रद्धान हुआ; इसलिए कुधर्म के सेवन में मिथ्यात्वभाव है।[२]''**

इसप्रकार हम देखते हैं कि पण्डितजी साहब का अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहना है कि किसी भी प्रकार के रागात्मक भावों और तदनुरूप होनेवाली क्रियाओं, बाह्य प्रवृत्तियों को धर्म मानना या धर्म मानकर करना मिथ्यात्व है। जब शुभरागात्मक भाव और तदनुरूप शुभ क्रियाओं को धर्म मानना मिथ्यात्व है; तो फिर विषय-कषायपोषक रागादिभाव और नृत्यगानादिरूप असत् प्रवृत्तियों को धर्म मानकर करना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म कैसे हो सकता है ?

इसलिए यह अत्यन्त स्पष्ट है कि **नृत्य-गान-कुतूहलादि क्रियायें और तदनुरूप भावों को धर्म मानना और धर्म मानकर करना धर्म तो है ही नहीं, अपितु धर्म के नाम पर होनेवाली कुधर्म की प्रवृत्तियाँ हैं।**

अत: इनसे बचकर रहना प्रत्येक आत्मार्थी का परम कर्तव्य है। ●

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १९० २. वही, पृष्ठ १९१

आत्मानुभवी आत्माएँ भी जगत के क्रिया-कलापों में व्यस्त रहते दिखाई देने पर भी आत्म-विस्मृत नहीं होतीं। उनकी आत्म-जागृति लब्धिरूप से सदा बनी रहती है। **मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१८**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

बारहवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक का **छटवाँ अधिकार** चल रहा है। इस अधिकार में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की चर्चा की गई है। अबतक कुदेव और कुगुरु की चर्चा हो चुकी है और कुधर्म की चर्चा चल रही है।

कुधर्म की प्रवृत्तियों की चर्चा करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि **यज्ञादिक क्रियाओं में महा हिंसादिक उत्पन्न करे और इन्द्रियों के विषय-पोषण करे तथा उसमें धर्म माने, सो यह सब कुधर्म है।**

यद्यपि जैनदर्शन में यज्ञादि करने का कोई विधान नहीं है; तथापि आज जैनियों में भी यज्ञ होने लगे हैं। हम पर यह आरोप लगाया जाता है कि हम, एक तो यज्ञादि करते नहीं हैं और करते भी हैं तो उसमें अग्नि में किसी वस्तु को नहीं होमते।

अहिंसा परमो धर्म: का नारा देनेवाले जैनधर्म में भी अब जिसमें हजारों जीवों की हिंसा होती है ऐसे यज्ञ को नहीं करना अपराध हो गया है और यज्ञ करना धर्म हो गया है। यह भी जैनधर्म पर वैदिक धर्म का प्रभाव है। आज हमें सफाई देना पड़ रही है कि हम यज्ञ क्यों नहीं करते ?

आज समाज को हो क्या गया है ! यज्ञ करने को धर्म माननेवाले, कहनेवाले न्यायाधीश बन गये हैं, धर्माधिकारी बन गये हैं और वे हमसे जवाब मांगते हैं कि हम अग्नि में धूप क्यों नहीं खेते ?

अरे, भाई ! यदि हमने अग्नि में धूप नहीं खेई तो इसमें कौन सा पाप हो गया। इसमें न तो किसी जीव की हिंसा हुई है, न झूठ बोला गया है, न चोरी हुई, न कुशील सेवन हुआ और परिग्रह का जोड़ना भी तो नहीं हुआ। हमने अग्नि में धूप नहीं खेई यह तो नहीं करना हुआ, इसमें कोई पाप कैसे हो सकता है, इसमें कोई अपराध कैसे हो सकता है, आखिर हम किस बात का जवाब दें ?

क्या कभी कोई किसी से ऐसा प्रश्न भी करता है कि आपने हिंसा

क्यों नहीं की, झूठ क्यों नहीं बोला, चोरी क्यों नहीं की, किसी की माँ-बहिन को क्यों नहीं छेडा और अधिक परिग्रह क्यों नहीं जोड़ा ?

जब इसप्रकार के प्रश्न किसी से नहीं किये जाते तो फिर हमसे यह क्यों पूछा जाता है कि हम अग्नि में धूप क्यों नहीं खेते ?

आज जो पूर्णत: शुद्ध सात्त्विक प्रवृत्ति है, उस पर सवाल-जवाब चलते हैं। हम करें भी क्या, हम अध्यात्मप्रेमी लोग इतने अल्प मात्रा में हैं कि हमें जवाब देने की स्थिति में खड़ा होना पड़ता है।

इसके आगे पण्डितजी लिखते हैं कि तीर्थों में या अन्यत्र स्नानादि कार्य करें तो वहाँ छोटे-बड़े जीवों की हिंसा होती है, शरीर को आराम मिलता है; इसलिए विषय-पोषण होता है, कामादिक बढते हैं; फिर भी वहाँ धर्म मानता है; यह सब कुधर्म है।

हम जैनियों में भी जब राजगृही जाते हैं तो यात्रा के बाद लगभग सभी जैनी वहाँ स्थित कुण्डों में डुबकी लगाते हैं। कहते हैं कि जिन्हें दाद हो, खाज हो, एग्जिमा हो इन कुण्डों में डुबकी लगाने से ये सब ठीक हो जाते हैं।

हो जाते होंगे, कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि वह पानी एकदम गर्म होता है। वह पानी जहाँ से आता है, वहाँ कहीं ऊपर जमीन में गंधक होगा, वह पानी उस गंधक में से पार होकर आता है, अत: शोधक होता है।

वे कुण्ड बहुत छोटे-छोटे हैं। इनमें ही अनेक लोग एकसाथ नहाते हैं। जो लोग उसमें नहाते हैं, उनमें दाद-खाजवाले ही अधिक होते हैं; अत: उनकी गंदगी भी उसी पानी में रह जाती है। इसकारण कभी ऐसा भी हो सकता है कि जिन्हें दाद-खाज न हो, उस पानी में नहाने से, उन्हें दाद-खाज हो जाये।

जो भी हो; पर वह पानी अनछना तो होता ही है, जब हम जैनी अनछने पानी का उपयोग ही नहीं करते; तब किसी भी नदी, तालाब, कुएं, बावड़ी में डुबकी कैसे लगा सकते हैं ?

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

उसमें डुबकी लगाने से धर्म भी कैसे हो सकता है ?

जो कुछ भी हो; पर लोग वहाँ बड़ी श्रद्धा से डुबकी लगाते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि हम धर्म कर रहे हैं।

जब लोग राजगिरि यात्रा करके लौटकर अपने घर पहुँचते हैं, तब लोग उनसे पूछते हैं कि कुण्ड में डुबकी लगाई थी या नहीं ?

यदि वह न कर दे तो फिर देखो कितना दुख प्रगट किया जाता है; कहा जाता है कि तुम्हारा जाना व्यर्थ ही गया है।

कोई इस बात को याद नहीं करता कि राजगिरि के इस विपुलाचल पर्वत पर अनेकों बार भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी थी; उसमें क्या आया था ? इस बात का किसी को भी विकल्प नहीं आता।

पण्डितजी तो कहते हैं कि ये स्नानादि तो विषय-कषाय के पोषक कार्य हैं; इनमें धर्म कैसे हो सकता है ?

इसके बाद दान की चर्चा करते हुए पण्डितजी रयणसार की एक गाथा प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाणं सोहं वा।
लोहीणं दाणं दइ विमाणसोहा सवस्स जाणेह ।।[१]

सत्पुरुषों को दान देना कल्पवृक्षों के फलों की शोभा के समान है; क्योंकि कल्पवृक्ष सुख और शोभा दोनों देते हैं तथा लोभी पुरुषों को दान देना मुर्दे की ठठरी की शोभा के समान है। तात्पर्य यह है कि जब मुर्दे की ठठरी सजाई जाती है तो शोभा तो होती है, पर परिवारवालों को अत्यन्त दु:खदायी होती है।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में पण्डितजी लिखते हैं कि दयादान और पात्रदान के सिवा अन्य दान देकर धर्म मानना कुधर्म है।

जब हम किसी को कुछ दान में देते हैं तो हमें उसकी पात्रता भी तो देखना चाहिए, साथ में यह विचार भी करना चाहिए कि हम क्या दे रहे हैं, उसकी उपयोगिता क्या है, उससे प्राप्त करनेवाले को क्या लाभ होगा?

१. रयणसार, गाथा २६

बिना विचार किये किसी को भी कुछ भी दे देना विवेक सम्मत कार्य नहीं है।

यदि आपने प्रभावना में मोक्षमार्गप्रकाशक वितरित किये तो उन्हें लोग बड़े सम्मान के साथ ले जायेंगे, आदर के साथ घर पर रखेंगे और समय मिलने पर उसका स्वाध्याय भी अवश्य करेंगे।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि आपको छोड़ कर और कौन पढता है मोक्षमार्गप्रकाशक ? ले जाकर घर में रख देते हैं। बस....।

अरे, भाई ! आज नहीं पढेगा तो तब पढेगा, जब डॉक्टर बैडरेस्ट बतायेगा। यदि घर में शास्त्र रहेगा तो एक न एक दिन अवश्य पढेगा।

वह नहीं पढेगा तो उसका पुत्र पढेगा, पौत्र पढेगा, पत्नी पढेगी, रिश्तेदार पढेंगे, पड़ौसी पढेंगे; कोई न कोई अवश्य पढेगा।

जबतक वह शास्त्र काल पाकर स्वयं नष्ट नहीं हो जायेगा, तबतक उसके पढे जाने की पूरी-पूरी संभावना है; क्योंकि उसका पढे जाने के अतिरिक्त अन्य कुछ उपयोग तो हो ही नहीं सकता।

उसके बदले में यदि आपने प्रभावना में मिठाई वितरित की तो क्या होगा उसका; सोचा है कभी आपने ? खा लेने के बाद आठ-दस घंटे में उसकी क्या दुर्दशा होगी यह हम सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं।

यदि कुछ अन्य भोगसामग्री दे दी, थाली-गिलास दे दिये, कप-प्लेट आदि दे दिये; जो भी दोगे, उसका उपयोग भोग में ही होनेवाला है, वह भोगसामग्री होने से भोगनेवाले को पापबंध का कारण ही बनेगी।

इस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि हम स्वर्ण दान करेंगे। वह सोना मंदिर के कलशों में लगाया जायेगा। बोलो अब आपको क्या कहना है ?

अरे, भाई ! यह तो हम अच्छी तरह जानते हैं कि जब मंदिर में कलश के लिए सोना लगाया जाता है तो थोड़ी सी अपील करने पर महिलायें गले से चैनें उतार कर दे देती हैं; पर जब समयसार की कीमत कम करने की बात आती है या उसे प्रत्येक मंदिर में पहुँचाने की बात

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

आती है या जन-जन तक पहुँचाने की बात आती है तो सन्नाटा छा जाता है; सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगते हैं।

मंदिर के कलश में लगा सोना और कुछ काम तो आनेवाला है नहीं, चोरों के मन में लालच अवश्य पैदा करेगा; पर सत्साहित्य भगवान की दिव्यध्वनि में समागत वीतरागी तत्त्वज्ञान को न केवल जिन्दा रखेगा; अपितु जन-जन के कल्याण में साक्षात् निमित्त बनेगा। दोनों की उपयोगिता के अन्तर को पहिचानने की कोशिश की जानी चाहिए।

बड़े-बड़े पंचकल्याणक होते हैं। उनमें करोड़ों रुपये खर्च होते हैं, बड़े-बड़े पाण्डाल बनते हैं और सब कामों के लिए स्थान सुरक्षित होते हैं; लेकिन जब शास्त्रों की स्टॉल की बात आती है तो स्थान की समस्या खड़ी हो जाती है। स्टेज पर बोलियों में, मनोरंजन के कार्यक्रम में, नाचने-गाने में घंटों लगाये जाते हैं; किन्तु यदि **सत्साहित्य की बिक्री की सूचना देनी हो तो अनेकों बार कहने पर भी सूचना देने के लिए १ मिनिट मिलना भारी हो जाता है। यह सब तो तब होता है, जबकि सभी लोग अपने ही होते हैं।**

हमें विवेक ही नहीं है कि हमें अपने साधनों का सदुपयोग कैसे करना है। जिन तीर्थंकर भगवन्तों का यह पंचकल्याणक हो रहा है; उनकी वाणी को जन-जन तक पहुँचाने के महान काम के लिए न तो किसी के पास समय है, न पैसा है, न स्थान है, न कार्यकर्ता हैं। क्या हो गया है, इस समाज को, इसके विवेक को। यह भी एक सोचने की बात है।

इन बड़े-बड़े आयोजनों को सफल बनाने के लिए हम और हमारे विद्वान बन्धु जाते हैं, हमारे कार्य-कर्ता जाते हैं और छोटे से लेकर बड़े तक सभी काम निस्वार्थ भाव से करते हैं; किराये के अतिरिक्त कोई कुछ नहीं लेता; फिर भी जहाँ करोड़ों रुपये पानी की तरह बहते हैं, **वहाँ एक लाख का साहित्य बड़ी ही कठिनाई से लोगों तक पहुँचा पाते हैं। लागत मूल्य से भी कम मूल्यवाले समयसारादि ग्रंथराज या तो आधे मूल्य में पहुँचाने पड़ते हैं या नि:शुल्क ही देने पड़ते हैं।**

जिन थोड़े-बहुत लोगों के चित्त में जिनवाणी की महिमा है, उसे

घर-घर तक पहुँचाने की भावना है; उनके सहयोग से ही यह कार्य सम्पन्न हो पाता है। **गुरुदेवश्री की भावना भी यही रहती थी कि कम से कम मूल्य में अधिक से अधिक सत्साहित्य जन-जन तक पहुँचे और उसका पठन-पाठन हो। उनके उपदेशों का ही यह सत्प्रभाव है कि मुट्ठी भर लोग इस दिशा में आज भी सक्रिय हैं और यह काम आज भी दिन-दूनी और रात चौगुनी गति से चल रहा है।**

अधिक क्या कहें ? रवीन्द्र जैन जैसे गवैयों को बुलाया जाता है। वे अपनी टीम के साथ आते हैं। मुँह माँगा पैसा लेते हैं और **राधा क्यों गोरी अर मैं क्यों काला** सुनाकर चले जाते हैं और यह सब धर्म प्रभावना के नाम पर होता है।

जरा सोचिये, इससे क्या धर्मप्रभावना होती है ? वातावरण में एक प्रकार से हल्कापन आ जाता है, गंभीरता नष्ट हो जाती है। वीतरागता के स्थान पर सबकुछ रागरंगमय हो जाता है।

जहाँ सैंकड़ों जिनमंदिर पहले से ही हैं, उनकी साज-संभाल करनेवाला कोई नहीं है; वहाँ नये-नये जिन मंदिरों का निर्माण हो रहा है और धर्मशाला के नाम पर, जिनमें सभी सुविधायें उपलब्ध हों ऐसे पंच सितारा होटलों जैसे आवासों की पक्तियाँ खड़ी की जा रही हैं। इनमें करोड़ों रुपये पानी की तरह बहाये जा रहे हैं; न इसका ध्यान है कि इनके निर्माण में कितनी हिंसा होती है, कितना आरंभ होता है, कितने उल्टे-सीधे काम करने पड़ते हैं ? और **जब शास्त्रों की सरल-सुबोध टीकायें करने, उनके प्रकाशन और उन्हें जन-जन तक पहुँचाने की बात आती है तो उसमें सहयोग करने की बात तो दूर, उनके प्रकाशन का मात्र विरोध ही नहीं होता, अपितु उन पर प्रतिबंध लगाने के प्रयास किये जाते हैं।**

क्या हो गया है इस शुद्ध सात्त्विक मुमुक्षु समाज को। पण्डित टोडरमलजी तो धर्म के नाम पर नाम कमाने की उक्त प्रवृत्तियों को कुधर्म कहते ही हैं; आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी भी उक्त प्रवृत्तियों का पूरी दृढता के साथ सदा निषेध ही करते रहे।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

आवश्यकता के अनुसार देवदर्शन-पूजन की सुविधा जुटाने के लिए नये नगरों और उपनगरों में किये जानेवाले जिनमंदिरों के निर्माण और स्वाध्याय के लिए बनाये जानेवाले स्वाध्याय भवनों के निर्माण का विरोध न तो टोडरमलजी ने किया है और न स्वामीजी ने। हम भी कहाँ करते हैं उनके निर्माण का विरोध; किन्तु जरा अनुपात तो देखो, जहाँ एक ओर इनके निर्माण में बड़ी ही बेपरवाही से करोड़ों का व्यय और उन्हीं जिनमंदिरों में विराजमान भगवान की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने के काम के लिए उसका हजारवाँ भाग भी नहीं ?

अरे, भाई ! उक्त कार्यों के बल पर इन्हें न केवल अपने मान का पोषण करना है; अपितु सम्पूर्ण समाज पर शासन करना है, विद्वानों को खरीदना है, उन्हें गुलाम बनाना है, उन पर अनुशासन करना है और कुछ विद्वान भी तो जिनवाणी माता की सेवा करना छोड़कर, जिनागम का अध्ययन-अध्यापन छोड़कर इनके गीत गाने और दान के नाम पर चन्दा करने में जीवन लगा देने में जीवन को सार्थक समझने लगे हैं।

जब धर्म के नाम पर आत्मकल्याण की भावना से ब्रह्मचर्य व्रत लेकर जीवन समर्पित कर देनेवाले लोग भी इन्हीं प्रवृत्तियों में उलझ कर रह जाते हैं तो टोडरमलजी के शब्दों में यही सोचकर संतोष करना पड़ेगा कि जिसप्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र से चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे तथा जैसे कोढी को अमृत-पान कराये और वह न करे; उसीप्रकार **संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो हो नहीं सकती। उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है।**[१]

मैंने तो बहुत पहले 'धर्म के दशलक्षण' नामक पुस्तक में आज की स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा था

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २०

''समाज में त्यागधर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला विद्वान् बड़ा पण्डित नहीं; बल्कि वह पेशेवर पण्डित बड़ा पण्डित माना जाता है, जो अधिक से अधिक चन्दा करा सके। **यह उस देश का, उस समाज का दुर्भाग्य ही समझो, जिस देश व समाज में पण्डित और साधुओं के बड़प्पन का नाप ज्ञान और संयम से न होकर दान के नाम पर पैसा इकट्ठा करने की क्षमता के आधार पर होता है।**

इस वृत्ति के कारण समाज और धर्म का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि पण्डितों और साधुओं का ध्यान ज्ञान और संयम से हटकर चन्दे पर केन्द्रित हो गया है। जहाँ देखो, धर्म के नाम पर, विशेषकर त्यागधर्म के नाम पर, दान के नाम पर, चन्दा इकट्ठा करने में ही इनकी शक्ति खर्च हो रही है, ज्ञान और ध्यान एक ओर रह गये हैं।

यही कारण है कि उत्तम त्यागधर्म के दिन हम त्याग की चर्चा न करके दान के गीत गाने लगते हैं। दान के भी कहाँ, दानियों के गीत गाने लगते हैं। दानियों के गीत भी कहाँ, एक प्रकार से दानियों के नाम पर यश के लोभियों के गीत ही नहीं गाते; चापलूसी तक करने लगते हैं।

यह सब बड़ा अटपटा लगता है, पर क्या किया जा सकता है सिवाय इसके कि इससे हम स्वयं बचें और त्यागधर्म का सही स्वरूप स्पष्ट करें; जिनका सद्भाग्य होगा वे समझेंगे, बाकी का जो होना होगा सो होगा।''

व्रतादिक के संदर्भ में पण्डितजी कहते हैं कि व्रतादिक करके भी अनेक प्रकार के शृंगार करते हैं, कुतूहलादि करते हैं, मनोरंजन करते हैं, प्रमादादिरूप प्रवर्तते हैं। व्रत-उपवास तो विषयादिक घटाने के लिए किये जाते हैं और ये लोग व्रत-उपवास करके विषयादिक और मानादिक का पोषण करते हैं।

अन्त में पण्डितजी कहते हैं कि अधिक कहाँ तक कहें, जहाँ विषय-कषाय बढते हों और धर्म माने; वे सब कुधर्म हैं, कुधर्म की क्रियायें हैं।

१. धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-१२८

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

बारह माह तो खान-पान की हालत यह है कि न रात का ठिकाना, न दिन का ठिकाना, न भक्ष्याभक्ष्य का विचार; जब चाहे, खड़े-खड़े, चलते-फिरते खाते ही रहते हैं, पान-तम्माखू दिन भर मुँह में डाले ही रहते हैं और दशलक्षण पर्व में दश दिन के उपवास कर डालते हैं। उपवास की समाप्ति पर बड़ा जुलूस निकालते हैं; जिसमें उपवास करनेवाले लड़के-लड़कियाँ, स्त्री-पुरुष, दूल्हे-दुल्हिन जैसे सज कर बैठते हैं, बैण्डवालों के साथ चलते हैं और साथ में नाच-गाना भी चलता रहता है।

पण्डितजी का कहना यह है कि उपवास करने के पहले बारहमासी जीवन को शुद्ध सात्त्विक बनाना आवश्यक है। कभी तो दिन भर खाते-पीते रहे और कभी पूर्ण निराहार यह क्या है? उपवास में तो नहाना-धोना और दंत-मंजन भी नहीं होता है तो फिर शृंगार कैसा ?

उपवास के चक्कर में दश दिन का पूरा पर्व यों ही आलस में पड़े-पड़े चला जाता है, न पूजन-पाठ, न स्वाध्याय, न प्रवचन सुनना आदि हो पाता है। अरे, भाई ! व्रत-उपवास तो मानादिक के घटाने के लिए किये जाते हैं, विषयों से बचने के लिए किये किये जाते हैं; परन्तु यहाँ तो विषय-कषाय बढते दिखाई देते हैं।

इन सब प्रवृत्तियों को पण्डितजी यहाँ कुधर्म की संज्ञा दे रहे हैं।

व्रतादिक करनेवाले सभी लोग ऐसे होते हैं यह बात नहीं है। तत्त्वाभ्यासी ज्ञानीजन तो जो व्रतोपवास आदि करते हैं, वे शुद्ध-सात्त्विक ही होते हैं; किन्तु यहाँ बात ही कुधर्म संबंधी प्रवृत्तियों की चल रही है; अत: उन लोगों की ही बात हो रही है, जिनको न तो जिनधर्म का विशेष परिचय है, न तत्त्वाभ्यास है और जो लोग न तो कभी स्वाध्याय करते हैं, न सत्समागम द्वारा आत्मा-परमात्मा को समझने की कोशिश करते हैं; मात्र देखा-देखी या मानादिक के पोषण के लिए मात्र पर्वों के दिनों में ही थोड़े-बहुत व्रत-उपवासादि कर लेते हैं।

हमारी ये वृत्तियाँ-प्रवृत्तियाँ विभिन्न रूपों में देखी जाती हैं। स्वयं को

सजने-समरने में उम्र के कारण लाज आती हो तो बच्चों को सजायेंगे, घर को सजायेंगे और नहीं तो भगवान को ही सजाने लगेंगे।

यदि दिगम्बर जैनों को भगवान को सजाना संभव नहीं होता तो वेदी का शृंगार करेंगे, भगवान के परिकर को सजायेंगे; अपनी सजावट करने की भावना की पूर्ति कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में पूरी अवश्य करेंगे।

अन्त में पण्डितजी कहते हैं कि काल के दोष से जैनधर्म में भी कुधर्म की प्रवृत्तियाँ आ गई हैं और इन प्रवृत्तियों को भी हम एक-दूसरे को देख-देखकर अपनाते हैं। इसप्रकार ये फैलती ही जाती हैं।

कुधर्म संबंधी चर्चा का समापन करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''तथा जिनमन्दिर तो धर्म का ठिकाना है। वहाँ नाना कुकथा करना, सोना इत्यादि प्रमादरूप प्रवर्तते हैं; तथा वहाँ बाग-बाड़ी इत्यादि बनाकर विषय-कषाय का पोषण करते हैं। तथा लोभी पुरुष को गुरु मानकर दानादिक देते हैं व उनकी असत्य स्तुति करके महंतपना मानते हैं। इत्यादि प्रकार से **विषय-कषायों को तो बढ़ाते हैं और धर्म मानते हैं; परन्तु जिनधर्म तो वीतरागभावरूप है, उसमें ऐसी विपरीत प्रवृत्ति काल दोष से ही देखी जाती है। इसप्रकार कुधर्म सेवन का निषेध किया।**[१]''

देखो, जिनमंदिर में भी हमारी भूल से किसप्रकार की कुप्रवृत्तियाँ (कुधर्म) चलने लगी हैं; यहाँ इसकी चर्चा की जा रही है। अनेकप्रकार की विकथायें करना भी एकप्रकार से कुधर्मरूप प्रवृत्ति ही है। राजकथा भी एकप्रकार से विकथा ही है। चार प्रकार की विकथाओं में इसका भी नाम आता है। आजकल तो सबसे अधिक चर्चा इसी की होती है। दैनिक समाचार-पत्रों में इसके अतिरिक्त और होता भी क्या है ?

आजकल तो सबसे पहले ये समाचार-पत्र ही पढे जाते हैं। मंदिरों में भी इनकी व्यवस्था रहती है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, छठवाँ अधिकार, पृष्ठ-१९०

अधिकांश मंदिरों में दरवाजे पर अनेकप्रकार के दैनिक समाचार-पत्र पड़े रहते हैं और जो भी दर्शन-पूजन करने आते हैं; सबसे पहले वे इन्हीं का स्वाध्याय करते हैं।

पण्डितजी इस राजकथा को कुधर्म कह रहे हैं; अत: कम से कम **मंदिर में तो इसकी व्यवस्था किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए। जिनको समाचार-पत्र पढने होंगे, वे अपने घर मंगवा कर पढेंगे, मंदिर में हम क्यों विकथा की सामग्री जुटायें।**

मंदिर में सोना भी किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

जैन मंदिर आत्मसाधना के लिए बनाये जाते हैं, उसमें बाग-बगीचे बनाने की प्रवृत्ति का भी पण्डितजी ने डटकर विरोध किया है।

आज की स्थिति तो यह है कि बड़े लोग जो जिनमंदिर बनवाते हैं, उसमें मंदिर के चारों ओर बाग-बगीचे लगा देते हैं। बीच में छोटा सा मंदिर, उसके सामने विशाल कृत्रिम तालाब और चारों ओर सुन्दरतम फुलवारी और न जाने क्या-क्या लगा देते हैं। **मैं किसी स्थान विशेष का नाम नहीं लेना चाहता; पर यदि आप चारों ओर निगाह डालकर देखेंगे तो आपको सबकुछ सहज ही स्पष्ट हो जायेगा।**

ऐसे स्थानों पर दर्शन-पूजन करनेवाले कम, घूमने-फिरनेवाले अधिक आते हैं। जो जिनेदव के दर्शन करने आते हैं; वे भी मंदिर में कम और बाग-बगीचे में अधिक काल तक बैठते हैं। इसप्रकार वे वहाँ जाकर आत्मसाधना कम और विषयापूर्ति अधिक करते हैं।

मंदिर जाने के नाम पर लोग वहाँ के बाग-बगीचों में बैठकर विकथायें करते हैं, हंसी-मजाक करते हैं, किसी की बुराई-भलाई करते हैं और न मालूम क्या-क्या करते हैं ?

यह प्रवृत्ति अब साधुवर्ग में भी तेजी से पनप रही है। जब किसी साधु का जरा सा भी प्रभाव बढता है, तब वह तत्काल एक टेकड़ी खरीद लेता है और उसे तीर्थ के रूप में विकसित करने में सारी शक्ति लगा देता है। वह उस पहाड़ी को बगीचे के रूप में बदल देता है और फिर वहाँ क्या-क्या होता है, कुछ कहा नहीं जा सकता।

जिस गति से पुराने तीर्थ और मंदिर जीर्ण-शीर्ण होते जा रहे हैं, उससे भी तीव्र गति से नये तीर्थों का निर्माण होता जा रहा है।

ये नये तीर्थ सभी प्रकार की आधुनिक सुविधाओं से संपन्न होते हैं। इनमें आराम से रहने, खाने-पीने और मनोरंजन की वे सभी सुविधायें उपलब्ध रहती हैं; जो शायद आपके घर में भी आपको सहज उपलब्ध न हों। पुराने तीर्थों पर भी धीरे-धीरे सभी सुविधायें जुटती जा रही हैं। **नये-पुराने सभी तीर्थ एकप्रकार से पिकनिक स्पॉट के रूप में विकसित होते जा रहे हैं। अब यहाँ लोग पिकनिक मनाने आया करेंगे, धर्मसाधना करने नहीं।**

अब नवधनाढ्य रईसों की आत्मसाधना ऐसे स्थलों पर ही होती है। न मालूम क्या होता जा रहा है इस समाज को।

यदि आज पण्डित टोडरमलजी होते तो क्या वे यह सब देख पाते?

लगता है पण्डितजी को इसका अनुमान था। पण्डितजी के समय में भी इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं; इसलिए तो वे लिखते हैं कि जो जिनमंदिर धर्म के स्थान हैं, वहाँ अनेकप्रकार की कुकथायें करना, सोना, बाग-बगीचे लगाकर विषय-कषाय का पोषण करना और उनके निर्माताओं को गुरु मानकर दानादि देना और उनकी असत्य स्तुति करके उनके महंतपने को पोषण करना इसप्रकार विषय-कषायों का पोषण करते हुए उन्हें धर्म मानना ये सब कुधर्मरूप प्रवृत्तियाँ इस वीतरागी जिनधर्म में भी कालदोष से दिखाई दे रही हैं।

अधिकार के अन्त में पण्डितजी सावधान करते हुए कहते हैं

''तथा कुदेवादिक के सेवन से जो मिथ्यात्वभाव होता है सो वह हिंसादिक पापों से बड़ा पाप है। इसके फल से निगोद, नरकादि पर्यायें पायी जाती हैं। वहाँ अनन्तकालपर्यन्त महा संकट पाया जाता है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति महा दुर्लभ हो जाती है।[१]

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, छठवाँ अधिकार, पृष्ठ-१९१

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

जिनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो जीव पाप के फल से डरते हैं और अपने आत्मा को दु:खसमुद्र में नहीं डुबाना चाहते हैं; वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ें; निन्दा-प्रशंसादिक के विचार से शिथिल होना योग्य नहीं है। कहा भी है

(वसंततिलका)

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी: समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वास्तु मरणं तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथ: प्रविचलन्ति पदं न धीरा:।।

नीतिशतक : छन्द ८४

कोई निन्दा करता है तो निन्दा करो, स्तुति करता है तो स्तुति करो, लक्ष्मी आओ व जहाँ-तहाँ जाओ तथा अभी मरण होओ व युगान्तर में होओ; परन्तु नीति में निपुण पुरुष न्यायमार्ग से एक डग भी चलित नहीं होते।

ऐसा न्याय विचारकर निन्दा-प्रशंसादिक के भय से, लोभादिक से, अन्यायरूप मिथ्यात्व प्रवृत्ति करना युक्त नहीं है।

अहो ! देव-गुरु-धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इनके आधार से धर्म है। इनमें शिथिलता रखने से अन्य धर्म किसप्रकार होगा ? इसलिए बहुत कहने से क्या ? सर्वथा प्रकार से कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है।

कुदेवादिक का त्याग न करने से मिथ्यात्वभाव बहुत पुष्ट होता है और वर्तमान में यहाँ इनकी प्रवृत्ति विशेष पायी जाती है; इसलिए इनका निषेधरूप निरूपण किया है। उसे जानकर मिथ्यात्वभाव छोड़कर अपना कल्याण करो।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, छठवाँ अधिकार, पृष्ठ-१९२

देखो, यहाँ पण्डित टोडरमलजी मिथ्यात्व को, सप्त व्यसनादि से भी बड़ा पाप बता रहे हैं, हिंसादि से भी बड़ा पाप बता रहे हैं, महा संकट बता रहे हैं, नरक-निगोद का कारण बता रहे हैं; उसे अनंत संसार का कारण बता रहे हैं और उस मिथ्यात्व से बचने के लिए हर संभव प्रयत्न करने के लिए अनुरोध कर रहे हैं। कह रहे हैं कि यदि तुम स्वयं को दुख समुद्र में डूबने से बचाना चाहते हो तो इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो। उनकी करुणा तो देखो।

पण्डित टोडरमलजी ने अपने जीवन की बाजी लगाकर मौत की कीमत पर इन भूलों को निकाल-निकाल कर हमें बताया है; अत: हमें इन्हें बारीकी से समझ कर पूरा-पूरा लाभ लेना चाहिए।

जब हम यह बात जगत के सामने प्रस्तुत करते हैं तो लोग कहते हैं कि इसीप्रकार की आलोचना करके पण्डित टोडरमलजी असमय में षडयंत्र के शिकार हो गये और अब आप भी उन्हीं के मार्ग पर चलकर, वैसी ही बातें कर रहे हैं। क्या आपको नहीं लगता कि आप भी तो बहुत बड़ा खतरा मोल ले रहे हैं।

भाई, आप बात तो ठीक ही कहते हैं; पर आप ही बताइये कि यह बात कहने में तो मात्र उस एक भव का ही खतरा है, जो लगभग बीत चुका है; क्योंकि **अब हम तो जीवन के अन्तिम पड़ाव पर ही हैं; किन्तु यदि भय से यह बात ही न कहें तो लाखों लोगों को अनन्त भवों का खतरा है; क्योंकि वे बहुमूल्य मनुष्य भव पाकर इन कुधर्म की प्रवृत्तियों में गंवाकर अनन्त जन्म-मरण के चक्र में ही पड़े रह जावेंगे।**

यद्यपि हम अच्छी तरह जानते हैं कि जिन लोगों के अभी अनंत भव शेष हैं; उन्हें हमारे इस प्रतिपादन को सुनकर, पढकर अनंत क्रोध भी उत्पन्न हो सकता है और वे कुछ भी कर सकते हैं; तथापि हमें इस बात का भी पक्का भरोसा है कि केवली भगवान के ज्ञान में जो आया होगा, होगा तो वही। किन्तु यदि **हमारी बात सुनकर-पढकर मुट्ठी भर लोगों**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

की वृत्ति और प्रवृत्ति में कुछ अंतर आ गया तो हमारा यह प्रयास सफल ही समझो।

हम यह भी जानते हैं कि हमारी यह बात उन्हीं के समझ में आयेगी, जिनके संसार का अन्त आ गया होगा। हमें इस बात को प्रस्तुत करने का जो तीव्र विकल्प आ रहा है; वह इस बात का प्रतीक है कि कुछ न कुछ लोगों का काल पक गया है; अन्यथा हमें भी इतना तीव्र विकल्प क्यों आता?

आप यह कल्पना कीजिए कि यदि यही सोचकर टोडरमलजी भी यह न लिखते और गुरुदेवश्री कानजी स्वामी भी इन बातों का खुलासा नहीं करते तो यह गंभीर तत्त्वज्ञान आज हमें कहाँ से और कैसे प्राप्त होता?

जब हम उनके बताये मार्ग पर चले हैं, उनके अनुयायी हैं; तो फिर हमें उन जैसा साहस भी तो रखना ही होगा।

आप चिन्ता न करें, प्रत्येक कार्य अपनी योग्यता के अनुसार स्वकाल में ही होगा।

गृहीत मिथ्यात्व को छोड़ने के लिए कुदेव, कुगुरु और कुधर्म संबंधी प्रवृत्तियों को छोड़ना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; अत: उनका निरूपण पूरी स्पष्टता से होना अत्यन्त आवश्यक है। यही सोचकर अत्यन्त करुणाभाव से पण्डित टोडरमलजी के समान ही हम यह प्रयास कर रहे हैं; किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए नहीं। अत: हमें विश्वास है कि आत्मार्थी जगत में इस निरूपण को साम्यभाव से ही ग्रहण किया जायेगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस छठवें अधिकार में भावों और क्रिया की भूल बताई गई है; आगे सातवें अधिकार में समझ की भूल बतायेंगे।

तात्पर्य यह है कि इस छठवें अधिकार में शिथिलाचारी क्रियाकाण्डी लोगों की भूलों की बात की है और आगे सातवें अधिकार में आत्मा-परमात्मा की चर्चा करनेवाले पण्डितों की भूलों की बात करेंगे।

इसप्रकार अब यहाँ छठवें अधिकार की चर्चा से विराम लेते हैं। ●

तेरहवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक के छह अधिकारों में अब तक जो चर्चा हुई; उसका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है

प्रथम अधिकार में मंगलाचरण के उपरान्त ग्रन्थ का स्वरूप, ग्रन्थ की प्रामाणिकता, पंचपरमेष्ठी का स्वरूप, बांचने-सुनने योग्य शास्त्र, वक्ता-श्रोता का स्वरूप आदि विषयों की चर्चा की गई है।

दूसरे अधिकार में जिसप्रकार वैद्य बीमारी का निदान करता है; उसीप्रकार संसारी जीव की मूल बीमारी क्या है? इसका निदान किया गया। इसमें कर्मबंधन का निदान, नवीन बंध विचार, सत्तारूप कर्मों की अवस्था, कर्मों की उदयरूप अवस्था का वर्णन किया गया है और कर्म बंधनरूप रोग के निमित्त से होनेवाली जीव की अवस्था बताई गई है।

तीसरे अधिकार में संसार के दु:ख, उनका मूल कारण कर्मों की अपेक्षा और गतियों की अपेक्षा से बताया गया है। इसी संदर्भ में चार प्रकार की इच्छाओं का निरूपण भी किया गया है। अन्त में मोक्षसुख और उसके प्राप्ति के उपाय की चर्चा है।

चौथे अधिकार में अग्रहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र का निरूपण है। अग्रहीत अर्थात् अनादिकालीन। एकेन्द्रियादि पर्यायों से लेकर सैनी पंचेन्द्रिय जीवों में जो समानरूप से पाया जाता है, शरीरादि परपदार्थों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वरूप है; उस अग्रहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की चर्चा इस अधिकार में है।

पाँचवें अधिकार से गृहीत मिथ्यात्व की चर्चा आरंभ होती है; जो सातवें अधिकार तक चलती है। पाँचवें अधिकार में सर्वप्रथम जैनेतर मतों की समीक्षा की गयी है। इसके उपरान्त जैनदर्शन का अन्य दर्शनों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें कहा गया है कि जैनदर्शन मूलत: वीतरागी दर्शन है; जबकि अन्य दर्शनों में शुभराग को ही मुख्यत:

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

धर्म स्वीकार किया गया है। अन्त में जैन व जैनेतर ग्रंथों के आधार पर जैनदर्शन की प्राचीनता सिद्ध की गयी है।

इसी अधिकार में श्वेताम्बर मत एवं स्थानकवासी सम्प्रदाय के संदर्भ में चर्चा की गई है।

छठवें अधिकार में उन दिगम्बर जैनों के गृहीत मिथ्यात्व की चर्चा है; जो लोग दिगम्बर कुल में पैदा होकर गौरवान्वित हैं, दिगम्बर धर्म के विरोध में एक शब्द भी सुनने को तैयार नहीं हैं, उसके नाम पर लड़ने-मरने को भी तैयार हैं। इतने कट्टर होने पर भी उनमें कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की आराधना किस रूप में पाई जाती है यहाँ इसका दिग्दर्शन किया गया है।

अब इस सातवें अधिकार में उन दिगम्बर जैनों की चर्चा कर रहे हैं कि जो शास्त्राभ्यास करते हैं और कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के सेवन से पूर्णत: विरक्त हैं। वे लोग भी नयों का स्वरूप नहीं समझ पाने के कारण गृहीत मिथ्यात्व का सेवन किसप्रकार करते हैं यहाँ यह बताया जा रहा है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र या कुधर्म के निमित्त से तो गृहीत मिथ्यात्व हो सकता है; परन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के उपासक होने पर भी गृहीत मिथ्यात्व कैसे रह सकता है?

यहाँ इसी बात को समझाया जा रहा है कि बाह्य में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के उपासक होने पर भी **नयज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण जिनागम के मर्म को न समझ पाने से ही ऐसा अनर्थ होता है।**

इस अधिकार में जो कुछ भी कहा गया है; वह सब दिगम्बर जैन स्वाध्यायी लोगों अथवा पण्डितों में पाये जानेवाले अज्ञान के संदर्भ में ही कहा गया है। पण्डितजी इस अधिकार की पहली पंक्ति में ही लिखते हैं कि **जो जीव जैन हैं, जिन आज्ञा को मानते हैं; उनके भी मिथ्यात्व रहता है अब उसका वर्णन करते हैं; क्योंकि इस मिथ्यात्व बैरी का अंश भी बुरा है, अत: सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है।**

ध्यान रहे, यह निरूपण उन जैनियों का है, जो जिनाज्ञा को सच्चे दिल से स्वीकार करते हैं, मानते हैं। यह बात तो स्पष्ट ही है कि जिन आज्ञा मानना, जिन आज्ञा को जाने बिना संभव नहीं है।

तात्पर्य यह है कि वे लोग जिन आज्ञा को जानते भी हैं, उसे पूरी निष्ठा के साथ स्वीकार भी करते हैं, मानते भी हैं; तथा अपनी समझ के अनुसार, शक्ति के अनुसार उसका पालन भी करते हैं; किन्तु नय विभाग से अपरिचित होने के कारण उनके भी कुछ ऐसी भूलें रह जाती हैं कि जिसके कारण उनके भी सूक्ष्म मिथ्यात्व बना रहता है।

आज के कुछ जैनियों को तो जिनवचनों में भी शंका होने लगी है। आलू जमीकंद में अनन्त जीव होते हैं इसमें भी कुछ लोग प्रश्नचिह्न लगाने लगे हैं; ऐसे लोगों की तो यहाँ बात ही नहीं है।

यहाँ तो उन लोगों की चर्चा है; जो न केवल जिनागम से भलीभाँति परिचित हैं; अपितु उसमें पूरी श्रद्धा रखते हैं, तदनुसार आचरण भी करते हैं। उनसे भी जो भूलें होती, उनके भी जो सूक्ष्म मिथ्यात्व पाया जाता है; उसकी ही यहाँ चर्चा है।

उक्त सूक्ष्म मिथ्यात्व की चर्चा आरंभ करते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि **जिनागम में निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। उनमें यथार्थ का नाम निश्चय और उपचार का नाम व्यवहार है। उक्त निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सही रूप में न जान पाने के कारण उनकी मान्यता, वृत्ति और प्रवृत्ति में सम्यक्पना नहीं आ पाता।**

नयज्ञान की उपयोगिता निरूपित करते हुए धवला में कहा गया है

''णत्थि णएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिनवरमदम्हि।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति।।[१]

१. धवला, पु. १, खण्ड १, भाग १, गाथा ६८

जिनेन्द्र भगवान के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं; उन्हें सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझना चाहिए।''

नयचक्रकार माइल्ल धवल तो यहाँ तक लिखते हैं कि

''जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहाव उवलद्धि।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठि कहं हुंति।।[१]

जो व्यक्ति नयदृष्टि से विहीन हैं; उन्हें वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तुस्वरूप को नहीं जाननेवाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ?''

जो लोग निश्चय-व्यवहार नयों का सही स्वरूप नहीं समझ पाते; वे या तो निश्चयाभासी हो जाते हैं या फिर व्यवहाराभासी। निश्चय-व्यवहार नयों का सही स्वरूप न जानने और दोनों को स्वीकार करने की भावना रखनेवाले कुछ लोग उभयाभासी हो जाते हैं।

इसप्रकार हम निश्चय-व्यवहार के स्वरूप से अनभिज्ञ लोगों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं १. निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि, २. व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि और ३. उभयाभासी मिथ्यादृष्टि।

उक्त तीनों प्रकार के जैनाभासियों में भी जो भूलें पाई जाती हैं, जिन भूलों की विस्तृत चर्चा इस सातवें अधिकार में की जा रही है; **उन सभी भूलों का एकमात्र कारण निश्चय-व्यवहारनयों का सही स्वरूप नहीं जानना ही है, निश्चय-व्यवहार संबंधी अज्ञान ही है।**

अत: प्रत्येक आत्मार्थी भाई-बहिन को निश्चय-व्यवहार नयों का स्वरूप गहराई से समझने का प्रयास अवश्य करना चाहिए।

उक्त तीनों प्रकार के जैनाभासियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे लोग भी होते हैं कि जो नयों के माध्यम से वस्तु का सही स्वरूप समझकर, आत्मसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की साधना कर रहे होते हैं।

१. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १८१

ऐसे लोगों को पण्डित टोडरमलजी सम्यक्त्व के सन्मुख भद्र मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस सातवें अधिकार में १. निश्चयाभासी, २. व्यवहाराभासी, ३. उभयाभासी और ४. सम्यक्त्व के सन्मुख भद्र मिथ्यादृष्टियों की चर्चा है।

ध्यान रहे ये सभी जैनाभासी दिगम्बर जैनों में ही होते हैं।

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि जीवों की वृत्ति और प्रवृति की चर्चा आरंभ करते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि **कितने ही जीव निश्चय के सही स्वरूप को न जानते हुए निश्चयाभास के श्रद्धानी होकर स्वयं को मोक्षमार्गी मानते हैं, अपने आत्मा को सिद्ध समान अनुभव करते हैं। यद्यपि स्वयं साक्षात् संसारी हैं, तथापि भ्रम से स्वयं को सिद्ध मानते हैं। उनका यह मानना ही मिथ्यात्व है और वे इसके कारण ही मिथ्यादृष्टि हैं।**

आश्चर्य की बात तो यह है कि उनकी यह मान्यता जिनवाणी का स्वाध्याय करते हुए हुई है। देह में एकत्वबुद्धि के समान उनकी यह मान्यता अनादिकालीन नहीं है, वे इस मान्यता को माँ के पेट से लेकर नहीं आये हैं, उन्होंने यह सब शास्त्रों का स्वाध्याय करके ही सीखा है, नयज्ञान से अनभिज्ञ गुरुओं के समागम से ही सीखा है; अत: यह गृहीत मिथ्यात्व है। यह उनकी इसी भव की कमाई है, इसी भव में जिनवाणी का स्वाध्याय करते हुए स्वयं ही नासमझी से उत्पन्न हुई भूल है।

एक दृष्टि से विचार करें तो ये लोग तो उनसे भी अधिक अभागे हैं; जो कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के निमित्त से गृहीत मिथ्यादृष्टि बने हैं; क्योंकि इन्हें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का समागम मिल गया, फिर भी स्वयं की भूल से गृहीत मिथ्यात्व में उलझकर रह गये हैं।

दो भाई आपस में लड़ रहे थे। उनसे पूछा गया कि अरे भाई ! भाई-भाई होकर भी क्यों लड़ रहे हो ?

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

उन्होंने तपाक से कहा कि इसमें क्या है भरत और बाहुबली भी तो लड़े थे। अरे भाई ! ये लोग तो लौकिक विषय-सामग्री के लिए लड़नेवाले भाई-बहिनों से भी अधिक अभागे हैं; क्योंकि इन्होंने अपनी लड़ाई का पोषण शास्त्रों के आधार से किया है।

शास्त्रों में लड़ाइयों के दुष्परिणाम बताकर लड़ाई से विरक्त करने के लिए जो कथायें लिखी गई हैं; इन्होंने उन्हीं कथाओं को आधार बनाकर स्वयं की लड़ाई का पोषण किया है।

इसीप्रकार सातवें अधिकार में जिन दिगम्बर जैन गृहीत मिथ्यादृष्टियों का निरूपण है; उनके मिथ्यात्व के निमित्त तो जैनशास्त्रों में समागत कथन हैं। **अपने अज्ञान से इन्होंने सत्शास्त्रों से भी मिथ्यात्व का पोषण किया है। इसप्रकार हम देखते हैं कि ये लोग तो किनारे पर आकर डूबे हैं।**

शास्त्रों में लिखा था कि **'सिद्ध समान सदा पद मेरो'** पर निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टियों ने इस कथन की अपेक्षा तो समझी नहीं और अपने को सिद्ध समान मानने लगे तथा कहने लगे कि राग-द्वेषादिक तो हममें हैं ही नहीं, हम तो वर्तमान पर्याय में ही केवलज्ञान से संयुक्त हैं।

अरे, भाई ! यह तो द्रव्यदृष्टि से कहा गया था, आत्मा के द्रव्यस्वभाव के बारे में कहा था; पर इन्होंने वर्तमान पर्याय को भी सिद्धों के समान मान लिया। कहा तो यह गया था कि **जिसप्रकार सिद्ध भगवान पर्याय में पूर्ण शुद्ध और केवलज्ञान से परिपूर्ण हैं; उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा स्वभाव से तो परिपूर्ण शुद्ध और सर्वज्ञस्वभावी ही है, केवलज्ञानस्वभावी ही है।**

सिद्धों का उल्लेख तो मात्र यह बताने के लिए किया गया था कि जिसप्रकार सिद्ध भगवान पर्याय में प्रगट हो गये हैं; उसीप्रकार की निर्मलता एवं पूर्णता तेरे द्रव्यस्वभाव में है। सिद्धों की पर्याय के उदाहरण से संसारी जीवों के स्वभाव अर्थात् द्रव्यस्वभाव को समझाया गया था; **पर इसने सिद्धों की पर्याय के समान ही संसारी जीवों की पर्याय को भी शुद्ध-बुद्ध मान लिया।**

पण्डितजी कहते हैं कि सिद्धों की प्रगट पर्याय से अपने द्रव्यस्वभाव

का मिलान करना था; क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो उनका और अपना समान ही है। अन्तर तो प्रगट पर्याय में है। पर्याय में वे वीतराग-सर्वज्ञ हैं और हम रागी-द्वेषी और अल्पज्ञ हैं।

पर्याय की अल्पज्ञता और मलिनता देखकर यह हीनभावना से ग्रस्त हो गया था; अत: यह समझाया था कि तेरा द्रव्यस्वभाव भी सिद्धों के समान शुद्ध-बुद्ध है। सिद्धों की प्रगट पर्याय के माध्यम से द्रव्यस्वभाव को समझाने का प्रयास था; पर इस **निश्चयाभासी जीव ने स्वयं के द्रव्यस्वभाव का तो निर्णय नहीं किया और पर्याय में पामरता, अशुद्धि और अल्पज्ञता के रहते हुए भी, उसे स्वीकार न करके स्वयं को पर्याय में भी शुद्ध-बुद्ध-निरंजन मान लिया।**

निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि की यह सबसे बड़ी भूल है।

जिसप्रकार हम मैले वस्त्र के स्वच्छस्वभाव को समझाने के लिए, मिलावट वाले सोने के शुद्धस्वभाव को बताने के लिए; साफ कपड़ा और शत-प्रतिशत शुद्ध सोने को दिखाते हैं और यह कहते हैं कि यह मैला कपड़ा या मिलावटी सोना वैसे ही साफ व शुद्ध हैं; जिसप्रकार के साफ कपड़े और शुद्ध सोना है।

यद्यपि यहाँ मलिन पर्याय से संयुक्त आत्मा के शुद्ध स्वभाव को समझाने के लिए सिद्धों की शुद्धपर्याय के माध्यम से प्रयास किया गया है; तथापि जिसप्रकार स्वभाव से शुद्ध होने पर भी मैला वस्त्र पर्याय में तो मैला ही है, स्वभाव से शुद्ध होने पर भी मिलावटी सोना पर्याय में तो अशुद्ध ही है; उसीप्रकार **स्वभाव से शुद्ध होने पर भी संसारी आत्मा पर्याय में तो अभी अल्पज्ञ और रागी-द्वेषी ही है।**

प्रगट पर्याय तो सभी को दिखाई देती है; पर अप्रगट स्वभाव दिखाई नहीं देता। इसकारण सिद्धों की शुद्ध प्रगट पर्याय के माध्यम से अपने शुद्ध स्वभाव को समझाया जाता है।

जिसप्रकार धुले कपड़ों के माध्यम से मैले कपड़ों के साफ स्वभाव

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

को समझना था, शुद्ध सोने के माध्यम से अशुद्ध सोने के स्वरूप को समझना था; उसीप्रकार **सिद्धों के माध्यम से अपने शुद्ध स्वभाव को समझना था; पर इसने जरा सी भूल कर दी और सब कुछ गड़बड़ हो गया।**

कभी-कभी जरा सी गड़बड़ी से भी बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता है।

एक साधु ने एक गृहस्थ को सोना बनाने की विधि बताई। यद्यपि उस गृहस्थ ने उस विधि को पूरी सावधानी के साथ समझा था और पूरी सतर्कता के साथ सोना बनाने का यत्न किया; किन्तु सोना नहीं बन पाया।

वह गृहस्थ फिर उसी साधु के पास गया। साधु ने कहा तुमने कोई न कोई गलती की होगी, अन्यथा सोना अवश्य ही बन जाता। अब तुम मेरे सामने सोना बनाओ, देखें कैसे नहीं बनता?

गृहस्थ ने सोना बनाना आरंभ किया और नींबू को चाकू से काटकर उसका रस सामग्री में निचोड़ दिया।

साधु ने कहा "मैंने कहा था कि साबुत नींबू को हाथ से निचोड़ कर डालना, पर तुमने....।"

गृहस्थ बोला "इससे क्या फर्क पड़ता है। नींबू का रस डालना था, सो डाल दिया।"

"अरे, भाई ! लोहे का स्पर्श नहीं होना चाहिए। इसीलिए तो मैंने साबुत नींबू को हथेलियों से निचोड़ कर डालने को बोला था।"

यहाँ भी स्वभाव की सामर्थ्य का परिज्ञान कराने के लिए सिद्धों का उदाहरण दिया था; क्योंकि स्वभाव के आश्रय से पर्याय की पामरता समाप्त होती है, दीनता-हीनता का भाव समाप्त होता है। यही कारण है कि पर्याय में पवित्रता प्रकट करने के लिए स्वभाव का ज्ञान कराया जाता है; पर इसने अपवित्र पर्याय को ही पवित्र मान लिया। कथन का अभिप्राय न समझ पाने के कारण इसप्रकार की भूलें होती हैं।

उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि जो मतिज्ञानादि व रागादि अभी पर्याय में हैं; उन्हें तो यह निश्चयाभासी

गृहीत मिथ्यादृष्टि जैन स्वीकार नहीं करता और जो केवलज्ञानादि व वीतरागता पर्याय में अभी नहीं हैं; उन्हें अभी हैं ऐसा मानता है।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए टोडरमलजी स्वयं लिखते हैं

"शास्त्रों में जो सिद्ध समान आत्मा को कहा है, वह द्रव्यदृष्टि से कहा है, पर्याय अपेक्षा सिद्ध समान नहीं है। जैसे राजा और रंक मनुष्यपने की अपेक्षा समान हैं, परन्तु राजापने और रंकपने की अपेक्षा से तो समान नहीं हैं; उसीप्रकार सिद्ध और संसारी जीवत्वपने की अपेक्षा समान हैं, परन्तु सिद्धपने और संसारीपने की अपेक्षा समान नहीं हैं। तथापि ये तो जैसे सिद्ध शुद्ध हैं, वैसा ही अपने को शुद्ध मानते हैं। परन्तु वह शुद्ध-अशुद्ध अवस्था पर्याय है; इस पर्याय अपेक्षा समानता मानी जाये तो यही मिथ्यादृष्टि है।

तथा अपने को केवलज्ञानादिक का सद्भाव मानते हैं, परन्तु अपने को तो क्षयोपशमरूप मति-श्रुतादि ज्ञान का सद्भाव है, क्षायिक-भाव तो कर्म का क्षय होने पर होता है और ये भ्रम से कर्म का क्षय हुए बिना ही क्षायिकभाव मानते हैं, सो यही मिथ्यादृष्टि है।[१]"

ध्यान रहे यहाँ मिथ्यादृष्टि में मिथ्या शब्द दृष्टि का विशेषण है, किसी व्यक्ति का नहीं। तात्पर्य यह है कि इसप्रकार की दृष्टि मिथ्या है।

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि राजा और रंक (गरीब-भिखारी) मनुष्यपने की अपेक्षा समान है; तथापि उनमें जो अमीरी और गरीबी का भेद है, वह तो है ही। उसकी भी उपेक्षा तो नहीं की जा सकती।

इसीप्रकार संसारी और सिद्ध जीवत्व की अपेक्षा समान है; तथापि उनमें जो संसार और सिद्धपने की अपेक्षा भेद है, अन्तर है, वह तो है ही; उसको भी तो पूरी तरह उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

समानता और असमानता की जो अपेक्षायें हैं; उन्हें समझना भी तो अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि उन्हें समझे बिना भी तो भाव स्पष्ट नहीं होता।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ-१९३

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चयनय द्वारा किये गये निरूपण का सही अर्थ न समझ पाने के कारण निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि में मूलत: दो प्रकार की भूलें रह जाती हैं।

पहली तो यह कि जो मतिज्ञान-श्रुतज्ञान अभी विद्यमान हैं; वह उनसे तो इन्कार करता है और जो केवलज्ञान अभी नहीं है; उसके बारे में कहता है कि मैं अभी केवलज्ञानी हूँ।

दूसरी बात यह है कि मोह-राग-द्वेष वर्तमान में विद्यमान होने पर भी वह उनसे तो इन्कार करता है और पूर्ण वीतरागता अभी नहीं है, उसे विद्यमान मानता है।

निश्चयाभासी की दोनों प्रकार की मिथ्या मान्यताओं का निराकरण यहाँ अनेक प्रकार के आगम प्रमाणों और सशक्त युक्तियों से किया गया है।

पण्डित टोडरमलजी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि शास्त्रों में जीवों का जो केवलज्ञानस्वभाव कहा है, वह तो शक्ति अपेक्षा से किया गया कथन है; क्योंकि सभी जीवों में केवलज्ञानादिरूप होने की शक्ति है। वर्तमान व्यक्तता तो व्यक्त होने पर ही कही जाती है।

मति-श्रुतज्ञान क्षयोपशमज्ञान है, केवलज्ञान क्षायिकज्ञान है और केवलज्ञानस्वभाव अर्थात् सर्वज्ञत्वशक्ति पारिणामिकभाव है।

जबतक क्षायोपशमिकज्ञान है, तबतक क्षायिकज्ञान नहीं हो सकता और जब क्षायिकज्ञान प्रगट हो जाता है तो क्षायोपशमिकज्ञान नहीं रहते; किन्तु पारिणामिकभाव क्षायोपशमिकज्ञान और क्षायिकज्ञान दोनों के साथ रह सकते हैं, रहते हैं। यही कारण है कि संसारी जीवों को पारिणामिक-भावरूप केवलज्ञानस्वभावी कहा है, क्षायिकभावरूप केवलज्ञानस्वभावी नहीं; परन्तु निश्चयाभासी जीव मतिज्ञानादिक होने पर भी वर्तमान में स्वयं को क्षायिकभावरूप केवलज्ञानस्वभावी मान लेते हैं।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा के प्रदेशों में तो केवलज्ञान विद्यमान ही है; ऊपर से कर्म का आवरण होने से प्रगट नहीं होता;

दिखाई नहीं देता; परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यदि केवलज्ञान हो तो वज्रपटलादि के आड़े आने पर भी सब कुछ जानने में आता है, कर्मों के आड़े आने से क्या होता है ? वस्तुत: बात यह है कि क्षायोपशमिकरूप ज्ञान के समय क्षायिकभावरूप केवलज्ञान है ही नहीं।

निष्कर्ष रूप में पंडितजी लिखते हैं कि जिसप्रकार खौलते हुए गर्म पानी को शीतल स्वभाव के कारण शीतल मान कर पीने से जलने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा; उसीप्रकार **केवलज्ञानस्वभाव के कारण अशुद्ध आत्मा को केवलज्ञानी मानकर अनुभव करने पर तो दुख ही होता है।**

इसप्रकार आत्मा को संसार अवस्था में भी जो लोग केवलज्ञान रूप अनुभव करते हैं, वे जीव मिथ्यादृष्टि ही हैं।

इसीप्रकार रागादिभाव वर्तमान पर्याय में प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी जो लोग वर्तमान में स्वयं को उनसे रहित मानते हैं; वे भी निश्चयनय के कथन का सही भाव नहीं समझते।

ऐसे लोगों के लक्ष्य से पण्डितजी कहते हैं कि ऐसा मानने पर यह दोष होगा कि जब रागादिक भाव अपने हैं ही नहीं, अपन उनके कर्ता-भोक्ता हैं ही नहीं; तब उन्हें रागादिक होने का भय नहीं रहेगा, उन्हें मिटाने का उपाय करना भी नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में स्वच्छन्द होकर खोटे कर्मों का बंध करके अनन्त संसार में रुलने से उन्हें कौन बचा सकता है ?

इसप्रकार संसार अवस्था में रागादिक और मतिज्ञानादिक होते हुए भी स्वयं को उनसे रहित मानना और वीतरागता व केवलज्ञान वर्तमान पर्याय में नहीं होते हुए भी स्वयं को उनसे संयुक्त मानना अज्ञान ही है, मिथ्यात्व ही है।

ऐसी मान्यतावाले जैन गृहीतमिथ्यादृष्टि ही हैं।

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि लोग निश्चयनय के कथनों का मर्म समझे बिना ही, प्रयोजन समझे बिना ही, अपेक्षा समझे बिना ही अनेक प्रत्यक्ष

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

विरुद्ध बातें करते हैं, जो सामान्यजनों के भी गले नहीं उतरती और सम्पूर्णत: सही भी नहीं हैं।

वर्तमान में वीतरागता और केवलज्ञान नहीं है, फिर भी स्वयं को वीतरागी और केवलज्ञानी मानते हैं; मोह-राग-द्वेष हैं, फिर भी स्वयं को उनसे रहित मानते हैं; पर को जानना-देखना होता है, फिर भी यह कहते हैं कि आत्मा पर को जानता ही नहीं है।

यदि आपको केवलज्ञान है तो फिर आपको अलोकाकाश सहित लोकालोक के सभी पदार्थ उनकी तीन काल संबंधी सभी पर्यायों के साथ क्यों दिखाई नहीं देते; क्योंकि केवलज्ञान के विषय तो सभी द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायें हैं।[१]

यदि आप वीतरागी हैं तो फिर क्रोधादि करते क्यों देखे जाते हो ?

यदि आत्मा पर को नहीं जानता तो फिर आप हमें जानते हैं या नहीं, अपने माँ-बाप और बाल-बच्चों को जानते हो या नहीं ?

हम सबको जानते हुए भी, हम सबसे बातचीत करते हुए भी; आप यह कैसे कह सकते हो कि हम पर को नहीं जानते ? क्या हम सब आपसे पर नहीं हैं ?

तब वह कहता है कि ये सब बातें अध्यात्म शास्त्रों में लिखी हैं।

अरे, भाई ! ये सब परमशुद्धनिश्चयनय के कथन हैं। परमशुद्ध-निश्चयनय पर को, पर्यायों को और भेदविकल्पों को गौण करके केवल आत्मा के द्रव्यस्वभाव की बात करता है।

यद्यपि आत्मा सदा किसी न किसी पर्याय में रहता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिसमय आत्मा में कोई न कोई पर्याय अवश्य होती है; क्योंकि द्रव्य के बिना पर्याय और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता।

कहा भी है

पर्याय बिन ना द्रव्य हो, ना द्रव्य बिन पर्याय ही।
दोनों अनन्य रहें सदा, यह बात श्रमणों ने कही।।[२]

---

१. आचार्य उमास्वामी : सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। तत्वार्थसूत्र, अ १, सूत्र २९
२. आचार्य कुन्दकुन्द : पचांस्तिकाय संग्रह, गाथा १२ का हिन्दी पद्यानुवाद

तथापि निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा न रागी है, न वीतरागी; न मतिज्ञानी है, न केवलज्ञानी; पर यह निश्चयाभासी आत्मा को रागी तो नहीं कहता, पर वीतरागी कहता है; मतिज्ञानी तो नहीं कहता, पर केवलज्ञानी कहता है।

यदि तुम पर्याय से रहित आत्मा की बात कर रहे हो तो रागी-वीतरागी, मतिज्ञान-केवलज्ञान सभी पर्यायों से रहित कहो; पर यह निश्चयाभासी राग-द्वेष पर्याय से तो रहित कहता है और वीतरागी पर्याय से सहित कहता है।

यद्यपि तुम इस समय बीमार हो, पर एक दृष्टि से डॉक्टर समझाता है कि इसी समय तुम अलग हो और बीमारी अलग है; क्योंकि बीमारी चली जायेगी और तुम कायम रहोगे। अत: चिन्ता की कोई बात नहीं है।

तुम बीमारी को गौण करके अपने स्वस्थ स्वभाव को देखो। बीमारी के चिन्तन से बीमारी बढती है और **बीमारी से भिन्न स्वस्थ स्वभाव के चिन्तन से बीमारी कम होती है।**

यद्यपि आत्मा वर्तमान में रागी-द्वेषी है; तथापि ये आस्रवतत्त्वरूप राग-द्वेष अलग हैं और आत्मा अलग है; क्योंकि ये चले जानेवाले हैं और आत्मा कायम है। अत: चिन्ता की कोई बात नहीं है।

तुम राग-द्वेषरूप आस्रवभावों को गौण करके अपने शुद्ध स्वभाव को देखो। रागादि के चिन्तन से रागादि नहीं जाते; आत्मस्वभाव के चिन्तन से, मनन से, उसमें अपनापन करने से, उसे निजरूप जानने से, उसमें उपयोग को स्थिर करने से; मोह-राग-द्वेष नष्ट होते हैं।

यही कारण है कि परमशुद्धनिश्चयनय से आत्मा के शुद्धस्वभाव का ज्ञान कराया जाता है।

यह नय अपने आत्मद्रव्य में रहनेवाली पर्यायों को गौण तो करता है; पर वे हैं ही नहीं ऐसा नहीं कहता। वस्तुत: बात तो यह है कि यह नय पर्यायों के बारे में कुछ भी नहीं कहता; क्योंकि उनके बारे में कुछ कहने से वे गौण नहीं हो पाती, मुख्य ही हो जाती हैं तथा इस नय को भी उनकी गौणता ही अभीष्ट है, अभाव नहीं।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

यद्यपि राग का अभाव हमें अभीष्ट है, पर पर्याय का अभाव अभीष्ट नहीं; क्योंकि पर्याय तो द्रव्य का अंश है और राग पर्याय की उपाधि है, विकार है, आस्रवभाव है, औपाधिकभाव है, दुखस्वरूप है और दुःखों का कारण है।

राग हेय है, त्यागने योग्य है, पर पर्याय हेय नहीं है, त्यागने योग्य भी नहीं है। फिर भी परमशुद्धनिश्चयनय के विषय में न पर्याय आती है, न राग दोनों ही गौण रहते हैं। राग भी पर्याय में है, पर्याय है और वीतरागता भी पर्याय में है, पर्याय है; परन्तु राग हेय है और वीतरागता उपादेय है और पर्याय ज्ञेय है।

दूसरे की आत्मा में उत्पन्न राग-द्वेष और अपनी आत्मा में उत्पन्न राग-द्वेष यद्यपि दोनों प्रकार के राग अपने आत्मा से भिन्न हैं; तथापि दोनों की भिन्नता में अन्तर है; क्योंकि दूसरे में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष के निमित्त से हमें पुण्य-पाप कर्म का बंध नहीं होता; परन्तु स्वयं में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष के निमित्त से कर्मबंध अवश्य होगा। इसलिए **पर के राग-द्वेष मात्र ज्ञेय हैं, पर स्वयं में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष हेय हैं, छोड़ने योग्य हैं, नाश करने योग्य हैं।**

पर में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष अपने से सर्वथा भिन्न हैं; पर अपने में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष कथंचित् भिन्न हैं। यदि सर्वथा भिन्न होते तो उनके निमित्त से हमें कर्मबंध नहीं होता और यदि सर्वथा अभिन्न होते तो फिर उनसे कभी छुटकारा नहीं मिलता।

अपनी आत्मा में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष अपने स्वभाव से तो वर्तमान में ही भिन्न हैं और पर्याय से भी निकल जानेवाले हैं। पर में होनेवाले राग-द्वेष न तो अपने स्वभाव में ही हैं और न पर्याय में; इसलिए वे सर्वथा भिन्न हैं।

निश्चयाभासी की भूल यह है कि वह वर्तमान में भी अपने में उनके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता; इसकारण उनके अभाव करने के पुरुषार्थ से भी विरत हो जाता है, स्वच्छन्द हो जाता है।

१. आचार्य उमास्वामी : गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५

राग-द्वेषादि भाव को सर्वथा आत्मा या आत्मा के अभिन्न अंग मानने पर भी एक आपत्ति आती है कि यदि वे सर्वथा अभिन्न हैं तो उनके नाश करने से आत्मा के नाश का प्रसंग उपस्थित होता है। इसलिए लोग आत्मा के नाश के भय से उनका नाश भी नहीं करना चाहेंगे।

इसप्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही स्थितियाँ राग-द्वेष के नाश के पुरुषार्थ की प्रेरक नहीं हैं।

यदि डॉक्टर यह कह दे कि यह बीमारी तो तुम्हारे नाश के साथ ही नष्ट होगी, तो भी हम इलाज से विरत हो जाते हैं और यदि यह कह दें कि तुम्हें बीमारी है ही नहीं; तब भी हम इलाज से विरत हो जावेंगे। दोनों ही स्थितियों में परिणाम एक ही है, इलाज के पुरुषार्थ से विरक्ति।

यही कारण है कि डॉक्टर इसी सत्य का उद्घाटन करता है कि तुम बीमार तो हो, इलाज भी जरूरी है; पर चिन्ता की बात नहीं है, बीमारी चली जायेगी और तुम स्वस्थ हो जाओगे, कायम रहोगे; क्योंकि तुम और बीमारी जुदे-जुदे पदार्थ हैं। बीमारी जानेवाली और तुम कभी न जानेवाले तत्त्व हो। इसीप्रकार **आचार्य कहते हैं कि राग-द्वेष जानेवाले अशरण-अनित्य आस्रवतत्त्व हैं और तुम कभी न जानेवाले त्रिकाली ध्रुव नित्य पदार्थ हो, परम पदार्थ हो।**

निश्चयाभासियों की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूल यह है कि **वे रागादिभावों के होने में स्वयं को उत्तरदायी नहीं मानते। कहते हैं कि हम तो इनके अकर्ता-अभोक्ता हैं, ये तो कर्म के उदय से होते हैं। अतः इनका नाश भी कर्मोदय के अभाव से ही होगा; इसमें हम क्या कर सकते हैं ?**

निश्चयाभासियों की उक्त मान्यता के संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी समयसार का निम्नांकित कलश उद्धृत करते हैं

(रथोद्धता)

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ।।२२१।।

(रोला)

अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को।
एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी॥
शुद्धबोध से विरहित वे अंधे जन जग में।
अरे कभी भी मोहनदी से पार न होंगे॥२२१॥

जो लोग राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही मूलकारण मानते हैं अर्थात् परद्रव्य के निमित्त से ही राग उत्पन्न होता है ऐसा मानते हैं; शुद्धज्ञान से रहित वे अंधबुद्धि लोग मोहनदी को पार नहीं कर सकते।

इस कलश में निश्चयाभासियों को **'शुद्धबोध से विधुर'** और **'अन्धबुद्धि'** कहा है।

जिनकी पत्नी का स्वर्गवास हो जाता है, उन पुरुषों को विधुर कहते हैं और जिसके पति का स्वर्गवास हो जाता है, उन महिलाओं को विधवा कहते हैं। **धुरा का अर्थ पत्नी होता है और धव का अर्थ पति होता है।** इसप्रकार पत्नी रहित पुरुष विधुर और पति रहित महिला विधवा कहलाती है। ध्यान रखने की बात यह है कि **अविवाहित पुरुष को विधुर और अविवाहित महिला को विधवा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ये विधुर और विधवा विशेषण विवाहित स्त्री-पुरुषों के ही हैं।**

इस कलश में यह कहा गया है कि जो पुरुष राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को ही निमित्त मानकर राग-द्वेष में स्वयं लिप्त रहते हुए भी पूरा उत्तरदायित्व निमित्त पर डालकर निश्चित रहते हैं, स्वच्छन्द रहते हैं; शुद्धज्ञान से रहित वे पुरुष अन्धे हैं। ऐसे लोग मोहरूपी नदी को पार नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि वे नदी में बहते-बहते अन्ततः संसार-समुद्र में ही डूब जायेंगे।

यद्यपि परमशुद्धनिश्चयनय से या शुद्धनिश्चयनय से समयसारादि अध्यात्म ग्रंथों में आत्मा को रागादि का अकर्ता कहा है; तथापि उन्हीं ग्रंथों में अज्ञानावस्था में आत्मा को अशुद्धनिश्चयनय से उनका कर्ता-भोक्ता भी कहा गया है; क्योंकि रागादि की उत्पत्ति में कर्मोदय तो अंतरंग निमित्त हैं; परन्तु उपादान (अशुद्ध उपादान) तो आत्मा ही है।

ध्यान रहे राग-द्वेष पुद्गल में नहीं, आत्मा में उत्पन्न होते हैं। दुखी भी उनके कारण कर्म नहीं, आत्मा ही है; अतः आत्मा का यह कर्तव्य बनता है कि रागादिक के अभाव का पुरुषार्थ करे।

उक्त संदर्भ में मार्गदर्शन देते हुए पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि एक कार्य के अनेक कारण होते हैं। उनमें से अबुद्धिपूर्वक होनेवाले कारण तो समय पर स्वयं मिलते हैं; पर बुद्धिपूर्वक होनेवाले कारणों को मिलाने का उद्यम किया जाता है।

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि पुत्रोत्पत्ति का बुद्धिपूर्वक कारण तो विवाहादि करना है और अबुद्धिपूर्वक कारण भवितव्य है।

यही कारण है कि पुत्र की कामनावाले लोग विवाहादि का तो उद्यम करते हैं और भवितव्य समय पर स्वयमेव मिलता है; तब पुत्रादि की उत्पत्ति होती है।

उसीप्रकार रागादिभावों को दूर करने में बुद्धिपूर्वक होनेवाले कारण तो तत्त्वविचारादि हैं और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले कारण मोहकर्म के उपशमादि हैं। इसलिए रागादि का अभाव करने की भावनावालों को तत्त्वाभ्यासरूप पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए।

इस पर यदि कोई कहे कि शादी भी भवितव्यानुसार होनी होगी तो हो जावेगी, नहीं होना होगी तो नहीं होगी। हम विकल्प क्यों करें ?

उनसे कहते हैं कि बात तो ऐसी ही है, पर जिनकी शादी होनी होती है, उन्हें समय पर तत्संबंधी विकल्प आते ही हैं और तत्संबंधी सक्रियता भी देखी जाती है। लगता है, तेरी शादी होना ही नहीं है, अन्यथा तुझे इसप्रकार के विकल्प क्यों आते ?

इसीप्रकार कोई कहे कि तत्त्वविचार भी भवितव्यतानुसार होना होगा तो हो जायेगा और नहीं होना होगा तो नहीं होगा। हम विकल्प क्यों करें?

उनसे कहते हैं कि बात तो ऐसी ही है, पर **जिनके आत्मानुभूति और रागादि दूर होने होते हैं; उन्हें यथासमय तत्त्वविचार संबंधी विकल्प आते ही हैं और तत्संबंधी सक्रियता भी होती ही है।** लगता है अभी निकट भविष्य में तुझे आत्मानुभूति और वीतरागता होनेवाली नहीं है। यही कारण है कि तुझे इसप्रकार के पुरुषार्थनाशक विकल्प आ रहे हैं।

अरे, भाई ! इसप्रकार के पुरुषार्थनाशक विकल्पों से विराम ले और तत्त्व निर्णय करने में उद्यम कर; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है। ●

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

चौदहवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में समागत निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टियों की चर्चा चल रही है। ये निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि वे लोग हैं; जिन्होंने न केवल जिनागम का स्वाध्याय किया है, अपितु परमागमरूप अध्यात्मशास्त्रों का भी खूब अभ्यास किया है; तथापि नयज्ञान में पारंगत न होने से परमागम में समागत नयकथनों का सही भाव न समझ पाने के कारण भटक गये हैं।

ये लोग वर्तमान में विद्यमान रागादिभावों और मतिज्ञानादि को तो स्वीकार नहीं करते और स्वयं को सिद्धों के समान वीतरागी और केवलज्ञानी मानकर स्वच्छन्द हो गये हैं, निरुद्यमी हो गये हैं, प्रमादी हो गये हैं।

इनकी चर्चा कल से आरंभ हुई है और हम यहाँ तक आ गये हैं कि हमें अनंत दु:खों के कारणरूप मोह-राग-द्वेष भावों के अभाव करने के लिए बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करने का उद्यम तो करना ही चाहिए।

रागादि भावों का अभाव करने का सम्यक् पुरुषार्थ एकमात्र तत्त्वाभ्यास है, जिनागम कथित तत्त्वाभ्यास है। अत: हम सभी को जिनागम में कहे गये तत्त्वों को गइराई से समझने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

इस पर वे कहते हैं कि जिसप्रकार विवाहादि भवितव्य के आधीन हैं; उसीप्रकार तत्त्वविचारादिक भी कर्मों के क्षयोपशम के आधीन हैं; इसलिए उद्यम करना निरर्थक ही है।

इसके उत्तर में जब यह कहा जाता है कि तत्त्वविचार करने योग्य क्षयोपशम अर्थात् ज्ञान का उघाड़ तुम्हें प्राप्त है; इसीलिए हम तुम्हें प्रेरणा दे रहे हैं। असैनी जीवों के ऐसा क्षयोपशम नहीं है; यही कारण है कि उनसे कोई कुछ नहीं कहता।

घर में २५ लाख का हाथी बंधा हो तो उससे कोई एक गिलास पानी लाने के लिए नहीं कहता; पर पाँच वर्ष की कन्या से कहता है; क्योंकि जो

ला सकता है, समझदार तो उससे ही कुछ कहते हैं। अरे, भाई ! आचार्यदेव तुम्हें स्वाध्याय द्वारा तत्त्वनिर्णय करने का उपदेश देते हैं तो इसीलिए देते हैं कि तुम समझ सकते हो, पढ सकते हो, तत्त्व का निर्णय कर सकते हो।

यदि असंज्ञी जीवों के समान तुम भी इस कार्य को करने में समर्थ नहीं होते तो आचार्यदेव तुमसे भी कुछ नहीं कहते। इसलिए अब बहाना मत बनाओ और अपने हित के लिए आचार्यदेव की आज्ञा का पालन करो।

तब वे कहते हैं कि बिना होनहार उपयोग कैसे लगे ?

इसके उत्तर में पण्डितजी कहते हैं कि यदि तुम्हारी मान्यता ऐसी ही है तो फिर रुचि के कामों में उद्यम क्यों करते हो ? खान-पान, व्यापार-धंधे में निरन्तर प्रयासरत रहते हो और तत्त्वाभ्यास में होनहार का बहाना बनाते हो। वस्तुत: बात यह है कि तुम्हें आत्मा की रुचि ही नहीं है; यही कारण है कि तत्त्वविचार में भी तुम्हारा उपयोग नहीं लगता।

यद्यपि यह परम सत्य है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण होते हैं, जिन्हें पाँच समवाय के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है; जिनकी चर्चा नौवें अधिकार में की गई है। वहाँ भी पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करने की प्रेरणा दी गई है। तत्संबंधी विस्तृत चर्चा यथास्थान की जावेगी।

निश्चयाभासी की एक भूल यह भी है कि यह कर्म-नोकर्म से बंधा हुआ होने पर भी स्वयं को सर्वथा निर्बन्ध मानता है। शरीररूप नोकर्म के बंधन में बंधा स्पष्ट दिखाई देता है। ज्ञानावरणादि कर्मों का बंधन भी है ही; अन्यथा ज्ञान-दर्शन की हीनता क्यों है ?

वस्तुत: बात यह है कि इसने समयसार पढ लिया है। उसमें लिखा है कि आत्मा तो अबद्धस्पष्ट है।[१] उसे तो कर्मों ने छुआ तक नहीं है, बंधने की बात तो बहुत दूर की है।

उक्त कथन की क्या अपेक्षा है; यह तो जानता नहीं है और ऐसा मानने लगा है कि मुझे तो कर्मबंधन है ही नहीं।

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द : समयसार, गाथा १४-१५

उसके इस अज्ञान पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''तथा कर्म-नोकर्म का संबंध होते हुए आत्मा को निर्बन्ध मानते हैं, सो इनका बन्धन प्रत्यक्ष देखा जाता है। ज्ञानावरणादिक से ज्ञानादिक का घात देखा जाता है, शरीर द्वारा उसके अनुसार अवस्थाएँ होती देखी जाती हैं, फिर बन्धन कैसे नहीं है ?

यदि बन्धन न हो तो मोक्षमार्गी इनके नाश का उद्यम किसलिए करे ?

यहाँ कोई कहे कि शास्त्रों में आत्मा को कर्म-नोकर्म से भिन्न अबद्धस्पृष्ट कैसे कहा है ?

उत्तर संबंध अनेक प्रकार के हैं। वहाँ तादात्म्यसंबंध की अपेक्षा आत्मा को कर्म-नोकर्म से भिन्न कहा है; क्योंकि द्रव्य पलटकर एक नहीं हो जाते और इसी अपेक्षा से अबद्धस्पृष्ट कहा है।

तथा निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा बंधन है ही। उनके निमित्त से आत्मा अनेक अवस्थाएँ धारण करता ही है; इसलिए अपने को सर्वथा निर्बन्ध मानना मिथ्यादृष्टि है।[१]''

उक्त कथन में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि अबद्धस्पृष्ट का अर्थ मात्र इतना ही है कि आत्मा और कर्मों में तथा आत्मा और शरीर में तादात्म्य संबंध नहीं है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और कर्म भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं; इससे अधिक कुछ अन्य नहीं; क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा जो बंधन है, वह तो है ही।

अत: आत्मा को सर्वथा निर्बंध मानना ठीक नहीं है।

अबद्ध की अपेक्षा मात्र इतनी ही है कि आत्मा कर्मरूप नहीं हुआ और कर्म आत्मारूप नहीं हुए; आत्मा शरीररूप नहीं हुआ और शरीर आत्मारूप नहीं हुआ। कर्म और शरीर अजीव ही रहे, जीव से बंधकर जीव नहीं हो गये। इसीप्रकार आत्मा अजीव कर्मों से बंधकर, अजीव

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ १९८

शरीर में रहकर भी अजीव नहीं हो गया, जीव ही रहा।

यही बात समयसार में सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में गाथा ३०८ से ३११ तक की गाथाओं में आत्मख्याति टीका की आरंभिक पंक्तियों में कहा है; जो इसप्रकार है

''जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीव:, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीव:; सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामै: सह तादात्म्यात् कङ्कणादिपरिणामै: काञ्चनवत्।

प्रथम तो यह जीव क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जिसप्रकार सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है; उसीप्रकार सर्व द्रव्यों का अपने-अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।''

देखो यहाँ इतनी सी बात है कि जीव जीव रहा और अजीव अजीव रहा। ज्ञान और आत्मा में जैसा तादात्म्यसंबंध है, वैसा कर्म और आत्मा में नहीं है, शरीर और आत्मा में नहीं है। बस बात इतनी सी है।

यहाँ दो द्रव्यों में भिन्नता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

उक्त अपेक्षा ख्याल में न आने से निश्चयाभासी कहता है कि हमें बंध और मुक्ति के विकल्प में ही नहीं उलझना है; क्योंकि योगसार में लिखा है कि

जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि जो बंधयहि णिभंतु।
सहज-सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव संतु।।८७।।

(हरिगीत)

यदि बद्ध और अबद्ध माने बंधेगा निर्भ्रान्त ही।
जो रमेगा सहजात्म में तो पायेगा शिव शान्ति ही।।८७।।

यदि तू बन्ध-मोक्ष की कल्पना करेगा तो नि:सन्देह तू बंधेगा, यदि तू सहजस्वरूप में रमण करेगा तो शान्तस्वरूप मोक्ष को पावेगा।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

उक्त कथन को आधार बनाकर निश्चयाभासी कहते हैं कि हमें तो कोई विकल्प करना ही नहीं है, बंध-मोक्षसंबंधी चिन्तन करना ही नहीं है, आत्मा के बंधन की और छूटने की बात ही नहीं करनी है, हमें तो आत्मा को छोड़कर अन्य कुछ सुनना भी अच्छा नहीं लगता।

कुछ लोग कहते हैं कि हमें तो पर को जानना ही नहीं है; क्योंकि आत्मा पर को जानता ही नहीं है।

जब आत्मा पर को जानता ही नहीं है तो फिर पर को जानने या नहीं जानने की बात ही कैसे हो सकती है ?

आप तो दोनों बातें एकसाथ कहते हैं कि आत्मा पर को जानता ही नहीं है; इसलिए हमें पर को नहीं जानना है।

इसमें आपको कुछ अटपटा नहीं लगता ?

यदि उक्त संदर्भ में कुछ कहो तो छूटते ही कहते हैं कि तुम्हें पर को जानने का बहुत रस है। क्या तुम यह नहीं जानते कि पर को जानने का रस जिसे होता है, वह सीधे निगोद जाता है।

वे लोगों को बात-बात में निगोद भेज देते हैं।

मैं आपसे ही पूछता हूँ कि आत्मा स्व-परप्रकाशक है इस बात की चर्चा करना, इस बात का निर्णय करने का भाव क्या पर को जानने का रस है और क्या इसका फल निगोद है ?

पर उन्हें कौन समझाये ? वे तो अपनी धुन में ही मस्त रहते हैं।

जो भी हो, इसीप्रकार ये निश्चयाभासी कहते हैं कि हमें बंधन की चर्चा ही नहीं करनी है; क्योंकि बंध की कथा ही विसंवाद पैदा करनेवाली है।

अरे, भाई ! **चर्चा नहीं करने से क्या तथ्य बदल जायेंगे ?** निश्चयनय के उक्त कथन के आधार पर यदि तुम बंध-मोक्ष से इन्कार करोगे तो संसार और मोक्ष हैं ही नहीं ऐसा मानना पड़ेगा। संसार के नहीं रहने पर चार गतियाँ भी नहीं रहेंगी, स्वर्ग-नरक भी नहीं रहेंगे।

क्या ये स्वर्ग-नरक और चार गतियाँ काल्पनिक हैं, क्या इनका अस्तित्व है ही नहीं ? शास्त्रों में तो इनकी चर्चा बहुत विस्तार से प्राप्त

होती है। क्या ये बातें सर्वज्ञ भगवान की वाणी में नहीं आई हैं ?

यदि आई है तो फिर तुम इनके अस्तित्व से इन्कार क्यों करते हो ?

इसपर वे कहते हैं कि हम नहीं मानते ऐसी बातों को।

अरे, भाई ! तुम्हारे मानने या नहीं मानने से क्या होता है? यदि तुम चारों अनुयोगों में प्राप्त निश्चय-व्यवहार के कथनों को स्वीकार नहीं करोगे तो फिर चौबीस तीर्थंकरों और बारह चक्रवर्तियों को मानना भी संभव न होगा, स्वर्ग-नरक को मानना भी संभव न होगा।

क्या आपको ध्यान है कि आपने शास्त्रों के आधार से क्या-क्या मान रखा है ? अत: ऐसी बातें बंद करो और तत्त्वार्थों के निर्णय करने के लिए जिनागम का अभ्यास करो और जिनागम के विभिन्न अपेक्षाओं से किये गये सभी कथनों को नयविभाग से समझो।

उक्त कथन का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''जो जीव केवल पर्यायदृष्टि होकर बन्ध-मुक्त अवस्था ही को मानते हैं, द्रव्यस्वभाव का ग्रहण नहीं करते; उन्हें ऐसा उपदेश दिया है कि द्रव्यस्वभाव को न जानता हुआ जो जीव बंधा-मुक्त हुआ मानता है; वह बंधता है।

तथा यदि सर्वथा ही बन्ध-मुक्ति न हो तो वह जीव बंधता है ऐसा क्यों कहें तथा बन्ध के नाश का मुक्त होने का उद्यम किसलिए किया जाये और आत्मानुभव भी किसलिए किया जाये ?

इसलिए द्रव्यदृष्टि से एक दशा है और पर्यायदृष्टि से अनेक अवस्थाएँ होती हैं ऐसा मानना योग्य है।[१]''

भक्तामर के लेखक आचार्य मानतुंग को राजा ने लोह की सांकलों से जकड़ कर कारागृह (जेल) में डाल दिया।

ऐसी स्थिति में आचार्य श्रीमानतुंग सोचते हैं कि मैं जेल में कहाँ हूँ, मैं तो अपने में हूँ। इन हथकड़ियों, बेड़ियों का बंधन तो देह में है, मुझमें नहीं। जबकि मैं देह से जुदा हूँ तो फिर मुझे बंधन कहाँ है ?

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ १९८

मेरे लिए तो देह भी जेल है। राजा ने तो मेरी देह को जेल में डालकर जेल को ही जेल में डाला है। राजा साहब मुझे जानते ही कहाँ हैं ?

यदि वे मुझे जानते होते तो उन्हें मुझे जेल में डालने का नहीं, नमस्कार करने का भाव आता। वे तो मुझे न द्रव्य की अपेक्षा जानते हैं और न पर्याय की अपेक्षा; क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा तो मैं बंधन और मुक्ति से पार तत्त्व हूँ और पर्याय की अपेक्षा छटवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में हूँ। दोनों ही स्थिति में वंदना करने योग्य हूँ, बंधन में डालने के योग्य नहीं।

जेल में देह है, मैं नहीं; बंधन में भी देह है, मैं नहीं; क्योंकि मैं तो निर्बंध तत्त्व हूँ।

क्या आचार्यदेव का यह सोचना गलत है ?

यदि, नहीं ! तो फिर क्या वे यह नहीं जानते थे कि मैं इस समय कहीं आ जा नहीं सकता ?

वर्तमान पर्याय में जो बंधन है, उसकी भी स्वीकृति उन्हें थी; पर उनकी दृष्टि में यह क्षणिक पर्याय उनकी नहीं थी, उनके ध्यान का ध्येय बंधन नहीं बन रहा था, अपितु आत्मा का अबंधस्वभाव ही था।

अबंध स्वभाव में अपनापन होने और उसमें ही उपयोग के स्थिर होने से तो संसार के बंधन भी समाप्त हो जाते हैं, कर्म की बेड़ियाँ भी टूट जाती हैं और आत्मा इस सांसारिक बंधन से मुक्त हो जाता है तो फिर जेल के इस बाह्य बंधन के बारे में क्या बात करें ?

आचार्यश्री तो विकार के बंधनों में से मुक्त होने के पुरुषार्थ में संलग्न थे। जेल के बंधन के बारे में उन्हें कुछ सोचने-समझने की फुरसत ही नहीं थी।

आचार्यश्री की निर्मल दृष्टि में तो बंधन की स्वीकृति पूर्वक बंधन से इन्कार था; पर यह निश्चयाभासी बंधन को तो स्वीकार नहीं करता और स्वयं को बंधन और मुक्ति से रहित मानकर स्वच्छन्द हो जाता है, निरुद्यमी हो जाता है, पुरुषार्थहीन हो जाता है, स्वाध्याय आदि सत् क्रियाओं से विरत हो जाता है।

आचार्यश्री के उक्त चिन्तन में ऐसा नहीं आया कि शरीर बंधा नहीं है, परन्तु ऐसा आया कि शरीर बंधन में है, पर मैं शरीर नहीं हूँ, इसलिए मैं अबंध हूँ।

स्वयं को अबंध मानकर वे जेल में से बाहर जाने का प्रयत्न नहीं करते; क्योंकि वे जानते हैं कि इस स्थिति में बाहर जाना संभव नहीं है; पर बात यह है कि उन्हें जाना ही नहीं है, वे तो अपने में हैं और उन्हें निरन्तर अपने में ही रहना है।

जिसे कहीं जाना ही न हो, उस पर बाहर नहीं जाने संबंधी प्रतिबंध का क्या अर्थ रह जाता है ? राजा कहे कि आप बाहर नहीं जा सकते; पर उन पर इसका कोई प्रभाव नहीं है; क्योंकि उन्हें बाहर जाना ही नहीं है।

बाहर है भी क्या, उनका तो सबकुछ उनके ही भीतर है, वे तो उसी में मग्न हैं, उन्हें बाहर आना-जाना अच्छा ही नहीं लगता। वे तो स्वयं में रहकर भी सबकुछ जान रहे हैं, देख रहे हैं और अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव में मग्न हैं।

निष्कर्ष के रूप में पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि जिनवाणी में अनेक प्रकार के नयों की अपेक्षा से विभिन्न प्रकार के कथन पाये जाते हैं; उनमें से अपनी रुचि के अनुसार निश्चयनय की मुख्यता से जो कथन किये गये हों, एकान्त से उन्हीं को पकड़ कर ये निश्चयाभासी लोग अपनी मिथ्या मान्यताओं का पोषण करते रहते हैं।

उनकी वृत्ति का चित्रण करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि जिनवाणी में तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता को मोक्षमार्ग कहा है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के लिए सात तत्त्वों का ज्ञान-श्रद्धान होना चाहिए और सम्यक्चारित्र के लिए रागादिक दूर करने का प्रयत्न होना चाहिए; इसके लिए न तो इनके तत्त्वविचार में प्रवृत्ति है और न रागादिक दूर करने का उद्यम दिखाई देता है। ये लोग तो एकमात्र अपने आत्मा के शुद्ध अनुभवन को ही मोक्षमार्ग मानकर संतुष्ट हैं।

आत्मानुभव की प्राप्ति के लिए अंतरंग में ऐसा चिन्तवन करते रहते हैं

कि **'मैं सिद्ध समान शुद्ध हूँ, केवलज्ञानादि से सहित हूँ, द्रव्यकर्म-नोकर्म से रहित हूँ, परमानन्दमय हूँ, जन्म-मरणादि दुखों से रहित हूँ।'**

उक्त मान्यतावाले निश्चयाभासियों के समक्ष पण्डित टोडरमलजी प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं। कहते हैं कि तुम्हारा यह चिन्तवन द्रव्य की अपेक्षा से किया गया चिन्तवन है या पर्याय की अपेक्षा से ?

यदि द्रव्य की अपेक्षा से कहते हो तो द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड है, तुम मात्र उसे शुद्ध ही अनुभव क्यों करते हो ?

यदि पर्याय अपेक्षा से चिन्तवन करते हो तो वर्तमान पर्याय तो अशुद्ध है, तुम शुद्ध कैसे मानते हो ?

यदि तुम अपने को सिद्धसमान मानते हो तो फिर यह संसार अवस्था किसकी है ?

यदि तुम केवलज्ञानी हो तो ये मतिज्ञानादिक किसके हैं ?

यदि तुम द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित हो तो तुमको ज्ञानादिक की व्यक्तता क्यों नहीं है ?

परमानन्दमय हो तो अब क्या करना है ?

जन्म-मरणादि दुखों से रहित हो तो दुखी क्यों हो ?

इस पर वे लोग कहते हैं कि यदि ऐसा है तो फिर शास्त्रों में शुद्ध आत्मा के चिन्तवन का उपदेश क्यों दिया है ?

इसके उत्तर में पण्डितजी कहते हैं कि शुद्धपना दो प्रकार का है १. द्रव्य अपेक्षा और २. पर्याय अपेक्षा।

द्रव्य अपेक्षा तो परद्रव्य से भिन्नता और अपने भावों से अभिन्नता का नाम ही शुद्धता है और **पर्याय अपेक्षा** औपाधिक भावों के अभाव होने का नाम शुद्धता है।

अपनी बात को पुष्ट करने के लिए उन्होंने समयसार गाथा ६ और गाथा ७३ की टीका में समागत जो पंक्तियाँ प्रस्तुत की हैं; वे इसप्रकार हैं

''एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते।

इसका अर्थ यह है कि आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नही है। सो यही समस्त परद्रव्यों के भावों से भिन्नपने द्वारा सेवन किया गया शुद्ध ऐसा कहा जाता है।

तथा वहीं ऐसा कहा है

समस्तकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः।

समस्त ही कर्ता, कर्म आदि कारकों के समूह की प्रक्रिया से पारंगत ऐसी निर्मल अनुभूति, जो अभेदज्ञान तन्मात्र है, उससे शुद्ध है। इसलिए ऐसा शुद्ध शब्द का अर्थ जानना।[१]''

इसीप्रकार केवल शब्द का अर्थ भी परभावों से भिन्न नि:केवल आप ही किया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चयनय से आत्मा को जो शुद्ध-बुद्ध कहा है; उसमें शुद्धता का अर्थ तो परपदार्थों से भिन्नता और कारकचक्र की प्रक्रिया से पार होना है और बुद्धता का अर्थ केवल अर्थात् मात्र ज्ञानस्वभावी है; किन्तु ये निश्चयाभासी लोग शुद्ध का अर्थ रागादि से रहित करते हैं और बुद्ध का अर्थ केवलज्ञानपर्याय से संयुक्त करते हैं। यह इनका अज्ञान है।

यही कारण है कि पण्डितजी अन्त में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि **वर्तमान में स्वयं को पर्याय अपेक्षा शुद्ध मानने और केवलज्ञानी मानने में महाविपरीतता है; इसलिए अपने को द्रव्य-पर्यायरूप अवलोकन करना।**

इसप्रकार के अवलोकन से सम्यग्दृष्टि होता है; क्योंकि सच्चा अवलोकन किये बिना सम्यग्दृष्टि नाम कैसे प्राप्त करें ?

निश्चयाभासी की प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है; द्रव्यादिक के तथा गुणस्थान, मार्गणा, त्रिलोकादि के विचार को विकल्प ठहराता है;

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ १९९ २. वही, पृष्ठ २००

तपश्चरण करने को वृथा क्लेश करना मानता है; व्रतादिक धारण करने को बन्ध में पड़ना ठहराता है; पूजनादि कार्यों को शुभास्रव जानकर हेय प्ररूपित करता है; इत्यादि सर्वसाधनों को उठाकर प्रमादी होकर परिणमित होता है।[१]''

निश्चयाभासी की उक्त प्रवृत्ति पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''यदि शास्त्राभ्यास निरर्थक हो तो मुनियों के भी तो ध्यान और अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं। ध्यान में उपयोग न लगे तब अध्ययन ही में उपयोग को लगाते हैं, बीच में अन्य स्थान में उपयोग लगाने योग्य नहीं हैं। तथा शास्त्राभ्यास द्वारा तत्त्वों को विशेष जानने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होता है।

तथा वहाँ जबतक उपयोग रहे, तबतक कषाय मन्द रहे और आगामी वीतरागभावों की वृद्धि हो; ऐसे कार्य को निरर्थक कैसे मानें?[२]''

उन्हीं में से कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करना तो ठीक है; पर अन्य शास्त्रों के अध्ययन में समय खराब करने से क्या लाभ है ?

उनसे कहते हैं कि यदि दृष्टि सही हो तो सभी जैनशास्त्र उपयोगी ही हैं। अध्यात्म शास्त्रों में जिस भगवान आत्मा का स्वरूप बताया गया है; सम्यग्दर्शन होने पर न केवल उसका ज्ञान हो जाता है, अपितु अनुभव भी हो जाता है। अत: अब तो ज्ञान की निर्मलता के लिए, कषायों को मंद रखने के लिए ही स्वाध्याय की आवश्यकता है।

अरे, भाई ! सम्पूर्ण जिनवाणी वीतरागी संतों आचार्य भगवन्तों द्वारा ही लिखी गयी है और उपाध्याय परमेष्ठी, मुनिराजों को चारों अनुयोगों में विभक्त संपूर्ण जिनवाणी का अध्ययन कराते हैं। यदि उनका स्वाध्याय करना निरर्थक होता तो फिर चारों अनुयोगों के शास्त्रों को आचार्यदेव

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २००
२. वही, पृष्ठ २००

क्यों लिखते और उपाध्याय परमेष्ठी उन्हें क्यों पढाते तथा साधुजन भी उनका अध्ययन क्यों करते ?

ये निश्चयाभासी उन आचार्य भगवंतों, उपाध्यायों और आत्मसाधना में रत सन्तों से भी बड़े अध्यात्मी हो गये हैं कि जिससे इन्हें अध्यात्मशास्त्रों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों का पढना-पढाना निरर्थक लगने लगा है।

ज्ञानी धर्मात्माओं को ज्ञानी-ध्यानी कहा जाता है; क्योंकि उनके जीवन में ज्ञान (स्वाध्याय) और ध्यान इन दो कार्यों की ही मुख्यता होती है। इनमें भी आत्मसाधनारत साधुओं के स्वाध्याय की अपेक्षा ध्यान की मुख्यता विशेष होती है और ज्ञानी गृहस्थों के ध्यान की अपेक्षा स्वाध्याय की मुख्यता रहती है; क्योंकि गृहस्थ की भूमिका में उपयोग अधिक समय तक आत्मध्यान में स्थिर नहीं रहता।

वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी प्रत्येक अंतर्मुहूर्त में आत्मा में डुबकी लगानेवाले मुनिराजों द्वारा ही सभी शास्त्र लिखे गये, लिखे जाते हैं और उपाध्यायों द्वारा पढाये जाते हैं; संतगण व व्रती ज्ञानी श्रावक पढते हैं। पर यह अनुभवहीन निश्चयाभासी सामान्य गृहस्थ होने पर भी अध्यात्म शास्त्रों को छोड़कर अन्य शास्त्रों के स्वाध्याय का निषेध करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यह निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि न केवल धार्मिक क्रियाकाण्ड का निषेध करता है, अपितु शास्त्राभ्यास का भी निषेध करता है। प्रमाद का पोषण करनेवाला यह आँख बन्द किये पड़ा रहता है और स्वयं को ज्ञानी-ध्यानी मानता है।

यद्यपि आत्मरुचि के पोषण के लिए अध्यात्म शास्त्रों का स्वाध्याय अत्यन्त उपयोगी है; तथापि अन्य शास्त्रों में अरुचि होना तो ठीक नहीं है। पण्डितजी तो यहाँ तक कहते हैं कि जिसे अन्य शास्त्रों की अरुचि है, उसे अध्यात्म की रुचि भी सच्ची नहीं है।

जब विषयासक्त पुरुषों को विषयासक्त पुरुषों की कथायें अच्छी लगती हैं; तब आत्मरुचि संपन्न पुरुषों को आत्मानुभवी तीर्थंकरादि महापुरुषों की कथाओं में अरुचि कैसे हो सकती है ?

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

टोडरमलजी तो यहाँ तक कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने के पहले और बाद में भी चारों अनुयोगों का अध्ययन तो उपयोगी है ही, साथ ही थोड़ा-बहुत न्याय-व्याकरणादिक का अध्ययन भी होना चाहिए; क्योंकि उसके बिना शास्त्रों का अर्थ खुलता नहीं है।

उक्त प्रकरण में पण्डितजी चारों अनुयोगों और थोड़ा-बहुत न्याय-व्याकरणादि पढने की आवश्यकता को अनेक युक्तियों से समझाते हैं।

जो लोग सम्पूर्ण जिनागम के स्वाध्याय को निरर्थक समझते हैं; उन्हें उक्त प्रकरण का गहराई से स्वाध्याय करना चाहिए।

पण्डित टोडरमलजी के नाम पर स्थापित श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में हमने उनके मार्गदर्शनानुसार ही पाठ्यक्रम सुनिश्चित किया है।

इस पर कोई कहता है कि आचार्य पद्मनन्दि ने पद्मनन्दि पंचविंशतिका में आत्मस्वरूप से निकलकर बाह्य शास्त्रों में विचरण करनेवाली बुद्धि को व्यभिचारिणी कहा है।

उत्तर में पण्डितजी शीलवती स्त्री का उदाहरण देते हुए कहते हैं

''यह सत्य ही कहा है; क्योंकि बुद्धि तो आत्मा की है, उसे छोड़ कर परद्रव्य अर्थात् शास्त्रों में अनुरागिनी हुई; अत: उसे व्यभिचारिणी कहा है।

परन्तु जैसे स्त्री शीलवती रहे तो योग्य ही है और न रहा जाय तब उत्तम पुरुष को छोड़कर चाण्डालादिक का सेवन करने से तो अत्यन्त निन्दनीय होगी; उसीप्रकार बुद्धि आत्मस्वरूप में प्रवर्ते तो योग्य ही है और न रहा जाये तो प्रशस्त शास्त्रादि परद्रव्यों को छोड़कर अप्रशस्त विषयादि में लगे तो महानिन्दनीय ही होगी।

सो मुनियों की भी स्वरूप में बहुत काल बुद्धि नहीं रहती, तो तेरी कैसे रहा करे ? इसलिए शास्त्राभ्यास में उपयोग लगाना योग्य है।[१]''

पण्डित टोडरमलजी की एक विशेषता यह है कि वे शंकाकार की बात में प्राप्त सत्यांश को स्वीकार करते हुए अत्यन्त वात्सल्य भाव से

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०१

अपरपक्ष को प्रस्तुत करके सम्पूर्ण सत्य को स्पष्ट कर देते हैं। यहाँ भी उन्होंने इसीप्रकार का प्रयोग किया है।

यहाँ पर उन्होंने आचार्य पद्मनन्दि के कथन को असत्य नहीं कहा, अपितु शीलवती महिला के उदाहरण से अपर पक्ष को समझाते हुए बड़ी ही चतुराई से सम्पूर्ण सत्य को स्थापित कर दिया।

उक्त उदाहरण का भाव यह है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना तो सर्वश्रेष्ठ है ही; किन्तु यदि यह संभव न हो और शादी करने का विकल्प आये तो कुलीन व्यक्ति से करना योग्य है, हीन कुलवालों से नहीं।

उक्त उदाहरण के माध्यम से पण्डितजी यह समझाना चाहते हैं कि आत्मानुभव में रहना तो सर्वश्रेष्ठ है ही; किन्तु **जब उपयोग आत्मानुभव में न रहे, तब अपने उपयोग को जिनवाणी के स्वाध्याय में लगाना चाहिए; क्योंकि पंचेन्द्रियों के विषयों में लगा उपयोग तो पापबंध का कारण है।**

अरे, भाई ! यहाँ यह थोड़े ही कहा जा रहा है कि आत्मानुभव छोड़कर जगत को जानों। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि जब उपयोग आत्मानुभव में न रहे, तब जिनागम के अध्ययन में उपयोग को लगाओ।

पण्डितजी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि जब मुनिराजों का उपयोग भी अधिक काल तक आत्मा में नहीं रहता; तब गृहस्थों का उपयोग अधिक काल तक आत्मा में कैसे रह सकता है ? अत: गृहस्थों को तो अध्ययन और ध्यान में अध्ययन की ही मुख्यता है।

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका में स्वाध्याय की महिमा का निरूपण करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''देखो ! शास्त्राभ्यास की महिमा ! जिसके होने पर जीव परम्परा से आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, जिससे मोक्षरूप फल प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं

१. क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है।

२. पंचेन्द्रियों के विषयों में होनेवाली प्रवृत्ति रुकती है।

३. अति चंचल मन भी एकाग्र होता है।

४. हिंसादि पाँच पाप नहीं होते।

५. स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल संबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है।

६. हेय-उपादेय की पहचान होती है।

७. आत्मज्ञान सन्मुख होता है। (ज्ञान आत्मसन्मुख होता है।)

८. अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है।

९. लोक में महिमा/यश विशेष होता है।

१०. सातिशय पुण्य का बंध होता है।

इतने गुण तो शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही प्रगट होते हैं, इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि पण्डितजी शास्त्र स्वाध्याय के माध्यम से तत्त्वनिर्णय करने पर बहुत जोर देते हैं। इस कलिकाल में एकमात्र जिनवाणी ही परमशरण है; क्योंकि सर्वज्ञ परमात्मा तो इस काल में यहाँ हैं ही नहीं; आत्मानुभवी गुरुओं की उपलब्धि भी सहज नहीं है।

यदि हमारे सद्भाग्य से ज्ञानीजनों का सत्समागम उपलब्ध भी हो जाय; तब भी वे हमें कितना समय दे पायेंगे; परन्तु जिनवाणी तो हमें सदा उपलब्ध है, सहज उपलब्ध है, यही कारण है कि प्रवचनसार में जिनवाणी को नित्यबोधक कहा है।

नित्यबोधक का भाव यह है कि वह आपको सदा उपलब्ध है। आप जब चाहें, तब पढ़ें; जहाँ चाहें, वहाँ पढ़ें। दिन में पढ़ें, रात में पढ़ें; मंदिर में पढ़ें, घर में पढ़ें; यात्रा में पढ़ें, बस में पढ़ें, रेल में पढ़ें, हवाई जहाज में पढ़ें; देश में पढ़ें, परदेश में पढ़ें; जहाँ भी संभव हो, जब भी समय मिले, तभी पढ़ें। अत: इस सुविधा का लाभ अवश्य उठाना चाहिए।

प्रवचनसार के चरणानुयोगसूचक चूलिका में समागत मोक्षमार्गप्रज्ञापन अधिकार में स्वाध्याय की उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

स्वाध्याय से अरुचि रखनेवालों को कम से कम उक्त प्रकरण का स्वाध्याय तो करना ही चाहिए। ●

१. गुणस्थान विवेचन, पृष्ठ २८

पन्द्रहवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में समागत निश्चयाभासी ग्रहीत मिथ्यादृष्टियों की चर्चा चल रही है। यद्यपि विगत दो प्रवचनों में हम निश्चयाभासियों के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं; तथापि अभी बात समाप्त नहीं हुई है।

ये निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि लोग जिनागम से अपरिचित लोग नहीं हैं। ये तो वे लोग हैं; जिन्होंने जिनागम का भरपूर स्वाध्याय किया है, परमागमरूप अध्यात्मशास्त्रों का भी स्वाध्याय किया है; फिर भी निश्चयनय के कथनों की सही अपेक्षाओं को न समझ पाने के कारण भ्रष्ट हो गये हैं, भटक गये हैं। इनका यह अज्ञान निश्चयनय के कथनों को आधार बनाकर प्रस्तुत हुआ है।

यह तो आप जानते ही हैं कि पण्डित टोडरमलजी ने इस मोक्षमार्ग-प्रकाशक ग्रंथ में अधिकांश आगमप्रमाण शंकाकार के मुख में रखे हैं।

जगत में अधिकांशत: तो ऐसा देखा जाता है कि प्रवक्ता या लेखक शंकाकारों का समाधान आगमप्रमाण प्रस्तुत करके करते हैं; पर यहाँ पण्डित टोडरमलजी का श्रोता या पाठक पढा-लिखा अध्ययनशील व्यक्ति है और जब कोई प्रश्न उपस्थित करता है तो साथ में आगमप्रमाण भी प्रस्तुत करता है। उसकी कमजोरी मात्र यह है कि वह नयज्ञान में पारंगत नहीं है; अत: विभिन्न स्थानों पर प्राप्त होनेवाले नयकथनों की सही अपेक्षा नहीं समझ पाता।

आगम को आधार बनाकर प्रस्तुत की गई उसकी शंकाओं का समाधान पण्डितजी अपेक्षाओं को स्पष्ट करके करते हैं। आचार्य अमृतचंद्र भी समयसार की आत्मख्याति टीका में इसीप्रकार के प्रयोग करते हैं।

जब समयसार की २६वीं गाथा में शिष्य यह कहता है कि यदि तुम देह और आत्मा को एक नहीं मानोगे तो फिर आचार्यों द्वारा देह के

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

आधार पर की गई तीर्थंकरों की स्तुति मिथ्या हो जावेगी; क्योंकि बड़े-बड़े आचार्यों द्वारा लिखे गये भक्तिकाव्यों में देह को आधार बनाकर स्तुति की गई है।

उसके उत्तर में आचार्य अमृतचंद्र सीधे यह कहते हैं

''नैवं, नयविभागानभिज्ञोऽसि ऐसा नहीं है, तुम नयविभाग से अनभिज्ञ हो, इसलिए ही ऐसी बात करते हो।

इसके बाद नयविभाग समझाकर वे अपनी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

'पण्डित टोडरमलजी का श्रोता या पाठक ही अधिकांश आगमप्रमाण प्रस्तुत करता है' इसका अर्थ यह नहीं है कि टोडरमलजी को आगम का अभ्यास नहीं था या उनके पास आगमप्रमाण नहीं थे।

अरे भाई ! श्रोता के मुख में रखे गये आगमप्रमाण भी तो उन्होंने ही प्रस्तुत किये हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक का शंकाकार भी वे हैं और समाधान कर्ता भी वे ही हैं।

उन्हें जैनागम और अन्य मतों के शास्त्रों का गहरा अभ्यास था। अन्य मत समीक्षा और जैनागम की प्राचीनता के संदर्भ में वे आगमप्रमाणों की झड़ी लगा देते हैं। पाँचवें-छठवें अधिकार में प्रस्तुत जैन और जैनेतर आगमों के उद्धरणों को देखकर लोगों के पैरों के नीचे से जमीन खिसकने लगती है।

उस जमाने में न तो जैन व जैनेतर मतों के ग्रन्थों की उपलब्धि सहज थी और न हस्तलिखित होने से, मुद्रित न होने से, उनकी पृष्ठ संख्या ही दी सकती थी।

पण्डित टोडरमलजी ने न केवल जैन व जैनेतर ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन किया था, अपितु उन्हें उनके महत्त्वपूर्ण अंश कण्ठस्थ थे।

पुराने जमाने में तो यह कहा जाता था कि **पुस्तक में स्थित ज्ञान और दूसरे के हाथ में गया हुआ धन समय पर काम नहीं आता। कण्ठ में स्थित विद्या और अपने हाथ में रखा हुआ धन ही समय पर काम आता है।**

जहाँ तक मुझे याद है, वह छन्द इसप्रकार है

पुस्तकस्था या विद्या परहस्ते गतं धनम्।
प्राप्त आपत्तिकाले तु न सा विद्या न तद्धनम्।।

पुस्तक में स्थित विद्या और दूसरे के हाथ में गया हुआ धन; आपत्ति काल आने पर न वह विद्या विद्या है और न वह धन धन है।

हिन्दी में भी ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि

कंठ की विद्या अंट का दाम, समय पड़े पर आवे काम।

यही कारण है कि पण्डित टोडरमलजी ने जो भी उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, वे लगभग सभी **'हनुमन्नाटक में कहा है कि'** इस भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं। कहीं-कहीं **'कहा भी है'** मात्र इतना ही कहा है।

उस जमाने में संस्कृत साहित्य में **'उक्तं चं'** कहकर उद्धरण प्रस्तुत करने की पद्धति प्रचलित थी। इसप्रकार के कथन में यह कुछ भी नहीं बताया जाता है कि किसने कहा है और कहाँ कहा है।

प्रचलित कथनों के संदर्भ में ही ऐसा कहा जाता था। आज भी यह परम्परा पूर्णत: लुप्त नहीं हुई है। अत्यन्त लोकप्रिय और प्रसिद्ध कथनों के संदर्भ में इसप्रकार के प्रयोग होते देखे जाते हैं। जैसे हम कह देते हैं कि

जे त्रिभुवन में जीव अनंत, सुख चाहें दुखतैं भयवन्त।

छहढाला में प्राप्त उक्त कथन से सभी मुमुक्षु भाई भलीभाँति परिचित हैं; अत: 'कहाँ कहा है, किसने कहा है' यह बताने की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पण्डित टोडरमलजी अलौकिक प्रतिभा के धनी तो थे ही, उनकी स्मरण शक्ति भी अद्भुत थी, अपार थी, अभिनंदनीय थी।

जो लोग पण्डित टोडरमलजी की आलोचना करते हैं, वे एक बार

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

देखें तो सही कि वे उनके ज्ञान के सामने कितने बोने हैं ?

आज के समान उस जमाने में शास्त्रों की उपलब्धि सहज नहीं थी। आज तो लगभग सभी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अत्यल्प मूल्य में सर्वत्र उपलब्ध हैं; पर उस जमाने में उन्हें लिखाना पड़ता था। शास्त्रों की प्रतिलिपि करना भी साधारण काम नहीं था; क्योंकि उसमें बार-बार सुधार करने की सुविधा नहीं रहती। लिखने वालों को भी संस्कृत-प्राकृत का जानकार होना चाहिए।

जो विशेषज्ञ विद्वान यह काम करते थे, उनकी आजीविका का एकमात्र यही साधन होता था; अत: उनका व उनके संपूर्ण परिवार का खर्च इसी पर अवलम्बित था। इसप्रकार एक-एक प्रति वेशकीमती होती थी।

सामान्य स्थिति के श्रावकों को अनेक शास्त्रों की प्रतियाँ उपलब्ध होना और उनके द्वारा उनका पढा जाना आसान काम न था।

वे सभी शास्त्र खुले पन्नों में ही होते थे। वेष्टन में आवेष्टित उन शास्त्रों को बार-बार खोलकर अपेक्षित आगम प्रमाणों की खोज करना आज जैसा आसान नहीं था। आज तो ग्रन्थ उठाया, सूची निकाली और फटाफट प्रमाण देख लिया। उस जमाने में तो ग्रन्थ के अध्ययनकाल में जो पढा; उसी के आधार पर प्रमाण (उद्धरण) दिये जाते थे।

मंदिरजी में सावधान मुद्रा में बैठकर उनका अध्ययन करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में सबकुछ स्मृति के आधार पर ही करना पड़ता था।

पण्डित टोडरमलजी द्वारा दिये गये उद्धरणों से पता चलता है कि न केवल जैनदर्शन, अपितु अन्य दर्शनों के भी अनेकानेक ग्रंथों का गंभीर अध्ययन उन्हें था। उनके द्वारा दिये गये प्रश्नोत्तरों में, उनकी प्रबल तर्कशक्ति प्रतिबिम्बित होती है।

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वे अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं, जिसमें उनका लोकनिरीक्षण प्रतिबिम्बित हुआ है। उनके उदाहरणों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति भी प्रतिबिम्बित हुई है।

कल के प्रवचन में निश्चयाभासी द्वारा शास्त्रों के स्वाध्याय करने को निरर्थक बताने के संबंध में विचार किया था। अब उसके आगे यह विचार

करते हैं कि वह निश्चयाभासी गुणस्थानादि के विचार को विकल्प में पड़ना कहकर निषेध करता है; वह कहाँ तक सत्य है ?

उक्त संदर्भ में पण्डितजी के विचार इसप्रकार हैं

''तथा यदि द्रव्यादिक के और गुणस्थानादिक के विचार को विकल्प ठहराता है, सो विकल्प तो हैं; परन्तु निर्विकल्प उपयोग न रहे, तब इन विकल्पों को न करे तो अन्य विकल्प होंगे, वे बहुत रागादि गर्भित होते हैं तथा निर्विकल्पदशा सदा रहती नहीं है; क्योंकि छद्मस्थ का उपयोग एकरूप उत्कृष्ट रहे तो अन्तर्मुहूर्त रहता है।[१]''

यहाँ भी पण्डित टोडरमलजी वही शैली अपनाते हैं। पहले तो **ठहराता** शब्द के माध्यम से प्रश्नचिन्ह खड़ा कर देते हैं। उनके इस ठहराने शब्द से पाठक समझ जाता है कि इसमें भी कुछ न कुछ गड़बड़ है। बाद में कहते हैं कि यह बात तो सत्य ही है कि गुणस्थानादिक के विचार विकल्प हैं।

गुणस्थानादि के विचारों के विकल्प होने में तो कोई मतभेद है ही नहीं; परन्तु मुद्दे की बात तो यह है कि निश्चयाभासी गुणस्थानादिक के विचारों को विकल्प कहकर उनका निषेध करता है। कहता है कि आत्मार्थी गृहस्थों को गुणस्थानादि के संबंध में कुछ सोचना भी नहीं चाहिए।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी का कहना यह है कि यद्यपि गुणस्थानादि संबंधी विचार भी विकल्प होने से आत्मानुभवन की अपेक्षा हेय हैं; तथापि स्थिति यह है कि गृहस्थावस्था में निर्विकल्पदशा या तो होती ही नहीं है और **ज्ञानी गृहस्थों के होती भी है तो उसका काल अत्यन्त अल्प होता है। अत: बुरे विकल्पों से बचने के लिए अच्छे विकल्पों का होना अनुपयोगी नहीं।**

यह तो सर्वविदित ही है कि मुनिराजों के भी निर्विकल्पदशा के काल से सविकल्पदशा का काल दुगुना होता है; **ज्ञानी गृहस्थों की निर्विकल्प दशा का काल तो बहुत सीमित है। ऐसी स्थिति में वस्तुव्यवस्था के अध्ययन, मनन, चिन्तन, घोलन में उपयोग नहीं लगायेगा तो फिर**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०१

विषय-कषाय के विकल्पों में तो बिना प्रयत्न के ही उपयोग लगेगा। इसलिए विषय-कषाय से बचने के लिए द्रव्यादिक एवं गुणस्थानादि के विचार में उपयोग का लगना अच्छा ही है।

स्वाध्याय में दोगुना लाभ है; क्योंकि ज्ञान की वृद्धि तो होती ही है, विषय-कषाय संबंधी विकल्पतरंगों से भी बचे रहते हैं।

शिष्य की ओर से स्वयं प्रश्न उपस्थित करते हुए पण्डितजी कहते हैं

''तथा तू कहेगा कि मैं आत्मस्वरूप का ही चिंतवन अनेक प्रकार किया करूँगा; सो सामान्य चिंतवन में तो अनेक प्रकार बनते नहीं हैं और विशेष करेगा तो द्रव्य-गुण-पर्याय, गुणस्थान, मार्गणा, शुद्ध-अशुद्ध अवस्था इत्यादि विचार होगा।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि द्रव्य-गुण-पर्याय, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि का चिन्तन ज्ञानी-अज्ञानी सभी गृहस्थों को अनावश्यक नहीं, उपयोगी ही है।

पण्डितजी की भाषा एकदम जीवन्त भाषा है; उसमें नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं। लिखने में भी वे ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं कि जैसे कोई सामने बैठा हो और किसी बात पर जिद कर रहा हो।

कहीं-कहीं **'तथा तू कहेगा कि'** ऐसा लिखकर मानो अभी उसने कुछ कहा ही नही है; फिर भी वह भविष्य में ऐसा कह सकता है इस संभावना के आधार पर वे अपनी बात प्रस्तुत करते हैं।

अन्त में पण्डितजी उसी जीवन्त भाषा में लिखते हैं कि

''और सुन, केवल आत्मज्ञान से ही मोक्षमार्ग होता नहीं है।

सात तत्त्वों का श्रद्धान-ज्ञान होने पर तथा रागादिक दूर करने पर मोक्षमार्ग होगा। सो सात तत्त्वों के विशेष जानने को जीव-अजीव के विशेष तथा कर्म के आस्रव-बन्धादिक के विशेष अवश्य जानने योग्य हैं, जिनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति हो।[२]''

देखो, टोडरमलजी के अलावा और कौन माई का लाल कह सकता है कि **केवल आत्मज्ञान से ही तो मोक्षमार्ग नहीं होता।**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०१ २. वही, पृष्ठ २०२

जो लोग अकेले आत्मज्ञान से ही मोक्षमार्ग मानते हैं; उन्हें पण्डित टोडरमलजी के उक्त शब्दों पर ध्यान देना चाहिए।

सात तत्त्वों के ज्ञान-श्रद्धान को आचार्य उमास्वामी सम्यग्दर्शन कहते हैं।[१] अत: सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए तत्त्वार्थों का जानना, उनके स्वरूप का गंभीर चिंतन-मनन करना अत्यन्त आवश्यक है। फिर भी यह निश्चयाभासी विकल्पोत्पादक कहकर उनकी उपेक्षा करता है।

अबतक निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि की शास्त्राभ्यास को निरर्थक बताना और गुणस्थान-मार्गणास्थान आदि के विचार को विकल्प ठहराना इन दो प्रवृत्तियों की चर्चा की।

अब तपश्चरणादि को वृथा क्लेश करना मानना और व्रतादिक धारण करने को बंधन में पड़ना ठहराने की प्रवृत्ति की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है

''तथा वह तपश्चरण को वृथा क्लेश ठहराता है; सो मोक्षमार्गी होने पर तो संसारी जीवों से उल्टी परिणति चाहिए।

संसारियों को इष्ट-अनिष्ट सामग्री से राग-द्वेष होता है, इसके राग-द्वेष नहीं होना चाहिए।

वहाँ राग छोड़ने के अर्थ इष्ट सामग्री भोजनादिक का त्यागी होता है और द्वेष छोड़ने के अर्थ अनिष्ट सामग्री अनशनादि को अंगीकार करता है। स्वाधीनरूप से ऐसा साधन हो तो पराधीन इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी राग-द्वेष न हो, सो होना तो ऐसा ही चाहिए; परन्तु तुझे अनशनादि से द्वेष हुआ, इसलिए उसे क्लेश ठहराया।

जब यह क्लेश हुआ, तब भोजन करना सुख स्वयमेव ठहरा और वहाँ राग आया, सो ऐसी परिणति तो सांसारियों के पाई ही जाती है, तूने मोक्षमार्गी होकर क्या किया ?

यदि तू कहेगा कितने ही सम्यग्दृष्टि भी तपश्चरण नहीं करते हैं?

उत्तर कारण विशेष से तप नहीं हो सकता, परन्तु श्रद्धान में तो तप को भला जानते हैं और उसके साधन का उद्यम रखते हैं।

१. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १, सूत्र २

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

तुझे तो श्रद्धान यह है कि तप करना क्लेश है तथा तप का तेरे उद्यम नहीं है, इसलिए तुझे सम्यग्दृष्टि कैसे हो ?[१]''

तुझे सम्यग्दृष्टि कैसे हो इस वाक्य खण्ड का अर्थ यह है कि ऐसी स्थिति में तेरी दृष्टि सम्यक् कैसे हो सकती है ?

उक्त कथन में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही गई है कि मोक्षमार्गी जीवों की परिणति तो संसारी जीवों की परिणति से उल्टी होना चाहिए; किन्तु इस निश्चयाभासी की परिणति में कोई सुधार दिखाई नहीं देता।

अपनी बात को पुष्ट करने के लिए शास्त्रों का सहारा लेता हुआ यह कहता है कि शास्त्रों में तो ऐसा लिखा है कि तप आदि में क्लेश करो तो करो, ज्ञान के बिना तो कुछ भी होनेवाला नहीं है।

अरे, भाई ! यह बात तो उन लोगों के लिए कही थी, जो लोग तत्त्वज्ञान से पराङ्मुख हैं, केवल तप से ही मुक्ति मानते हैं। उक्त कथन में **तत्त्वज्ञान होने पर रागादि से निवृत्तिरूप तप का निषेध तो है नहीं।**

यदि तप निरर्थक होता तो गणधरादि तप क्यों करते ?

इसीप्रकार व्रतादिक के संबंध में भी समझना चाहिए।

इस पर वह कहता है कि यदि परिणाम शुद्ध हैं तो फिर तप नहीं किया, व्रत नहीं लिये तो क्या फर्क पड़ता है ?

अरे, भाई ! हम ऐसा भी तो कह सकते हैं कि यदि परिणाम शुद्ध हैं तो फिर व्रत लेने और तप करने में क्या परेशानी है; क्योंकि परेशानी तो तब होती है, जब परिणाम शुद्ध न हों।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का कहना यह है कि

''यदि यह हिंसादि कार्य तेरे परिणाम बिना स्वयमेव होते हों तो हम ऐसा मानें और यदि तू अपने परिणाम से कार्य करता है तो वहाँ तेरे परिणाम शुद्ध कैसे कहें ? विषय-सेवनादि क्रिया अथवा प्रमादरूप गमनादि क्रिया परिणाम बिना कैसे हो ?

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०३

वह क्रिया तो स्वयं उद्यमी होकर तू करता है और वहाँ हिंसादिक होते हैं, उन्हें गिनता नहीं है, परिणाम शुद्ध मानता है।

सो ऐसी मान्यता से तेरे परिणाम अशुद्ध ही रहेंगे।

फिर वह कहता है परिणामों को रोकें, बाह्य हिंसादिक भी कम करें; परन्तु प्रतिज्ञा करने में बंधन होता है; इसलिए प्रतिज्ञारूप व्रत अंगीकार नहीं करना ?

जिस कार्य को करने की आशा रहे, उसकी प्रतिज्ञा नहीं लेते और जिसकी आशा रहे उससे राग रहता है। उस रागभाव से बिना कार्य किये भी अविरति से कर्मबंध होता रहता है; इसलिए प्रतिज्ञा अवश्य करने योग्य है तथा कार्य करने का बंधन हुए बिना परिणाम कैसे रुकेंगे?

प्रयोजन पड़ने पर तद्रूप परिणाम होंगे ही होंगे तथा बिना प्रयोजन पड़े उसकी आशा रहती है; इसलिए प्रतिज्ञा करना योग्य है।

फिर वह कहता है कि न जाने कैसा उदय आये और बाद में प्रतिज्ञा भंग हो, तो महापाप लगता है। इसलिए प्रारब्ध अनुसार कार्य बने सो बनो, प्रतिज्ञा का विकल्प नहीं करना ?

समाधान प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए जिसका निर्वाह होता न जाने, वह प्रतिज्ञा तो न करे; प्रतिज्ञा लेते समय ही यह अभिप्राय रहे कि प्रयोजन पड़ने पर छोड़ दूँगा तो वह प्रतिज्ञा क्या कार्यकारी हुई ?

प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए तो यह परिणाम है कि मरणान्त होने पर भी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ूँगा तो ऐसी प्रतिज्ञा करना युक्त ही है।

बिना प्रतिज्ञा किये अविरति संबंधी बंध नहीं मिटता।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि न तो ऐसी प्रतिज्ञायें लेना ही ठीक है कि जिनका निर्वाह संभव न हो और भविष्य की काल्पनिक आशंका के भय से प्रतिज्ञा नहीं लेना भी ठीक नहीं है।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी का संतुलित दृष्टिकोण इसप्रकार है

''तथा आगामी उदय के भय से प्रतिज्ञा न ली जाये, तो उदय को विचारने से सर्व ही कर्तव्य का नाश होता है। जैसे अपने को पचता

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०३-२०४

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

जाने उतना भोजन करे। कदाचित् किसी को भोजन से अजीर्ण हुआ हो, और उस भय से भोजन करना छोड़ दे तो मरण ही होगा।

उसीप्रकार अपने से निर्वाह होता जाने उतनी प्रतिज्ञा करे।

कदाचित् किसी के प्रतिज्ञा से भ्रष्टपना हुआ हो और उस भय से प्रतिज्ञा छोड़ दे तो असंयम ही होगा; इसलिए जो बन सके वह प्रतिज्ञा लेना योग्य है।[१]''

प्रतिज्ञा लेने और नहीं लेने के संदर्भ में पण्डितजी का मार्गदर्शन अत्यन्त स्पष्ट और संतुलित है। न तो वे किसी को प्रतिज्ञा लेने के लिए बाध्य करने को उचित मानते हैं और न प्रतिज्ञा नहीं लेने की बात को उचित समझते हैं। इसलिए जहाँ एक ओर सावधान करते हुए वे कहते हैं कि वर्तमान परिणामों के भरोसे प्रतिज्ञा ले लेना ठीक नहीं है, भविष्य के बारे में गंभीरता से सोच-समझकर प्रतिज्ञा लेना चाहिए; वहीं दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि भविष्य में प्रतिज्ञा भंग होने के अनावश्यक भय से प्रतिज्ञा लेना ही नहीं यह भी ठीक नहीं है।

तात्पर्य यह है कि पूरी गंभीरता से सोच-समझकर प्रतिज्ञा लेना और उसे पूरी दृढता से पालना यह ही समझदारी का काम है।

शास्त्राभ्यास को निरर्थक मानना, गुणस्थानादि के विचार को विकल्प ठहराना, तपश्चरण को क्लेशरूप मानना और व्रतादिक धारण करने को बंधन में पड़ना मानना; निश्चयाभासी गृहीतमिथ्यादृष्टि की उक्त चार प्रकार की मान्यताओं की चर्चा के उपरांत अब पूजनादि कार्यों को शुभास्रव जानकर हेय कहने रूप प्रवृत्ति की चर्चा करते हैं।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का कहना यह है

''तथा वह पूजनादि कार्य को शुभास्रव जानकर हेय मानता है, सो यह सत्य ही है, परन्तु; यदि इन कार्यों को छोड़कर शुद्धोपयोगरूप हो तो भला ही है और विषय-कषायरूप-अशुभरूप प्रवर्ते तो अपना बुरा ही किया।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०४

शुभोपयोग से स्वर्गादि हों अथवा भली वासना से या भले निमित्त से कर्म के स्थिति अनुभाग घट जायें तो सम्यक्त्वादि की भी प्राप्ति हो जाये और अशुभोपयोग से नरक-निगोदादि हों अथवा बुरी वासना से या बुरे निमित्त से कर्म के स्थिति अनुभाग बढ जायें तो सम्यक्त्वादिक महादुर्लभ हो जायें।

तथा शुभोपयोग होने से कषाय मंद होती है और अशुभोपयोग होने से तीव्र होती है; सो मंदकषाय का कार्य छोड़कर तीव्र कषाय का कार्य करना तो ऐसा है जैसे कड़वी वस्तु न खाना और विष खाना।

सो यह अज्ञानता है।[१]''

उक्त कथन का आशय यह है कि पूजनादि कार्य और तत्संबंधी शुभ भाव लड्डू खाने जैसे नहीं हैं; कड़वी वस्तु खाने के समान है; परन्तु जहर खाने से तो अच्छे ही हैं।

यदि कड़वी वस्तु खाने से जहर खाने से बच जाते हैं तो कड़वी वस्तु खाना घाटे का काम नहीं है।

इसीप्रकार पूजनादि शुभ कार्यों और तत्संबंधी शुभभावों से विषय-कषायादिरूप अशुभ क्रियाओं और तत्संबंधी अशुभभावों से बच जाते हैं तो यह भी घाटे का काम नहीं है; समझदारी की ही बात है।

उक्त संदर्भ में हमसे भी अनेक लोग कहते हैं कि आप भी तो पूजा-पाठ की कम आलोचना नहीं करते।

अरे, भाई ! हम पूजा-पाठ की आलोचना नहीं करते; उसमें आई हुई विकृतियों को उजागर करते हैं। भगवान की पूजा-भक्ति तो उनमें विद्यमान गुणों के प्रति अनुराग को कहते हैं।

कहा भी है ''**अर्हदादि गुणानुरागो भक्तिः**[२] **अरहंत आदि के गुणों में अनुराग को भक्ति कहते हैं।**''

अरे, भाई ! हम भगवान की भक्ति का नहीं, भक्ति के नाम पर

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०५
२. भगवती आराधना, गाथा ४६ की विजयोदया टीका

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

होनेवाले नाच-गाने का निषेध करते हैं; नाच-गाने का भी नहीं, अमर्यादित उछलने-कूदने का निषेध करते हैं।

इस संबंध में विशेष चर्चा आगे चलकर व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि की चर्चा के समय होगी।

इसप्रकार अनेक प्रकार से समझाने पर भी जब उसका समाधान नहीं होता तो फिर शास्त्रों का सहारा लेते हुए वह कहता है कि अध्यात्मशास्त्रों में तो शुभ-अशुभ भावों को समान ही कहा है; अत: हम दोनों को समानरूप से ही हेय मानते हैं। यही कारण है कि हम पाप के समान ही पुण्यभाव को भी छोड़ना चाहते हैं।

अरे, भाई ! जो लोग शुद्धोपयोग को तो पहिचानते नहीं और शुभोपयोग को मोक्ष का कारण मानकर उपादेय मानते हैं; उन्हें समझाने के लिए यह बताया है कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के भाव अशुद्धभाव हैं, बंध के कारण हैं; अत: समान ही हैं।

यद्यपि यह बात परमसत्य है; तथापि अशुभ भावों से पापबंध और शुभ भावों से पुण्यबंध होता है। इतना अन्तर तो दोनों में है ही।

प्रस्तुत कथन का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''ज्ञानी किंचित्मात्र भी कषायरूप कार्य नहीं करना चाहता; परन्तु जहाँ बहुत कषायरूप अशुभ कार्य होता जाने, वहाँ इच्छा करके अल्प कषायरूप शुभ कार्य करने का उद्यम करता है।[१]''

वस्तुस्थिति यह है कि अज्ञान अवस्था में तो शुद्धोपयोग होता ही नहीं; ज्ञानावस्था में भी शुद्धोपयोग का काल अत्यल्प होता है।

ऐसी स्थिति में यदि शास्त्राभ्यास नहीं करेगा; गुणस्थानादि का विचार भी नहीं करेगा, व्रत भी नहीं लेगा, तप भी नहीं करेगा और भक्ति-पूजन भी नहीं करेगा तो फिर करेगा क्या ? विषय-कषायादिक में ही प्रवर्तेगा, धंधा-पानी में ही लगा रहेगा, इसप्रकार निरन्तर अशुभ में ही रहेगा तो

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०६

पापबंध ही करेगा। यदि यह शुभ और अशुभ कुछ भी नहीं करेगा तो प्रमाद में पड़ा रहेगा। प्रमाद में पड़ा रहना भी तो अशुभ ही है।

हमने ऐसे बहुत से निश्चयाभासियों को देखा है कि जिनके विषय-कषाय की प्रवृत्तियों में तो कोई कमी नहीं आई, पर शुभ को हेय मानकर धार्मिक प्रवृत्तियों में तो चित्त नहीं लगाते और प्रात: से ही चाय-पानी, खाने-पीने और धंधे में लग जाते हैं, लगे रहते हैं।

जब उनसे कहते हैं कि शुभभाव से धर्म नहीं है, इसलिए तुम उनसे विरक्त हो; पर अशुभभावों में कौन सा धर्म है ? जो दिन-रात उसी में रचे-पचे रहते हो, तो उनका उत्तर होता है कि कामादिक और भूख-प्यास मिटाने के लिए अशुभ प्रवृत्ति तो सहज होती है, करनी ही पड़ती है; पर शुभप्रवृत्ति इच्छा पूर्वक करनी पड़ती है, परन्तु ज्ञानीजनों की दृष्टि में इच्छा अच्छी नहीं है; अत: शुभ का उद्यम करना ठीक नहीं है।

अरे, भाई ! शास्त्राभ्यास आदि शुभ प्रवृत्ति से ज्ञान लाभ के साथ-साथ अशुभ के भी बचाव होता है; अत: भले ही पुण्यलाभ के लिए शुभभाव न करें; पर **अशुभ से बचने के लिए तो शुभोपयोग में प्रवृत्ति होना योग्य ही है।**

इसप्रकार इस चर्चा समापन करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''इसप्रकार अनेक व्यवहारकार्यों का उत्थापन करके जो स्वच्छन्दपने को स्थापित करता है, उसका निषेध किया।[१]''

देखो, पण्डितजी ने एक ही वाक्य में उक्त प्रकरण से संबंधित संपूर्ण चर्चा का निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिया।

संपूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि लोग स्वाध्याय करना, तत्त्वविचार करना, व्रतादिक का पालना, अनशनादि करना और पूजा-पाठ करने का तो उत्थापन करते हैं और स्वच्छन्दपने को स्थापित करते हैं; पर यह ठीक नहीं है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०६

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

होना तो यह चाहिए कि अशुभ से बचने के लिए पहले शुभ में लगें फिर शुभ को छोड़कर शुद्धभाव को प्राप्त करें। राजमार्ग तो यही है।

आजकल ऐसी प्रवृत्ति चल रही है कि स्वाध्याय करनेवालों, जिनागम का पठन-पाठन करनेवालों, बच्चों में धार्मिक संस्कार डालनेवालों, उन्हें जैन तत्त्वज्ञान से परिचित करानेवालों, शिविरों के माध्यम से जैनतत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के प्रयास में लगे लोगों को तो ये निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि लोग प्रवृत्ति में पड़ा मानते हैं, कहते हैं; उनके प्रति समाज में अरुचि पैदा करते हैं, उन्हें मान को चाहनेवाले कहते हैं; विविध प्रकार से उनकी आलोचना करते हैं, निन्दा करते हैं और इन सबसे विरक्त प्रमाद में पड़े, खाने-पीने में मस्त और आराम की जिंदगी जीनेवाले ये लोग स्वयं को धर्मात्मा समझते हैं, आत्मानुभवी मानकर अभिमान के शिखर पर आरूढ हैं, किसी को कुछ समझते ही नहीं हैं।

अरे, भाई ! यदि किसी ने दस-बीस बच्चों के गले में णमोकार मंत्र डाल दिया; चार मंगल, चार उत्तम और चार शरण समझा दिये; भगवान महावीर के जीवन से परिचित करा दिया तो कौनसा पाप कर दिया ? यदि गाँव-गाँव में पाठशालायें खुलवा दीं, स्वाध्याय की प्रवृत्ति चला दी तो भी कौन सा पाप कर दिया ?

अरे, भाई ! यदि हमें यह तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है तो हमारा यह कर्तव्य है कि अपने कल्याण के साथ-साथ अन्य जीवों के कल्याण के लिए, उसे जन-जन तक पहुँचाने का कार्य अपनी शक्ति के अनुसार अवश्य करें।

यदि पूर्व ज्ञानियों ने ऐसा नहीं किया होता तो यह तत्त्वज्ञान हम-तुम तक भी कैसे पहुँचता ? **अपने गुरु को सच्ची गुरुदक्षिणा तो यही है कि हम उनसे प्राप्त तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य करें।**

यही कारण है कि पण्डित टोडरमलजी ने अत्यन्त करुणाभाव से पूरे संतुलन के साथ निश्चयाभासी की उक्त प्रवृत्तियों का निषेध किया है। ●

सोलहवाँ प्रवचन

यह मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र है। इसका सातवाँ अधिकार चल रहा है। सातवें अधिकार में समागत निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि का प्रकरण चल रहा। यद्यपि उक्त प्रकरण पर विगत तीन प्रवचनों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है; तथापि अभी भी कुछ अत्यन्त उपयोगी और अति आवश्यक चर्चा करना अपेक्षित है।

निश्चयाभासी की प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''एक शुद्धात्मा को जानने से ज्ञानी हो जाते हैं, अन्य कुछ भी नहीं चाहिए ऐसा जानकर कभी एकान्त में बैठकर ध्यानमुद्रा धारण करके 'मैं सर्व कर्मोपाधिरहित सिद्ध समान आत्मा हूँ' इत्यादि विचार से संतुष्ट होता है; परन्तु यह विशेषण किसप्रकार सम्भव हैं ऐसा विचार नहीं है। अथवा अचल, अखण्ड, अनुपमादि विशेषण द्वारा आत्मा को ध्याता है; सो यह विशेषण अन्य द्रव्यों में भी संभवित हैं। तथा यह विशेषण किस अपेक्षा से हैं सो विचार नहीं है।

तथा कदाचित् सोते-बैठते जिस-तिस अवस्था में ऐसा विचार रखकर अपने को ज्ञानी मानता है।

तथा ज्ञानी के आस्रव-बंध नहीं है ऐसा आगम में कहा है; इसलिए कदाचित् विषय-कषायरूप होता है, वहाँ बन्ध होने का भय नहीं है, स्वच्छन्द हुआ रागादिरूप प्रवर्तता है।[१]''

इसके चित्त में ऐसा जम गया है कि मैं कर्मोपाधि रहित सिद्ध समान शुद्ध हूँ, अचल हूँ, अखण्ड, अनुपम हूँ; इसकारण ध्यानमुद्रा में बैठकर ऐसे ही विकल्प किया करता है; परन्तु यह इन विशेषणों का वास्तविक अर्थ क्या है, ये कथन किस नय के हैं, इन कथनों का प्रयोजन क्या है ? इन बातों का विचार नहीं करता।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०६

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

द्रव्यार्थिकनय के भेदों में यदि एक कर्मोपाधिनिरपेक्षद्रव्यार्थिकनय है तो एक कर्मोपाधिसापेक्षद्रव्यार्थिकनय भी है तथा अचल, अखण्ड, अनुपम तो आकाशादि द्रव्य भी हैं।

बस, यह तो यह मानकर बैठ गया है कि एक शुद्धात्मा को जानने से ही ज्ञानी हो जाते हैं। अत: यह अन्य तत्त्वों के बारे में कुछ सोचना ही नहीं चाहता। **'ज्ञानी के आस्रव बंध नहीं होते'** आगम में समागत उक्त कथन के आधार पर निर्भय होकर कषाय करता है, स्वच्छन्द होकर रागादि में प्रवर्तता है।

ऐसे जीव को समझाते हुए पण्डितजी कहते हैं कि स्व-पर को जानने का चिन्ह तो वैराग्यभाव है। समयसार में भी कहा है कि सम्यग्दृष्टियों को तो नियम से ज्ञान-वैराग्य शक्ति होती है।[१] किन्तु इस निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि जीव की स्थिति का चित्रण आत्मख्याति में समागत १३७वें कलश में किया गया है; जिसका हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है

(हरिगीत)

मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ हूँ बंध से विरहित सदा।
यह मानकर अभिमान में पुलकित वदन मस्तक उठा।।
जो समिति आलंबें महाव्रत आचरें पर पापमय।
दिग्मूढ़ जीवों का अरे जीवन नहीं अध्यात्ममय।।१३७।।

'यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बंध नहीं होता; क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं होता' ऐसा मानकर जिनका मुख ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे रागी (मिथ्यात्वसहित रागवाले) जीव भले ही महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलंबन करें; तथापि वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं; क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जब इसके रागादिभाव होने का विषाद नहीं है, उनके नाश का उपाय भी नहीं है, तो फिर इसके रागादि बुरे हैं

१. **सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्ति।** समयसार कलश १३६

ऐसा श्रद्धान भी कैसे होगा ?

अपने बचाव में जब वह कहता है कि भरत चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे; फिर भी उनके रागादि भाव थे तो उसका उत्तर देते हुए पण्डितजी कहते हैं कि **ज्ञानी के भी मोह के उदय से रागादि होते हैं यह सत्य है; परन्तु उनके बुद्धिपूर्वक रागादि नहीं होते। इसका विशेष वर्णन आगे करेंगे।...**

तथा भरतादिक सम्यग्दृष्टियों के विषय-कषायों की प्रवृत्ति जिस प्रकार होती है, वह भी विशेषरूप से आगे कहेंगे; पर अभी तू इतना समझ ले कि यदि तू उनके उदाहरण से स्वच्छन्द होगा तो तुझे तीव्र आस्रव-बंध होगा।[१]

पण्डित टोडरमलजी के उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि उनके चित्त में सम्यग्दृष्टि के राग-वैराग्यमय जीवन पर विशेष प्रकाश डालने का विकल्प था, जो पूरा न हो सका। इसप्रकार के विकल्प मुझे भी आते रहे हैं, पर अभी तक तो कुछ हो नहीं पाया।

चक्रवर्ती भरत के जीवन पर मैंने छोटी-छोटी दो कहानियाँ अवश्य लिखी हैं; जिनमें उक्त कथन की कुछ-कुछ झलक देखी जा सकती है।[२]

'मैं कौन हूँ?' नामक कृति में समागत 'आत्मानुभवी पुरुष की अन्तर्बाह्यदशा' नामक निबंध में भी ज्ञानी की परिणति के बारे में बहुत कुछ स्पष्ट किया है।

अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''इसलिए रागादिक को बुरे-अहितकारी जानकर उनके नाश के अर्थ उद्यम रखना।

वहाँ अनुक्रम से पहले तीव्र रागादि छोड़ने के अर्थ अशुभ कार्य छोड़कर शुभ में लगना, और पश्चात् मन्दरागादि भी छोड़ने के अर्थ शुभ को भी छोड़कर शुद्धोपयोगरूप में होना।[३]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०७
२. ये कहानियाँ लेखक की अन्य कृति 'आप कुछ भी कहो' में प्रकाशित हैं।
३. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०८

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

तात्पर्य यह है कि छोड़ना तो शुभ और अशुभ दोनों भावों को ही है; किन्तु पहले अशुभ को छोड़कर शुभ में आना और फिर शुभ को भी छोड़कर शुद्ध में जाना ऐसा क्रम है।

अभी तक तो उन लोगों की बात थी, जो शुभभावरूप धर्म कार्यों से विरक्त हैं; पर अशुभभावरूप व्यापारादि कार्यों में संलग्न हैं।

अब उन लोगों की बात करते हैं; जिन्होंने व्यापारादि गृहकार्य भी छोड़ दिये हैं और शुभ से तो विरक्त हैं ही

''तथा कितने ही जीव अशुभ में क्लेश मानकर व्यापारादि कार्य व स्त्री-सेवनादि कार्यों को भी घटाते हैं तथा शुभ को हेय जानकर शास्त्राभ्यासादि कार्यों में नहीं प्रवर्तते हैं, वीतरागभावरूप शुद्धोपयोग को प्राप्त हुए नहीं हैं; इसलिए वे जीव अर्थ, काम, धर्म, मोक्षरूप पुरुषार्थ से रहित होते हुए आलसी-निरूद्यमी होते हैं।

उनकी निन्दा पंचास्तिकाय[१] की व्याख्या में की है। उनके लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे बहुत खीर-शक्कर खाकर पुरुष आलसी होता है व जैसे वृक्ष निरुद्यमी हैं; वैसे वे जीव आलसी-निरुद्यमी हुए हैं।''

यद्यपि पण्डितजी के उक्त कथन में सबकुछ स्पष्ट ही है; इसमें कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है; तथापि मैंने ऐसे लोगों को प्रत्यक्ष देखा है, जिन पर उक्त कथन हूबहू लागू होता है।

ऐसे लोगों में एकप्रकार के लोग तो वे होते हैं; जिनके पास बाप-दादों की अपार दौलत है और दूसरे प्रकार के वे लोग होते हैं, जो दूसरों पर अपना सम्पूर्ण भार डालकर निश्चिन्त रहते हैं।

दोनों ही प्रकार के लोग स्वच्छन्द, आलसी और निरुद्यमी होते हैं और ऐसी ही स्थिति को धर्मदशा मान लेते हैं।

खाओ, पिओ, मौज करो, घूमो-फिरो; कहीं कोई मर्यादा नहीं इसप्रकार की प्रवृत्ति का नाम ही स्वच्छन्दता है। **प्रमाद में पड़े रहने का नाम आलसीपन है और कुछ करना ही नहीं ऐसी दशा का नाम निरुद्यमीपना है।**

१. गाथा १७२ की टीका में

प्रश्न : आलसी और स्वच्छन्दी ये दोनों दोष परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में ये दोनों दोष एक व्यक्ति में कैसे हो सकते हैं?

उत्तर : इनकी स्वच्छन्दता तो पंचेन्द्रिय विषयों (भोगों) के संदर्भ में देखी जाती है और प्रमाद अर्थात् आलस स्वाध्याय, तत्त्वचिन्तन, व्रतादि पालन में देखा जाता है। ये लोग भोगों में सक्रिय और आत्मानुभूति संबंधी पुरुषार्थ में आलसी होते हैं।

आत्मध्यान तो बहुत दूर, ये लोग स्वाध्यायादि प्रवृत्ति से भी विरक्त रहते हैं, प्रमाद सहित काल गंवाते हैं। आँखें बन्द कर बैठ जाते हैं। इसी को ध्यान (शुद्धोपयोग) समझते हैं और थकान के अभाव में जो आराम महसूस होता है, उसे अतीन्द्रिय आनन्द मानकर संतुष्ट हो जाते हैं।

जब ये लोग कुछ करते ही नहीं हैं, करना भी नहीं चाहते तो फिर थकान क्यों होगी? जो चाहें, जब चाहें, जैसा चाहें; भक्ष्य-अभक्ष्य सभी कुछ खायें-पियें और निश्चिन्त होकर मस्त पड़े रहें तो फिर थकान होगी कैसे ? आराम तो महसूस होगा ही। ये लोग उसी आराम को अतीन्द्रिय आनन्द मान लेते हैं।

ऐसे अनर्गल आचरण को धर्म माने तो फिर कुगति ही होगी।

इन आलसी लोगों की चित्तवृत्ति कुछ इसप्रकार की होती है

अजगर करे न चाकरी, पंक्षी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।।

ऐसे लोगों के लिए कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने लिखा है

आलस निरुद्दिम की भूमिका मिथ्यात्व मांहि,
जहां न संभारै जीव मोह नींद सैन में।।[१]

जहाँ अज्ञानी जीव मोहनींद में ही सोते रहते हैं और स्वयं को संभालते नहीं हैं, आत्मा को जानने का प्रयास भी नहीं करते, ऐसी स्वाध्याय आदि प्रवृत्ति में उत्साह के अभावरूप आलस और उद्यम के अभावरूप दशा निश्चयाभासरूप अगृहीत मिथ्यात्व की भूमिका में ही होती है।

१. नाटक समयसार, बंधद्वार, छंद ६

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

मुझे वैराग्य हो गया है, मैंने महीनों से घरवालों से, बच्चों से बात तक नहीं की। वे आते हैं तो उनसे बात भी नहीं करता हूँ, आँखें बंद कर बैठ जाता हूँ। ऐसी प्रवृत्ति करके ये लोग स्वयं को वैरागी मान लेते हैं।

ऐसे लोगों को धंधे-पानी पर जाने की आकुलता नहीं है; कभी पपड़ी, कभी सुकड़ी, कभी गाँठिया बदल-बदल कर खाते रहते हैं और स्वयं को अनाकुल मानकर मन ही मन खुश होते रहते हैं।

ऐसे लोगों की स्थिति और प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''जैसे कोई स्वप्न में अपने को राजा मानकर सुखी हो; उसीप्रकार अपने को भ्रम से सिद्ध समान शुद्ध मानकर स्वयं ही आनंदित होता है, अथवा जैसे कहीं रति मानकर सुखी होता है; उसीप्रकार कुछ विचार करने में रति मानकर सुखी होता है, उसे अनुभवजनित आनन्द कहता है तथा जैसे कहीं अरति मानकर उदास होता है; उसीप्रकार व्यापारादिक, पुत्रादिक को खेद का कारण जानकर उनसे उदास रहता है और उसे वैराग्य मानता है सो ऐसा ज्ञान-वैराग्य तो कषायगर्भित है।

वीतरागरूप उदासीन दशा में जो निराकुलता होती है, वह सच्चा आनन्द, ज्ञान, वैराग्य ज्ञानी जीवों के चारित्रमोह की हीनता होने पर प्रगट होता है।

तथा वह व्यापारादिक क्लेश छोड़कर यथेष्ट भोजनादि द्वारा सुखी हुआ प्रवर्तता है और वहाँ अपने को कषायरहित मानता है; परन्तु इसप्रकार आनन्दरूप होने से तो रौद्रध्यान होता है।

जहाँ सुख सामग्री को छोड़कर दु:खसामग्री का संयोग होने पर संक्लेश न हो, राग-द्वेष उत्पन्न न हो; तब नि:कषायभाव होता है।

ऐसी भ्रमरूप उनकी प्रवृत्ति पायी जाती है।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन लोगों को न तो अतीन्द्रिय आनन्द की खबर है, न इनकी उदासीनता ही सच्ची है और न इन्हें ज्ञान-वैराग्य है, है तो भी कषायगर्भित है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०८-२०९

इनका यह विषयानन्द रौद्रध्यानरूप है; क्योंकि वास्तविक ज्ञान-वैराग्य तो आत्मा के आश्रय से होते हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और आंशिक वीतरागता होने पर, प्रगट होने पर ही प्रगट होते हैं।

ऐसे लोगों के समक्ष प्रश्न उपस्थित करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''अब उनसे पूछते हैं कि तुमने बाह्य तो शुभ-अशुभ कार्यों को घटाया, परन्तु उपयोग तो बिना आलम्बन के रहता नहीं है; तो तुम्हारा उपयोग कहाँ रहता है ? सो कहो।

यदि वह कहे कि आत्मा का चिंतवन करता है, तो शास्त्रादि द्वारा अनेकप्रकार से आत्मा के विचार को तुमने विकल्प ठहराया और आत्मा का कोई विशेषण जानने में बहुत काल लगता नहीं है, बारम्बार एकरूप चिंतवन में छद्मस्थ का उपयोग लगता नहीं है, गणधरादिक का भी उपयोग इसप्रकार नहीं रह सकता, इसलिए वे भी शास्त्रादि कार्यों में प्रवर्तते हैं, तेरा उपयोग गणधरादिक से भी कैसे शुद्ध हुआ मानें ? इसलिए तेरा कहना प्रमाण नहीं है।[१]''

देखो ! जब एक आत्मा में गणधरादि का उपयोग भी अधिक काल नहीं रहता; तब इसका उपयोग निरंतर एक आत्मा में ही कैसे रह सकता है?

यदि उपयोग लगातार एक अंतर्मुहूर्त तक आत्मा में ही ठहर जावे तो केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है; पर यह कहता है कि मैं तो निरंतर एक आत्मा का ध्यान ही करता रहता हूँ। यदि ऐसी स्थिति है तो फिर उसे केवलज्ञान तो बहुत दूर, आत्मज्ञान भी क्यों नहीं हुआ ?

इसप्रकार उसके कथन को अप्रमाणिक सिद्ध करते हुए पण्डित टोडरमलजी उनकी वास्तविक स्थिति का चित्रण इसप्रकार करते हैं

''जैसे कोई व्यापारादि में निरुद्यमी होकर निठल्ला जैसे-तैसे काल गंवाता है; उसीप्रकार तू धर्म में निरुद्यमी होकर प्रमाद सहित यों ही काल गंवाता है। कभी कुछ चिंतवनसा करता है, कभी बातें बनाता है, कभी भोजनादि करता है; परन्तु अपना उपयोग निर्मल करने के

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०८

लिए शास्त्राभ्यास, तपश्चरण, भक्ति आदि कर्मों में नहीं प्रवर्तता। सूना-सा होकर प्रमादी होने का नाम शुद्धोपयोग ठहराता है।

वहाँ क्लेश थोड़ा होने से जैसे कोई आलसी बनकर पड़े रहने में सुख माने वैसे आनन्द मानता है।[१]''

पण्डितजी के उक्त कथन से निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि की स्थिति पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है।

ये लोग ऐसा मानते हैं कि अकेले शुद्धात्मा के चिंतन से संवर-निर्जरा होते हैं व मुक्तात्मा के सुख का अंश प्रगट होता है; जीव के गुणस्थानादि अशुद्ध भावों का और अपने से भिन्न जीवादि तथा पुद्गलादि पदार्थों का चिन्तवन करने से आस्रव-बंध होता है। यही कारण है कि ये लोग आत्मा को छोड़कर अन्य विचारों से पराङ्गमुख रहते हैं।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी का कहना यह है कि चाहे निज शुद्धात्मा का चिन्तवन करो या अन्य पदार्थों का चिन्तवन करो; यदि वह चिन्तवन वीतरागभाव सहित है तो संवर-निर्जरा होते ही हैं और रागादिरूप भाव हों तो आस्रवबंध ही होता है।

उक्त बात की पुष्टि करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि यदि परद्रव्य को जानने से ही आस्रव-बंध होते होते तो फिर केवली भगवान तो समस्त परद्रव्यों को जानते हैं; अत: उनके भी आस्रव-बंध होना चाहिए।

आगे की बात पण्डितजी के शब्दों में देखिये

''फिर वह कहता है कि छद्मस्थ के तो परद्रव्य चिंतवन से आस्रव-बंध होता है ? सो भी नहीं है; क्योंकि शुक्लध्यान में भी मुनियों को छहों द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्यायों का चिंतवन होने का निरूपण किया है और अवधि-मन:पर्यय आदि में परद्रव्य को जानने की ही विशेषता होती है। तथा चौथे गुणस्थान में कोई अपने स्वरूप का चिंतवन करता है और उसके भी आस्रव-बंध अधिक हैं तथा गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है; पाँचवें-छठवें गुणस्थान में आहार-विहारादि क्रिया होने पर परद्रव्य

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०९

चिंतवन से भी आस्रव-बंध थोड़ा है और गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है। इसलिए स्वद्रव्य-परद्रव्य के चिंतवन से निर्जरा-बंध नहीं होते, रागादि घटने से निर्जरा है और रागादि होने से बंध है। उसे रागादि के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसलिए अन्यथा मानता है।[१]''

जो लोग पर को जानने का निषेध करते हैं या फिर पर को जानने से बंध होता है ऐसा मानते हैं; उन लोगों को पण्डित टोडरमलजी के उक्त कथन पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो निर्विकल्प अनुभवदशा में नय-प्रमाण-निक्षेपादिक के विकल्पों का निषेध क्यों किया गया है ?

उत्तर : जो जीव इन्हीं विकल्पों में उलझे रहते हैं और अभेदरूप एक आत्मा का अनुभव नहीं करते; उन्हें ऐसा उपदेश देते हैं कि ये सभी विकल्प वस्तुस्वरूप समझने के लिए तो उपयोगी हैं; किन्तु वस्तुस्वरूप समझ में आ जाने के उपरान्त इनका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता; इसलिए ही यह कहा है कि इनमें ही मत उलझे रहो, अपने भगवान आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करो।

निर्विकल्प अनुभव के संदर्भ में भी बहुत भ्रांतियाँ प्रचलित हैं। उक्त संदर्भ में पण्डितजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है

''तथा वस्तु का निश्चय होने के पश्चात् ऐसा नहीं है कि सामान्यरूप स्वद्रव्य ही का चिंतवन रहा करे। स्वद्रव्य का तथा परद्रव्य का सामान्यरूप और विशेषरूप जानना होता है, परन्तु वीतरागता सहित होता है; उसी का नाम निर्विकल्पदशा है।

वहाँ वह पूछता है यहाँ तो बहुत विकल्प हुए, निर्विकल्प संज्ञा कैसे संभव है ?

उत्तर निर्विचार होने का नाम निर्विकल्प नहीं है; क्योंकि छद्मस्थ के जानना विचार सहित है, उसका अभाव मानने से ज्ञान का अभाव होगा और तब जड़पना हुआ; सो आत्मा के होता नहीं है। इसलिए विचार तो रहता है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २०९-२१०

तथा यह कहे कि एक सामान्य का ही विचार रहता है, विशेष का नहीं। तो सामान्य का विचार तो बहुत काल रहता नहीं है व विशेष की अपेक्षा बिना सामान्य का स्वरूप भासित नहीं होता।

तथा यह कहे कि अपना ही विचार रहता है, पर का नहीं; तो पर में परबुद्धि हुए बिना अपने में निजबुद्धि कैसे आये ?[१]''

अपनी बात स्पष्ट करते हुए वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं

''राग-द्वेषवश किसी ज्ञेय को जानने में उपयोग लगाना और किसी ज्ञेय के ज्ञान से छुड़ाना इसप्रकार बारम्बार उपयोग को भ्रमाना उसका नाम विकल्प है।

तथा जहाँ वीतरागतारूप होकर जिसे जानते हैं, उसे यथार्थ जानते हैं, अन्य-अन्य ज्ञेय को जानने के अर्थ उपयोग को भ्रमाते नहीं हैं; वहाँ निर्विकल्पदशा जानना।[२]''

वस्तुत: बात यह है कि ज्ञान का स्वरूप ही विचारात्मक है, विकल्पात्मक है; क्योंकि शास्त्रों में दर्शन को निर्विकल्प (निराकार) और ज्ञान को सविकल्प (साकार) कहा गया है।

आत्मानुभव या ध्यान के प्रकरण में जब निर्विकल्पता की बात करते हैं, तब वह बात ज्ञान के सविकल्प स्वरूप के निषेधरूप नहीं होती, अपितु रागादि पूर्वक चित्त की अस्थिरता के निषेध के अर्थ में होती है।

आचार्य उमास्वामी कृत महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र की आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका का आधार प्रस्तुत करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''यदि सर्व चिन्ता रुकने का नाम ध्यान हो तो अचेतनपना आ जाये। तथा ऐसी भी विवक्षा है कि सन्तान अपेक्षा नाना ज्ञेयों का भी जानना होता है; परन्तु जबतक वीतरागता रहे, रागादि से आप उपयोग को न भ्रमाये, तबतक निर्विकल्पदशा कहते हैं।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २१०
२. वही, पृष्ठ २११

फिर वह कहता है ऐसा है तो परद्रव्य से छुड़ाकर स्वरूप में उपयोग लगाने का उपदेश किसलिए दिया है ?

समाधान जो शुभ-अशुभभावों के कारण परद्रव्य हैं; उनमें उपयोग लगाने से जिनको राग-द्वेष हो आते हैं, और स्वरूप चिंतवन करें तो जिनके राग-द्वेष घटते हैं ऐसे निचली अवस्थावाले जीवों को पूर्वोक्त उपदेश है।

जैसे कोई स्त्री विकारभाव से पराये घर जाती थी; उसे मना किया कि पराये घर मत जा, घर में बैठी रह। तथा जो स्त्री निर्विकार भाव से किसी के घर जाकर यथायोग्य प्रवर्ते तो कुछ दोष है नहीं।

उसीप्रकार उपयोगरूप परिणति राग-द्वेषभाव से परद्रव्यों में प्रवर्तती थी; उसे मना किया कि परद्रव्यों में प्रवर्तन मत कर, स्वरूप में मग्न रह। तथा जो उपयोगरूप परिणति वीतरागभाव से परद्रव्य को जानकर यथायोग्य प्रवर्ते तो कुछ दोष है नहीं।

फिर वह कहता है ऐसा है तो महामुनि परिग्रहादिक चिंतवन का त्याग किसलिए करते हैं ?

समाधान जैसे विकाररहित स्त्री कुशील के कारण पराये घरों का त्याग करती है; उसीप्रकार वीतराग परिणति राग-द्वेष के कारण परद्रव्यों का त्याग करती है। तथा जो व्यभिचार के कारण नहीं हैं ऐसे पराये घरों में जाने का त्याग है नहीं; उसीप्रकार जो राग-द्वेष के कारण नहीं हैं ऐसे परद्रव्यों को जानने का त्याग है नहीं।

फिर वह कहता है जैसे जो स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिक के घर जाती है तो जाये, बिना प्रयोजन जिस-तिसके घर जाना तो योग्य नहीं है। उसीप्रकार परिणति को प्रयोजन जानकर सात तत्त्वों का विचार करना, बिना प्रयोजन गुणस्थानादिक का विचार करना योग्य नहीं है ?

समाधान जैसे स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिक या मित्रादिक के भी घर जाये; उसीप्रकार परिणति तत्त्वों के विशेष जानने के कारण गुणस्थानादिक व कर्मादिक को भी जाने।

तथा यहाँ ऐसा जानना कि जैसे शीलवती स्त्री उद्यमपूर्वक तो विट

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

पुरुषों के स्थान पर न जाये; यदि परवश वहाँ जाना बन जाये और वहाँ कुशील सेवन न करे तो स्त्री शीलवती ही है।

उसीप्रकार वीतराग परिणति उपायपूर्वक तो रागादिक के कारण परद्रव्यों में न लगे; यदि स्वयमेव उनका जानना हो जाये और वहाँ रागादिक न करे तो परिणति शुद्ध ही है।

इसलिए मुनियों को स्त्री आदि के परीषह होने पर उनको जानते ही नहीं, अपने स्वरूप का ही जानना रहता है ऐसा मानना मिथ्या है।

उनको जानते तो हैं, परन्तु रागादिक नहीं करते।

इसप्रकार परद्रव्य को जानते हुए भी वीतरागभाव होता है ऐसा श्रद्धान करना।[१]''

पण्डित टोडरमलजी के उक्त सम्पूर्ण कथन का गहराई से अध्ययन करें तो एक बात हाथ पर रखे आंवले के समान स्पष्ट होती है कि चिन्तवन रुकने का नाम ध्यान नहीं है, अनेक प्रकार के ज्ञेयों का जानना रुकने का नाम भी ध्यान नहीं है; क्योंकि ध्यान में अनेक ज्ञेयों का जानना भी होता रहता है और चिन्तवन भी चलता रहता है। उक्त दोनों स्थितियों में भी **यदि वीतरागता खण्डित नहीं होती है और रागादि के कारण उपयोग को नहीं भ्रमाया जाता है तो निर्विकल्पदशा बनी रहती है।**

जब यह बात कही जाती है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि यदि ऐसा है तो फिर ऐसा उपदेश क्यों दिया जाता है कि उपयोग को परद्रव्य से हटाकर स्वद्रव्य में लगावो।

यह उपदेश तो उन लोगों को ही दिया जाता है, जिन लोगों की ऐसी स्थिति है कि जिसको देखे-जाने, उसी से राग-द्वेष करने लगते हैं।

उक्त तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए पण्डितजी महिला का उदाहरण देते हैं और उक्त उदाहरण के माध्यम से उक्त तथ्य को विविध कोणों से विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

यदि कोई महिला विकारभाव से पराये घर जाती है तो उसे रोका

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २११-२१२

जाता है; किन्तु यदि कोई महिला निर्विकारभाव से पर घर जावे और वहाँ यथायोग्य व्यवहार करे तो उसे कोई नहीं रोकता।

उसीप्रकार जब किसी व्यक्ति का उपयोग राग-द्वेषभाव से परद्रव्यों में जाता है, तब उससे कहते हैं कि अपने उपयोग को परद्रव्य से हटाकर स्वद्रव्य में लगावो।

यदि कोई व्यक्ति वीतरागभाव से परद्रव्य को जानकर यथायोग्य प्रवर्तन करता है तो जिनागम में उसे परद्रव्य को जानने से नहीं रोका जाता।

निश्चयाभासी जीव की यह मान्यता इतनी दृढ है कि अनेकप्रकार से समझाये जाने पर भी वह छूटती नहीं है। अत: वह अपनी बात के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि यदि ऐसा है तो फिर मुनिराज परिग्रहादिक के चिन्तवन का त्याग क्यों करते हैं ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितजी उसी महिला का उदाहरण देते हुए समझाते हैं कि जिसप्रकार विकार रहित महिला कुशील के कारणरूप पराये घरों का त्याग करती है; उसीप्रकार मुनिराज भी राग-द्वेषोत्पादक परद्रव्यों का त्याग करते हैं।

किन्तु वही विकार रहित महिला; जो व्यभिचार के कारण नही है, उन घरों में जाने का त्याग नहीं करती; उसीप्रकार मुनिराज, जो परद्रव्य राग-द्वेष के कारण नहीं हैं; उन परद्रव्यों को जानने का त्याग नहीं करते।

आप जो कुछ भी कहो, पर निश्चयाभासी अपनी बात को छोड़ना ही नहीं चाहता। अत: वह कहता है कि जिसप्रकार कोई महिला प्रयोजनवश पितादिक के घर जाती है तो जावे; किन्तु बिना प्रयोजन चाहे जिसके घर जाना तो उचित नहीं है।

उसीप्रकार प्रयोजनभूत तत्त्वों का विचार करना तो ठीक है; किन्तु अप्रयोजनभूत गुणस्थानादिक का विचार करना योग्य नहीं है।

इसके उत्तर में पण्डित टोडरमलजी उसी बात को आगे बढाते हुए कहते हैं कि जिसप्रकार प्रयोजन जानकर वह महिला पितादिक के घर के समान ही मित्रादिक के घर भी जावे तो भी कोई बात नहीं है;

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

उसीप्रकार उपयोगरूप परिणति तत्त्वों के विशेष जानने के लिए गुणस्थानादिक व कर्मादिक को भी जाने तो कोई दोष नहीं है।

वस्तुत: बात यह है कि विकाररहित महिलायें जहाँ तक बनें, वहाँ तक तो विटपुरुषों के घर जाती ही नहीं हैं; किन्तु कोई ऐसी स्थिति आ जावे कि गये बिना चले ही नहीं; तो यदि वह वहाँ जाकर भी भ्रष्ट नहीं होती हैं तो वह शीलवती ही हैं।

उसीप्रकार ज्ञानियों का उपयोग प्रयत्नपूर्वक तो राग-द्वेषोत्पादक पर-द्रव्यों में जाता ही नहीं है; तथापि प्रसंगवश उनका जानना हो जावे और उनमें राग-द्वेष न करें तो भी परिणति शुद्ध ही है।

अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि यह मानना उचित नहीं है कि मुनिराज परीषह होने पर, उनको जानते ही नहीं हैं; अपने स्वरूप में ही मग्न रहते हैं। उन्हें उनका ज्ञान तो होता है, परन्तु वे मुनिराज उन परपदार्थों के लक्ष्य से राग-द्वेषरूप परिणमित नहीं होते।

मुनिराज की स्थिर मुद्रा देखकर उन्हें पत्थर की मूर्ति समझकर वन में विचरण करनेवाले मृग जब अपनी खाज खुजाते होंगे तो क्या मुनिराजों को पता भी न चलता होगा ?

अरे भाई ! पता तो चलता है, पर वे उसमें अपने उपयोग को लम्बाते नहीं हैं, राग-द्वेषरूप परिणमित नहीं होते; उनका वीतरागभाव कायम रहता है। अत: उनका ध्यान भंग नहीं होता।

इसीप्रकार जब मुनिराज आहार के लिए नगर में जाते हैं, तब उनके ज्ञान में बहुत से अप्रयोजनभूत पदार्थ जानने में आ जाते हैं; तथापि उपयोग उनमें रंजायमान नहीं होता, वे उनके लक्ष्य से राग-द्वेषरूप परिणमित नहीं होते, उनकी वीतरागता खण्डित नहीं होती, कायम रहती है।

यही कारण है कि पण्डितजी उक्त प्रकरण के अन्त में कहते हैं कि

''इसप्रकार परद्रव्यों को जानते हुए भी वीतरागभाव होता है ऐसा श्रद्धान करना।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २१२

अत: यह निश्चित हुआ कि परद्रव्यों को जानने मात्र से वीतरागभाव भंग नहीं होता, कायम ही रहता है।

अन्त में न केवल उक्त अंश का, अपितु सम्पूर्ण निश्चयाभासी के प्रकरण का समापन करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''इसलिए बहुत क्या कहें जिसप्रकार से रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, जिसप्रकार से रागादि मिटाने का जानना हो, वही जानना सम्यग्ज्ञान है तथा जिसप्रकार से रागादि मिटें, वही आचरण सम्यक्चारित्र है; ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।[१]''

उक्त वाक्य खण्ड न केवल निश्चयाभासी संबंधी प्रकरण का उपसंहार है; अपितु इसमें तो सम्पूर्ण मोक्षमार्गप्रकाशक का सार आ गया है; क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है।[२]

संक्षेप में यहाँ इन तीनों को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में स्पष्ट कर दिया गया है। अत: मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश पड़ गया है। मोक्षमार्गप्रकाशक का नाम सार्थक हो गया है।

उक्त वाक्य खण्ड में एक बात और भी विशेष ध्यान देने योग्य है। वह, यह कि इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को एक वीतरागभाव में समाहित कर दिया गया है।

यदि उक्त तीनों भाव वीतरागभावरूप हैं तो फिर इनसे उल्टे होने के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र भी एक रागभाव शब्द में समाहित हो जाते हैं। इसप्रकार यह सुनिश्चित होता है कि रागभाव संसारमार्ग है और वीतरागभाव मोक्षमार्ग।

इसप्रकार यहाँ निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि का प्रकरण समाप्त होता है। अब अगले प्रवचन में व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि के संबंध में चर्चा करेंगे। ●

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:, महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १
२. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २१३

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

सत्रहवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में समागत निश्चयाभासी गृहीत मिथ्यादृष्टियों की चर्चा समाप्त हुई। अब व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टियों की चर्चा प्रसंग प्राप्त है।

जिनागम में व्यवहारधर्म का जो निरूपण है; उसका अवलम्बन लेकर जो लोग शुभभाव और शुभक्रिया को ही धर्म मानकर उसमें ही लगे रहते हैं; परन्तु परमागमरूप अध्यात्मशास्त्रों में निश्चयधर्म का जो निरूपण है, उसे नहीं जानते; उन लोगों को यहाँ व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहा है।

सच्चा व्यवहार तो निश्चयपूर्वक ही होता है, पर निश्चय से अजान ये लोग बाह्यक्रियाकाण्ड में ही उलझ कर रह जाते हैं।

ये लोग चार प्रकार के होते हैं

१. कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी।

२. परीक्षारहित आज्ञानुसारी धर्मधारक व्यवहाराभासी।

३. सांसारिक प्रयोजनार्थ धर्मधारक व्यवहाभासी और

४. धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी।

इन लोगों की सामान्य प्रवृत्ति के बारे में पण्डितजी लिखते हैं

''वहाँ कितने ही जीव कुलप्रवृत्ति से अथवा देखा-देखी लोभादि के अभिप्राय से धर्म साधते हैं; उनके तो धर्मदृष्टि ही नहीं है।

यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कही है, दृष्टि कहीं घूमती रहती है और मुख से पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है। मैं कौन हूँ, किसकी स्तुति करता हूँ, किस प्रयोजन के अर्थ स्तुति करता हूँ, पाठ में क्या अर्थ है, सो (यह) कुछ पता नहीं है।

तथा कदाचित् कुदेवादिक की भी सेवा करने लग जाता है; वहाँ सुदेव-गुरु-शास्त्रादि व कुदेव-गुरु-शास्त्रादि की विशेष पहिचान नहीं है।

तथा यदि दान देता है तो पात्र-अपात्र के विचार रहित जैसे अपनी प्रशंसा हो, वैसे दान देता है।

तथा तप करता है तो भूखा रहकर महंतपना हो, वह कार्य करता है; परिणामों की पहिचान नहीं है।

तथा व्रतादिक धारण करता है तो वहाँ बाह्य क्रिया पर दृष्टि है; सो भी कोई सच्ची क्रिया करता है, कोई झूठी करता है; और जो अंतरंग रागादिभाव पाये जाते हैं, उनका विचार ही नहीं है, तथा बाह्य में भी रागादि के पोषण के साधन करता है।

तथा पूजा-प्रभावनादि कार्य करता है तो वहाँ जिसप्रकार लोक में बड़ाई हो, व विषय-कषाय का पोषण हो; उसप्रकार कार्य करता है। तथा बहुत हिंसादिक उत्पन्न करता है।

सो यह कार्य तो अपने तथा अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के अर्थ कहे हैं। तथा वहाँ किंचित् हिंसादिक भी उत्पन्न होते हैं; परन्तु जिसमें थोड़ा अपराध हो और गुण अधिक हो, वह कार्य करना कहा है। सो परिणामों की तो पहिचान नहीं है और यहाँ अपराध कितना लगता है, गुण कितना होता है ऐसे नफा-टोटे का ज्ञान नही है व विधि-अविधि का ज्ञान नहीं है।

तथा शास्त्राभ्यास करता है तो वहाँ पद्धतिरूप प्रवर्तता है। यदि बाँचता है तो औरों का सुना देता है, यदि पढता है तो आप पढ जाता है, सुनता है तो जो कहते हैं, वह सुन लेता है; परन्तु जो शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है, उसे आप अंतरंग में अवधारण नहीं करता।

इत्यादि धर्मकार्यों के मर्म को नहीं पहिचानता।

कितने तो जिसप्रकार कुल में बड़े प्रवर्तते हैं, उसीप्रकार हमें भी करना, अथवा दूसरे करते हैं, वैसा हमें भी करना, व ऐसा करने से हमारे लोभादिक की सिद्धि होगी इत्यादि विचाररहित अभूतार्थ धर्म को साधते हैं।

तथा कितने ही जीव ऐसे होते हैं, जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है, कुछ धर्मबुद्धि भी है; इसलिए पूर्वोक्त प्रकार भी धर्म का

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

साधन करते हैं और कुछ आगे कहते हैं, उसप्रकार से अपने परिणामों को भी सुधारते हैं मिश्रपना पाया जाता है।[१]''

देखो, यहाँ पण्डितजी **बाँचने और पढने में भेद करते हैं। दूसरों को सुनाने के लिए पढने को बाँचना कहते हैं और स्वयं के अध्ययन के लिए बाँचने को पढना कहते हैं।** हममें से अधिकांश लोग तो बाँचने और पढने को एक ही समझते हैं; पर पण्डितजी के उक्त वाक्यखण्ड में यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है।

वैसे तो शास्त्रपाठी विद्वानों का मिलना भी सहज नहीं है, फिर भी वे उपलब्ध हो ही जाते हैं; पर **ऐसे विद्वानों का मिलना दुर्लभ है कि जिन्होंने शास्त्रों के साथ-साथ आत्मा भी पढा हो, आत्मानुभव भी किया हो।**

यदि हमारे महाभाग्य से हमें वे भी प्राप्त हो जावें तो भी ऐसे विद्वान मिलना तो असंभव-सा ही है कि जिन्होंने शास्त्रों का अगाध अध्ययन किया हो, जिन्हें आत्मा का अनुभव हो और जिन्होंने दुनिया को भी पढा हो, जिनका लोक निरीक्षण भी अत्यन्त सूक्ष्म हो।

महापण्डित टोडरमलजी उन विद्वानों में से ही थे, जिन्हें न केवल शास्त्रों का अगाध ज्ञान था, अपितु **वे आत्मानुभवी भी थे तथा उन्होंने दुनिया को भी पढा था, उनका लोकनिरीक्षण भी तलस्पर्शी था।**

जहाँ एक ओर मोक्षमार्गप्रकाशक में **स्वमत-परमत के शास्त्रों के अनेकानेक उद्धरण उनके शास्त्रज्ञान को दर्शाते हैं** और अनुभव के स्वरूप का निरूपण उनके आत्मानुभवी होने को प्ररूपित करते हैं; वहीं दूसरी ओर उक्त प्रकरण उनके सूक्ष्मतम लोक निरीक्षण को प्रस्तुत करता है।

आत्मानुभव विहीन धार्मिक जगत का जो चित्र उन्होंने आज से २५० वर्ष पूर्व प्रस्तुत किया था; उसे आज भी सर्वत्र देखा जा सकता है।

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टियों की इस चर्चा को आरंभ करने के पूर्व ही पण्डितजी सावधान करते हुए कहते हैं

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२०-२२१

''यहाँ ऐसा जान लेना कि व्यवहार धर्म की प्रवृत्ति से पुण्यबंध होता है, इसलिए पापप्रवृत्ति की अपेक्षा तो इसका निषेध है नहीं; परन्तु यहाँ जो जीव व्यवहारप्रवृत्ति ही से संतुष्ट होकर सच्चे मोक्षमार्ग में उद्यमी नहीं होते हैं, उन्हें मोक्षमार्ग में सन्मुख करने के लिए उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति का भी निषेधरूप निरूपण करते हैं।

यह जो कथन करते हैं, उसे सुनकर यदि शुभप्रवृत्ति छोड़ अशुभ में प्रवृत्ति करोगे, तब तो तुम्हारा बुरा होगा; और यदि यथार्थ श्रद्धान करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा।

जैसे कोई रोगी निर्गुण औषधि का निषेध सुनकर औषधि साधन को छोड़कर कुपथ्य करे तो वह मरेगा, उसमें वैद्य का कुछ दोष नहीं है; उसीप्रकार कोई संसारी पुण्यरूप धर्म का निषेध सुनकर धर्मसाधन छोड़ विषय-कषायरूप प्रवर्तन करेगा तो वही नरकादि में दुःख पायेगा। उपदेशदाता का तो दोष है नहीं।

उपदेश देनेवाले का अभिप्राय तो असत्य श्रद्धानादि छुड़ाकर मोक्षमार्ग में लगाने का जानना।

सो ऐसे अभिप्राय से यहाँ निरूपण करते हैं।[१]''

आजकल ऐसी प्रवृत्ति हो गई है कि लोग वैद्य या डॉक्टर को दिखाये बिना ही, बीमारी की जाँच कराये बिना ही; अपने मन से या चाहे जिस के कहने से दवाइयाँ खा लेते हैं, खाते रहते हैं; विशेषकर विटामिन और चूरन-चटनी खाने के लिए तो किसी से पूछने की आवश्यकता ही नहीं समझते।

ऐसे लोगों को ध्यान में रखकर वैद्य या डॉक्टर यह समझाते हैं कि ऐसा करने से कुछ लाभ तो होता नहीं है; अपितु हानि अवश्य हो सकती है। इसलिए बिना विवेक के अनाप-शनाप दवाइयाँ खाते रहना अच्छी बात नहीं है। इसीप्रकार यह भी समझाते हैं कि जब चाहे, जो चाहे खाते रहना भी स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २१३

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

यह सुनकर यदि कोई दवाइयाँ खाना ही बन्द कर दे या भोजन करना ही बंद कर दे तो बीमार हुए बिना तो रहेगा ही नहीं, मर भी सकता है।

स्वस्थ जीवन के लिए वैद्य या डॉक्टर के बताये अनुसार संयमित खान-पान एवं समय-समय पर सीमित दवाइयाँ लेना ही श्रेयस्कर है।

ठीक इसीप्रकार आजकल ज्ञानीजनों के मार्गदर्शन और शास्त्राधार के बिना ही कुछ लोग धर्म के नाम पर बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझ जाते हैं। शास्त्रों में भूमिकानुसार आचरण का विधान है; उसे जाने बिना ही असंतुलित आचरण कर स्वयं को धर्मात्मा समझने लगते हैं।

चरणानुयोग के शास्त्रों में स्पष्ट निर्देश है कि सम्यग्दर्शन के बिना व्रत नहीं होते, संयम नहीं होता, तप-त्याग भी नहीं होते; किन्तु सम्यग्दर्शन की तो कोई बात ही नहीं करता और व्रत लिये-दिये जाते हैं, संयम धारण किया जाता है, कराया जाता है।

कौन से गुणस्थान में कैसा आचरण होता है, किस प्रतिमा में कैसा आचरण होता है। जिनागम में इस बात के स्पष्ट उल्लेख होने पर भी कोई भी व्यक्ति अपनी मन मर्जी के अनुसार कभी दश-दश उपवास कर बैठता है तो कभी दिन-रात के विवेक बिना चाहे जब, चाहे जो कुछ; भक्ष्य-अभक्ष्य खाता-पीता रहता है।

पूजा-पाठ के संदर्भ में भी यही स्थिति है। कभी-कभी तो महीनों तक मंदिर ही नहीं जाते, देवदर्शन भी नहीं करते; तो कभी आठ-आठ घंटे तक लगातार पूजन करते रहते हैं।

दानादि के संदर्भ में भी इसीप्रकार की अनियमितता देखी जाती है। न पात्र का विवेक रहता है और न वस्तु की उपयोगिता का ध्यान ही रखा जाता है। कभी कुछ नहीं तो कभी लाखों का दान दिया जाता है।

इस व्यवहाराभासी के व्रत-तप, भक्ति, पूजन-पाठ, तीर्थयात्रा और दानादि कार्य कैसे होते हैं; इनकी चर्चा पण्डित टोडरमलजी के उद्धरण में विस्तार से आ चुकी है; अत: उक्त संदर्भ में अधिक चर्चा करना अभीष्ट नहीं है।

यहाँ तो पण्डितजी इस बात के लिए सावधान कर रहे हैं कि यहाँ हम उक्त प्रवृत्तियों की निरर्थकता का खुलासा करेंगे; उसे सुन कर तू सावधान तो होना, पर इनसे पूर्णत: विरक्त मत हो जाना; क्योंकि **अशुभ से निवृत्ति के लिए शुभ में प्रवृत्ति करना तो ठीक ही है; किन्तु उसमें भी विवेक का होना आवश्यक है; क्योंकि वह वास्तविक धर्म नहीं है।**

वास्तविक धर्म तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और आत्मध्यानरूप सम्यक्चारित्र है।

ध्यान रहे, हम यहाँ पूजा-पाठ, व्रत-उपवास आदि का निषेध नहीं कर रहे हैं; हम तो यह सब विवेकपूर्वक करने के लिए कह रहे हैं, इन्हें धर्म मानने का निषेध कर रहे हैं; क्योंकि निश्चयधर्म तो वीतरागभावरूप है और ये परिणाम रागरूप हैं, शुभरागरूप हैं।

अब **कुल अपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी** जीवों की प्रवृत्ति की चर्चा करते हैं। उनके संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का प्रतिपादन इसप्रकार है

''वहाँ कोई जीव तो कुलक्रम से ही जैनी हैं, जैनधर्म का स्वरूप जानते नहीं, परन्तु कुल में जैसी प्रवृत्ति चली आयी है, वैसे प्रवर्तते हैं।

वहाँ जिसप्रकार अन्यमती अपने कुलधर्म में प्रवर्तते हैं, उसीप्रकार यह प्रवर्तते हैं। यदि कुलक्रम ही से धर्म हो तो मुसलमान आदि सभी धर्मात्मा हो जायें। जैनधर्म की विशेषता क्या रही ?

वही कहा है

लोयम्मि रायणीई णायं ण कुलकम्मि कइयावि।
किं पुण तिलोय पहुणो जिणंदधम्माहिगारम्मि।।७।।

उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला

लोक में यह राजनीति है कि कदाचित् कुलक्रम से न्याय नहीं होता है। जिसका कुल चोर हो, उसे चोरी करते पकड़ ले तो उसका कुलक्रम जानकर छोड़ते नहीं हैं, दण्ड ही देते हैं। तो त्रिलोकप्रभु जिनेन्द्रदेव के धर्म के अधिकार में क्या कुलक्रमानुसार न्याय संभव है?

तथा यदि पिता दरिद्री हो और आप धनवान हो, तब वहाँ तो

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

कुलक्रम का विचार करके आप दरिद्री रहता ही नहीं, तो धर्म में कुल का क्या प्रयोजन है ?

तथा पिता नरक में जाये और पुत्र मोक्ष जाता है, वहाँ कुलक्रम कैसे रहा ? यदि कुल पर दृष्टि हो तो पुत्र भी नरकगामी होना चाहिए।

इसलिए धर्म में कुलक्रम का कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

शास्त्रों का अर्थ विचारकर यदि कालदोष से जिनधर्म में पापी पुरुषों द्वारा कुदेव-कुगुरु-कुधर्म सेवनादिरूप तथा विषय-कषाय पोषणादिरूप विपरीत प्रवृत्ति चलाई गई हो, तो उसका त्याग करके जिन आज्ञानुसार प्रवर्तन करना योग्य है।[१]''

धर्म तो एकदम व्यक्तिगत वस्तु है। उसे तो बुद्धिपूर्वक समझ-बूझकर धारण किया जाता है। जिनके कुल में सच्चे धर्म की प्रवृत्ति नहीं है; उन्हें तो अत्यन्त सावधानीपूर्वक सत्य धर्म की खोज करके ही धर्म धारण करना चाहिए; किन्तु **महाभाग्य से जिनके कुल में सहज सत्यधर्म की परम्परा है, उन्हें भी सत्यधर्म को, उसका स्वरूप भलीभाँति समझ-बूझकर पूरी तरह परीक्षा करके धारण करना चाहिए; अन्यथा उनका धर्म भी कुलधर्म बनकर ही रह जायेगा।**

यदि हम ऐसे कुल में पैदा हुए हैं कि जहाँ पहले से ही परम सत्यधर्म है, खान-पान भी पवित्र है, मांस-मदिरा का सेवन नहीं है, शुद्ध शाकाहारी जीवन है; तो हमारा ये महाभाग्य है।

यदि हम दुर्भाग्य से ऐसे कुल में पैदा हुए होते, जहाँ न तो शुद्ध सदाचारी जीवन है और न वीतरागी जिनधर्म है; तो हमें सत्य की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ होती।

आज हमारे पास महाभाग्य से सर्वप्रकार की अनुकूलता है। ऐसी स्थिति में भी यदि हमने असली वीतरागी तत्त्वज्ञान को नहीं समझा, उसे विवेकपूर्वक स्वीकार नहीं किया तो यह मनुष्यभव, उत्तमकुल, शुद्ध-सात्त्विक जीवन और वीतरागी तत्त्वज्ञान की सहज उपलब्धि ये सभी

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २१४

धर्मानुकूल संयोग बिखरते देर न लगेगी और हम अनन्तकाल तक भटकने के लिए चार गति और चौरासी लाख योनियों में से न मालूम कहाँ चले जावेंगे।

अत: यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम धर्म के सच्चे स्वरूप को समझें, तदर्थ स्वाध्याय करें, स्वयं पढें, गुरुजनों से समझें, साधर्मी भाई-बहिनों से समझें, निरन्तर ज्ञानियों के सत्समागम से एक बार तो निज भगवान आत्मा का अनुभव अवश्य कर लें, कुलधर्म में ही उलझ कर न रह जावें।

माँ-बाप और कुटुम्ब-परिवार से तो हमारा संबंध देह का ही संबंध है, कुल-गोत्र संबंधी-संबंध भी देह का ही है; आत्मा का नहीं। अत: यही उचित है कि देहिक संबंधों में हम कुल परम्परा का निर्वाह करें।

कुल-गोत्र से आत्मा का तो कोई संबंध है नहीं; अत: आत्मा के कल्याण के लिए कुल परम्परा को निभाने की आवश्यकता नहीं है; अपितु तत्संबंधी निर्णय सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी के आधार पर लिखे आगम के अध्ययन, उक्त आगम के जानकार आत्मानुभवी गुरुओं के मार्गदर्शन एवं तर्क की कसौटी पर कसकर ही किया जाना चाहिए।

यदि हम ऐसा नहीं कर सके तो हमारे ये सभी संयोग निरर्थक हो जावेंगे। यह तो हम सब जानते ही हैं कि संयोगों का वियोग सुनिश्चित है; अत: ये सभी संयोग एक दिन बिखर जानेवाले हैं। यदि ये कायम भी रहे तो हम इन्हें छोड़कर चले जानेवाले हैं। जो भी हो, समय पर इनका वियोग सुनिश्चित है। अत: समय रहते चेत जाने में ही लाभ है।

निष्कर्ष के रूप में पण्डितजी आदेश देते हैं

''इसलिए विवाहादि कुल संबंधी कार्यों में तो कुलक्रम का विचार करना, परन्तु धर्म संबंधी कार्य में कुल का विचार नहीं करना।

जैसा धर्ममार्ग सच्चा है, उसीप्रकार प्रवर्तन करना योग्य है।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २१५

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

विवाहादि कार्य तो भव बढानेवाले हैं और उनका प्रभाव तो एक भव तक ही सीमित है, कुछ अच्छा-बुरा भी होगा तो भी उसका प्रभाव एक भव पर ही पड़ेगा; किन्तु धर्म का संबंध तो अनंतकाल तक रहेगा।

धर्म तो भव का अभाव करनेवाला है। धर्म के संबंध में हुई चूक तो अनंत संसार का कारण हो सकती है। अत: समझदारी तो इसी में है कि **विवाहादि कार्य में भले ही हम समाज व परिवार के विरोध में खड़े न हों; पर सत्य धर्म के निर्णय में समाज व परिवार से प्रभावित होना समझदारी का काम नहीं है।**

आज की स्थिति में तो यह है कि विवाहादि कार्यों में न केवल कुल संबंधी, अपितु धर्मसंबंधी विचार भी अत्यन्त गौण हो गया है। **आज तो रूप-रंग, शिक्षा, आर्थिक स्थिति आदि ही मुख्य हो गये हैं तथा धर्म के संबंध में सभी लोग कुलक्रम से ही चिपके हुए हैं।**

''हमारे यहाँ तो ऐसा चलता है, हमारे बाप-दादा तो ऐसा ही करते आये हैं; अत: हम तो ऐसा ही करेंगे'' धर्म के संबंध में ऐसा कहते लोग आपको कहीं भी मिल जावेंगे। उक्त संदर्भ में विचार करने की बात तो बहुत दूर, कोई बात करने को भी तैयार नहीं है।

इसप्रकार की वृत्तिवालों को पण्डितजी के उक्त मार्गदर्शन पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

इसप्रकार कुल-अपेक्षा धर्मधारकों की चर्चा करने के उपरान्त अब परीक्षा के बिना ही मात्र आज्ञानुसारी धर्मधारकों के बारे में बात करते हैं।

उक्त प्रकरण की चर्चा आरंभ करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''तथा कितने ही आज्ञानुसारी जैनी होते हैं। जैसी शास्त्र में आज्ञा है, उसप्रकार मानते हैं, परन्तु आज्ञा की परीक्षा करते नहीं।

यदि आज्ञा ही मानना धर्म हो तो सर्व मतवाले अपने-अपने शास्त्र की आज्ञा मानकर धर्मात्मा हो जायें; इसलिए परीक्षा करके जिनवचन की सत्यता पहिचानकर जिन-आज्ञा मानना योग्य है।

बिना परीक्षा किये सत्य-असत्य का निर्णय कैसे हो ? और बिना निर्णय किये जिसप्रकार अन्यमती अपने शास्त्रों की आज्ञा मानते हैं, उसीप्रकार इसने जैन शास्त्रों की आज्ञा मानी।

यह तो पक्ष से आज्ञा मानना है।[१]''

ये आज्ञानुसारी जैनी भी बहुत कुछ कुलधर्मवालों के समान ही हैं; क्योंकि दोनों ही प्रकार के लोग बिना परीक्षा किये ही धर्म को स्वीकार कर लेते हैं।

यदि हम इन लोगों से प्रश्न करें कि आप रात्रि में भोजन क्यों नहीं करते ? तो कुलधर्म वाले का उत्तर होगा कि हमारे कुल में कोई भी रात्रिभोजन नहीं करता; इसलिए हम नहीं करते और आज्ञानुसारी धर्मवाले का उत्तर होगा कि हमारे गुरुओं की यही आज्ञा है या हमारे शास्त्रों में यही लिखा है कि रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए; इसलिए हम रात्रि में भोजन नहीं करते।

उक्त दोनों प्रकार के लोगों में यह कोई नहीं कहता कि रात्रिभोजन में हिंसा बहुत होती है। इसलिए हम रात्रि में भोजन नहीं करते।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि जो परीक्षा करके ही जैनी बनते हैं; परन्तु वे लोग मूल विषयों की परीक्षा तो करते नहीं; बस बाह्य दया, दान, तप, संयमादि व पूजा-प्रभावनादि कार्यों व अतिशय-चमत्कारादि से प्रभावित होकर संतुष्ट होकर जैन बन जाते है; परन्तु इन कार्यों की उत्कृष्टता तो अन्य मतों में भी प्राप्त हो सकती है।

तब प्रश्न उठता है कि जैनदर्शन में तो अनेक प्रकार के अनेक विषय आते हैं; उनमें से किनकी परीक्षा करनी, किनकी नहीं ?

इस संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी कहते हैं

''जिनधर्म में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है। वहाँ सच्चे देवादिक व जीवादिक का श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २१५

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

है, उनको जानने से सम्यग्ज्ञान होता है व रागादिक मिटने पर सम्यक्-चारित्र होता है। सो इनके स्वरूप का जैसा जिनमत में निरूपण किया है; वैसा अन्यत्र कहीं नहीं किया तथा जैनी के सिवाय अन्यमती ऐसा कार्य नहीं कर सकते। इसलिए यह जिनमत का सच्चा लक्षण है।

इस लक्षण को पहिचानकर जो परीक्षा करते हैं, वे ही श्रद्धानी हैं। इसके सिवाय जो अन्य प्रकार से परीक्षा करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।[१]''

इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा देव-शास्त्र-गुरु के संबंध में आगे धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि के प्रकरण में चर्चा करेंगे; अत: यहाँ कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है।

कुलधर्म और आज्ञानुसारियों के अतिरिक्त भी कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जो बिना सम्यक् परीक्षा किये जिनधर्म को स्वीकार कर लेते हैं। उनकी चर्चा करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''तथा कितने ही संगति से जैनधर्म धारण करते हैं, कितने ही महान पुरुष को जिनधर्म में प्रवर्तता देख आप भी प्रवर्तते हैं, कितने ही देखादेखी जिनधर्म की शुद्ध या अशुद्ध क्रियाओं में प्रवर्तते हैं।

इत्यादि अनेक प्रकार से जीव आप विचारकर जिनधर्म का रहस्य नहीं पहिचानते और जैनी नाम धारण करते हैं। वे सब मिथ्यादृष्टि ही जानना।[२]''

इसप्रकार की परम्परा भगवान ऋषभदेव के समय से ही चली आ रही है। उनकी देखादेखी ही चार हजार राजाओं ने दीक्षा ग्रहण कर ली थी। एक प्रकार से वे सभी व्यवहाराभासी ही थे।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के साथ भी हजारों लोगों ने दिगम्बर जैनधर्म स्वीकार कर लिया था, बाद में जिनमें से अनेक लोगों ने तत्त्वाभ्यास करके सच्चा जैनत्व प्राप्त कर लिया है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २१८
२. वही, पृष्ठ २१८

पण्डित टोडरमलजी इन सभी का समावेश व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टियों में ही कर लेते हैं।

इस प्रकरण का समापन करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''इतना है कि जिनमत में पाप की प्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती और पुण्य के निमित्त बहुत हैं तथा सच्चे मोक्षमार्ग के कारण भी वहाँ बने रहते हैं; इसलिए जो कुलादिक से भी जैनी हैं, वे भी औरों से तो भले ही हैं।[१]''

यद्यपि बिना परीक्षा किये कुलादि की अपेक्षा जो जैन हैं; वे अजैनों के समान ही व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं; तथापि इतना अंतर तो है ही कि इन्हें सत्समागम के अवसर विद्यमान हैं। उक्त सत्समागम का लाभ लेकर ये लोग भी आत्मतत्त्व को प्राप्त करने का पुरुषार्थ कर सकते हैं।

इसप्रकार कुल अपेक्षा और आज्ञानुसारी व्यवहाराभासी जीवों की चर्चा करने के उपरान्त अब सांसारिक प्रयोजन से धर्म धारण करनेवाले व्यवहाराभासी जीवों की चर्चा करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''तथा जो जीव कपट से आजीविका के अर्थ व बड़ाई के अर्थ, व कुछ विषय-कषाय संबंधी प्रयोजन विचारकर जैनी होते हैं; वे तो पापी ही हैं। अति तीव्र कषायी होने पर ऐसी बुद्धि आती है। उनका सुलझना भी कठिन है। जैनधर्म का सेवन तो संसार-नाश के लिए किया जाता है; जो उसके द्वारा सांसारिक प्रयोजन साधना चाहते हैं, वे बड़ा अन्याय करते हैं। इसलिए वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही।[२]''

मेरे एक मित्र हैं। एक दिन वे कहने लगे जैनधर्म से अच्छा ईसाई धर्म है; क्योंकि जो ईसाई बनता है, वे लोग उसे सभीप्रकार की लौकिक सुविधायें जुटा देते हैं। मुसलमान भी मुसलमान का साथ देता है; किन्तु जैनी जैनी का साथ नहीं देता।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २१८
२. वही, पृष्ठ २१८

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

मैंने उनसे कहा "क्या हो गया, तुम अपने साधर्मी जैन भाइयों से इतने नाराज क्यों हो ? जो न केवल जैनियों की, साथ में जैनधर्म की भी निन्दा करने लगे।"

उन्होंने छूटते ही कहा "मेरा अधिकारी भी जैनी है, पर वह मेरा सहयोग नहीं करता। यदि कोई मुसलमान होता तो वह अपने साधर्मी का सहयोग अवश्य करता।"

"आप अपनी योग्यता से आगे क्यों नहीं बढते ?" जब मैंने यह कहा तो छूटते ही बोले "यदि योग्यता से आगे बढेंगे तो फिर जैनी अधिकारी होने का क्या लाभ है ?"

"असली बात तो यह है कि आप जैनी होने के नाते उससे अपने अनुचित कार्य कराना चाहते हो ?" इतना सुनते ही तो वे फट पड़े।

अरे, भाई ! धर्म के नाते तो धर्म संबंधी लाभ लेना चाहिए। लौकिक अनुचित लाभ का धर्म से क्या लेना-देना ?

यदि आप धर्मलाभ लेना चाहते हैं तो स्थान-स्थान पर जैनधर्म की शिक्षा देने के लिए विद्यालय खुले हैं; उनमें न केवल आध्यात्मिक-धार्मिक शिक्षा नि:शुल्क दी जाती है, अपितु शुद्ध सात्त्विक भोजन आदि सभी सुविधायें नि:शुल्क उपलब्ध करायी जाती हैं।

पर आपको धर्मलाभ लेना ही कहाँ है, आपको तो अर्थकरी विद्या पढना है; उसमें सहयोग चाहिए तथा शुद्ध-सात्त्विक भोजन कहाँ पसन्द है। आपको तो आलू-जमींकन्द वाला भोजन, वह भी रात्रि में चाहिए।

अरे, भाई ! **इस अर्थकरी विद्या में सहयोग ज्ञानदान नहीं है। इसीप्रकार अपात्र जीवों को अभक्ष्य-असात्त्विक भोजन देना आहारदान नहीं है।**

यदि आत्मानुभव करने के लिए देशनालब्धि चाहिए, यदि शुद्ध तत्त्वज्ञान जानना है तो अनेक स्थानों पर अनुभवी विद्वानों के, संतों के आध्यात्मिक प्रवचन होते हैं, शिविर लगते हैं; लगभग सर्वत्र सभीप्रकार

की सुविधायें नि:शुल्क ही उपलब्ध रहती हैं; लीजिये न पूरा लाभ।

अरे, भाई ! सांसारिक प्रयोजन से धर्मलाभ लेनेवालों में अकेले वे लोग ही नहीं आते, जो लोग ये सुविधायें प्राप्त करने के लिए जैनधर्म स्वीकार करते हैं; अपितु वे लोग भी आते हैं; जो कुल अपेक्षा जैन हैं, आज्ञानुसारी ही जैन हैं; परन्तु धर्म के नाम पर अपना लौकिक स्वार्थ पूरा करना चाहते हैं।

इस पर कोई कह सकता है कि यदि धर्म से ये लाभ भी मिल जावे तो क्या हानि है ? ऐसे लोगों को लक्ष्य में लेकर पण्डितजी कहते हैं

"यहाँ कोई कहे हिंसादि द्वारा जिन कार्यों को करते हैं; वही कार्य धर्म साधन द्वारा सिद्ध किये जायें तो बुरा क्या हुआ ? दोनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं ?

उससे कहते हैं कि पापकार्य और धर्मकार्य का एक साधन करने से पाप ही होता है। जैसे कोई धर्म का साधन चैत्यालय बनवाये और उसी को स्त्री-सेवनादि पापों का भी साधन करे तो पाप ही होगा। हिंसादि द्वारा भोगादिक के हेतु अलग मकान बनवाता है तो बनवाये; परन्तु चैत्यालय में भोगादि करना योग्य नहीं है।

उसीप्रकार धर्म का साधन पूजा, शास्त्रादिक कार्य है; उन्हीं को आजीवकादि पाप का भी साधन बनाये तो पापी ही होगा। हिंसादि से आजीविकादि के अर्थ व्यापारादि करता है तो करे, परन्तु पूजादि कार्यों में तो आजीविकादि का प्रयोजन विचारना योग्य नहीं है।

प्रश्न यदि ऐसा है तो मुनि भी धर्मसाधन कर पर-घर भोजन करते हैं तथा साधर्मी साधर्मी का उपकार करते-कराते हैं सो कैसे बनेगा ?

उत्तर वे आप तो कुछ आजीवकादि का प्रयोजन विचारकर धर्म-साधन नहीं करते। उन्हें धर्मात्मा जानकर कितने ही स्वयमेव भोजन उपकारादि करते हैं, तब तो कोई दोष है नहीं। तथा यदि आप भोजनादिक का प्रयोजन विचार कर धर्म साधता है तो पापी है ही।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

जो विरागी होकर मुनिपना अंगीकार करते हैं, उनको भोजनादिक का प्रयोजन नहीं है। शरीर की स्थिति के अर्थ स्वयमेव भोजनादि कोई दे तो लेते हैं, नहीं तो समता रखते हैं, संक्लेशरूप नहीं होते।

तथा अपने हित के अर्थ धर्म साधते हैं। उपकार करवाने का अभिप्राय नहीं है और आपके जिसका त्याग नहीं है, वैसा उपकार कराते हैं।

कोई साधर्मी स्वयमेव उपकार करता है तो करे, और यदि न करे तो उन्हें कुछ संक्लेश नहीं होता सो ऐसा तो योग्य है।

परन्तु आप ही आजीविकादि का प्रयोजन विचारकर बाह्यधर्म का साधन करे; जहाँ भोजनादिक उपकार कोई न करे, वहाँ संक्लेश करे, याचना करे, उपाय करे, अथवा धर्म साधन में शिथिल हो जाये; तो उसे पापी ही जानना।

इसप्रकार सांसारिक प्रयोजनसहित जो धर्म साधते हैं; वे पापी भी हैं और मिथ्यादृष्टि तो हैं ही।

इसप्रकार जिनमतवाले भी मिथ्यादृष्टि जानना।[१]''

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो फिर जैनदर्शन के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था कैसे होगी ?

इसमें क्या परेशानी है। विश्वविद्यालय में अनेक विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता है; उनमें जैनदर्शन भी पढाया जाता है।

जिसप्रकार उचित निर्वाहव्यय लेकर अन्य विषय पढाये जाते हैं; उसीप्रकार यह भी पढाया जा सकता है। इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

पढानेवालों की बात तो बहुत दूर, शिविरों में पढनेवालों के भोजनादि की भी निशुल्क व्यवस्था रहती है और रहनी भी चाहिए; क्योंकि अध्ययन-अध्यापन करने-करानेवाले भोजनादि की व्यवस्था में उलझे रहेंगे तो फिर पूरे समय अध्ययन-अध्यापन कैसे करेंगे।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २१९

यदि धर्म का प्रचार-प्रसार करना है तो उसमें सभी प्रकार के लोगों की आवश्यकता है। पढनेवाले चाहिए, पढानेवाले चाहिए, लिखनेवाले चाहिए, उसे छपानेवाले चाहिए, उन छपे ग्रन्थों को जन-जन तक पहुँचाने वाले चाहिए, उठाने-रखनेवाले चाहिए।

जबतक ये सभी लोग दिन-रात पूरी तरह समर्पित लोग नहीं होंगे; तबतक कोई भी कार्य, कुशलता पूर्वक सम्पन्न नहीं हो सकता।

जो लोग उक्त कार्यों में से किसी भी कार्य के लिए पूरी तरह समर्पित होंगे; उनके निर्वाहव्यय की उचित व्यवस्था भी करनी होगी।

इसमें ऐसा कुछ नहीं है कि जिसमें कोई लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए जैनधर्म स्वीकार कर रहा हो या फिर उससे अपने उचित-अनुचित लौकिक कार्यों को सिद्ध कर रहा हो।

उक्त कार्यों में प्रश्नचिन्ह लगाकर हम प्रतिभाओं को इस क्षेत्र में आने से रोकते हैं। ऐसा करनेवालों को यह पता नहीं है कि वे अनजाने में ही जैनदर्शन का कितना अहित कर रहे हैं।

इसप्रकार अबतक कुलधर्म के रूप में जैनधर्म को स्वीकार करनेवाले व्यवहाराभासी, परीक्षा किये बिना मात्र आज्ञा से जैनधर्म को स्वीकार करनेवाले व्यवहाराभासी और सांसारिक प्रयोजन से जैनधर्म को स्वीकार करनेवाले व्यवहाराभासी लोगों की तथा महापुरुषों की संगति एवं देखा-देखी जैनधर्म को धारण करनेवाले लोगों की प्रवृत्ति पर विचार किया।

पण्डितजी कहते हैं कि उक्त व्यवहाराभासियों में तो धर्मबुद्धि ही नहीं है; परन्तु कुछ ऐसे व्यवहाराभासी भी इस जगत में हैं, जिन्होंने धर्मबुद्धि से जिनधर्म को धारण किया है।

अब अगले प्रवचन में उन धर्मबुद्धि से जैनधर्म धारण करनेवाले व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टियों की चर्चा करेंगे। ●

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

अठारहवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक का सातवाँ अधिकार चल रहा है। इसमें निश्चयाभासी का प्रकरण तो हो चुका है; परन्तु अभी व्यवहाराभासी का प्रकरण चल रहा है। इसमें भी कुल-अपेक्षा धर्मधारक, परीक्षारहित आज्ञानुसारी धर्मधारक एवं सांसारिक प्रयोजन से धर्म धारण करनेवाले व्यवहारभासी गृहीत मिथ्यादृष्टियों की चर्चा हो चुकी है; अब धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहारभासी मिथ्यादृष्टियों की चर्चा आरंभ करते हैं।

इनकी चर्चा आरंभ करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''तथा कितने ही धर्मबुद्धि से धर्म साधते हैं, परन्तु निश्चयधर्म को नहीं जानते; इसलिए अभूतार्थरूप धर्म को साधते हैं।

वहाँ व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग जानकर उनका साधन करते हैं।[१]''

यह तो आप जानते ही हैं कि शास्त्रों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता को मोक्षमार्ग कहा है[२] तथा निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग इसप्रकार मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से किया गया है।

निश्चयमोक्षमार्ग भूतार्थ है और व्यवहारमोक्षमार्ग अभूतार्थ है।[३]

ये धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि लोग निश्चय-मोक्षमार्ग को तो पहिचानते नहीं हैं और अभूतार्थ (असत्यार्थ) व्यवहार-मोक्षमार्ग की साधना करने लगते हैं। अत: यहाँ यह समझाना अभीष्ट है कि बिना निश्चय के व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना करनेवाले इन लोगों की प्रवृत्ति कैसी होती है और वह क्यों

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२१
२. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १
३. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा ११

ठीक नहीं है। सबसे पहले ये लोग व्यवहारसम्यग्दर्शन की साधना किसप्रकार करते हैं यह स्पष्ट करते हैं

''वहाँ शास्त्र में देव, गुरु व धर्म की प्रतीति करने से सम्यक्त्व होना कहा है। ऐसी आज्ञा मानकर अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु व जैनशास्त्रों के अतिरिक्त औरों को नमस्कारादि करने का त्याग किया है; परन्तु उनके (अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जैन शास्त्रों के) गुण-अवगुण की परीक्षा नहीं करते अथवा परीक्षा भी करते हैं तो तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा नहीं करते, बाह्य लक्षणों द्वारा परीक्षा करते हैं।

ऐसी प्रतीति से सुदेव-गुरु-शास्त्र की भक्ति में प्रवर्तते हैं।[१]''

'सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं।'[२] उक्त आगम वचन को आधार बनाकर ये लोग अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जैन शास्त्रों को छोड़कर अन्य देवादि को तो नमस्कार नहीं करते; परन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भी परीक्षा नहीं करते; यदि करते भी हैं तो तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा नहीं करते, बाह्य लक्षणों द्वारा परीक्षा करके संतुष्ट हो जाते हैं।

इसप्रकार ये लोग उक्त प्रतीति के साथ अरहंतादि की भक्ति करते हैं। यद्यपि ये लोग परीक्षाप्रधानी हैं, देव-शास्त्र-गुरु को परीक्षा करके ही स्वीकार करते हैं; तथापि इनकी परीक्षा में सही निर्णय क्यों नहीं हो पाता

इस बात की चर्चा करते हुए सबसे पहले देव के संदर्भ में बात करते हैं

''वहाँ अरहन्त देव हैं, इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, अनेक अतिशय सहित हैं, क्षुधादिदोष रहित हैं, शरीर की सुन्दरता को धारण करते हैं, स्त्री-संगमादि रहित हैं, दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं, केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानते हैं, काम-क्रोधादिक नष्ट किये हैं इत्यादि विशेषण कहे हैं। वहाँ इनमें से कितने ही विशेषण पुद्गलाश्रित हैं और कितने ही जीवाश्रित हैं, उनको भिन्न-भिन्न नहीं पहिचानते।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२१
२. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, छन्द..

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

जिसप्रकार कोई असमानजातीय मनुष्यादि पर्यायों में जीव-पुद्गल के विशेषणों को भिन्न-भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है; उसीप्रकार यह भी असमानजातीय अरहन्त पर्याय में जीव-पुद्गल के विशेषणों को, भिन्न-भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है।

तथा जो बाह्य विशेषण हैं, उन्हें जानकर उनके द्वारा अरहन्तदेव को महंतपना विशेष मानता है और जो जीव के विशेषण हैं, उन्हें यथावत् न जानकर उनके द्वारा अरहंतदेव को महंतपना आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा मानता है; क्योंकि यथावत् जीव के विशेषण जाने तो मिथ्यादृष्टि न रहे।[१]''

देखो, पण्डितजी कह रहे हैं कि अरहंतदेव की जिन विशेषताओं की चर्चा ऊपर की गई; उनमें कुछ विशेषण तो पुद्गलाश्रित है और कुछ विशेषण आत्माश्रित हैं। केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानना और काम-क्रोधादि नष्ट करना ये विशेषण तो आत्माश्रित हैं; क्योंकि ये आत्मा की निर्मल पर्याये हैं और अरहंतदेव की वीतरागता और सर्वज्ञता को प्रगट करते हैं। तथा शरीर की सुंदरता और दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश ये विशेषण पुद्गलाश्रित हैं; क्योंकि ये पौद्गलिक आहार वर्गणा और भाषा वर्गणा के कार्य हैं।

अरहंतदेव की पूज्यता का आधार तो उनकी वीतरागता और सर्वज्ञता है; देह की सुंदरता और हित-मित-प्रिय वचन नहीं; किन्तु इस व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि को वीतरागता और सर्वज्ञता की तो पहिचान ही नहीं है; यह तो शरीर और वाणी संबंधी अतिशयों से प्रभावित होकर उनकी पूजा करने लगता है।

यदि उनकी वीतरागता का सही ज्ञान हो जावे तो फिर उनसे कुछ माँगने का भाव नहीं आ सकता और सर्वज्ञता का सही ज्ञान हो जावे तो यह समझते देर नहीं लगेगी कि होगा तो वही, जो उनके ज्ञान में झलका होगा। ऐसी श्रद्धा होते ही जगत में फेरफार करने की बुद्धि समाप्त हो

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२१

जावेगी; पर वीतरागता और सर्वज्ञता का सही ज्ञान नहीं होने से माँगने की वृत्ति और जगत में फेरफार करने की बुद्धि समाप्त नहीं होती।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इनकी भी वही स्थिति है, जो स्थिति मनुष्यादि पर्याय में एकत्वबुद्धि धारण करनेवाले सामान्य मिथ्यादृष्टियों की होती है।

किसी विद्वान का अभिनंदन हो रहा हो; उस समय हम उसकी विद्वत्ता की तो चर्चा न करें; पर धोती-कुर्ता और टोपी का बखान करने लगें; तो क्या यह उचित होगा ? पर बातें तो ऐसी ही होती हैं कि तन पर धवल वस्त्र, एकदम झकाझक धोती-कुर्ता और नोकदार टोपी हमेशा उनके तन पर रहती है। क्या इन धोती-कुर्ता और टोपी के कारण ही उनका अभिनंदन हो रहा है या विद्वत्ता के कारण ? पर सामान्यजन तो ड्रेस से ही आकर्षित होते हैं; उसीप्राकर ये व्यवहाराभासी भी बाह्य चमत्कारों से प्रभावित होकर अरहंतादि की भक्ति करते हैं।

इन व्यवहाराभासियों जैसी बाह्यदृष्टि के कारण ही आज शास्त्रों का अध्येता आत्मानुभवी विद्वान बड़ा पण्डित नहीं माना जाता; अपितु वह नाचने-गानेवाला, चन्दा करने में चतुर, तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ पेशेवर पण्डित ही बड़ा पण्डित माना जाता है। पण्डित की बात तो जाने दो ये व्यवहाराभासी तो अरहंत भगवान को भी सर्वज्ञता और वीतरागता के कारण नहीं, बाह्य चमत्कारों के कारण ही महान मानते हैं।

व्यवहाराभासियों की उक्त प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए पण्डित टोडरमलजी आगे लिखते हैं

''तथा उन अरहंतों को स्वर्ग-मोक्षदाता, दीनदयाल, अधम उधारक, पतितपावन मानता है; सो जैसे अन्यमती कर्तृत्वबुद्धि से ईश्वर को मानता है; उसीप्रकार यह अरहंतदेव को मानता है। ऐसा नहीं जानता कि फल तो अपने परिणामों का लगता है, अरहंत तो उनको निमित्तमात्र हैं, इसलिए उपचार द्वारा ये विशेषण सम्भव होते हैं।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहंत ही स्वर्ग-मोक्षादि के दाता नहीं हैं। तथा अरहंतादिक के नामादिक से श्वानादिक ने स्वर्ग प्राप्त किया, वहाँ नामादिक का ही अतिशय मानते हैं; परन्तु बिना परिणाम के नाम लेनेवाले को भी स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, तब सुननेवाले को कैसे होगी ? श्वानादिक को नाम सुनने के निमित्त से कोई मंदकषायरूप भाव हुए हैं, उनका फल स्वर्ग हुआ है; उपचार से नाम ही की मुख्यता की है।

तथा अरहंतादिक के नाम-पूजनादि से अनिष्ट सामग्री का नाश तथा इष्ट सामग्री की प्राप्ति मानकर रोगादि मिटाने के अर्थ व धनादिक की प्राप्ति के अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट-अनिष्ट का कारण तो पूर्वकर्म का उदय है, अरहंत तो कर्त्ता हैं नहीं।

अरहंतादिक की भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामों से पूर्व पाप के संक्रमणादि हो जाते हैं; इसलिए उपचार से अनिष्ट के नाश का व इष्ट की प्राप्ति का कारण अरहंतादिक की भक्ति कही जाती है; परन्तु जो जीव प्रथम से ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है, उसके तो पाप ही का अभिप्राय हुआ। कांक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए उनसे पूर्व पाप के संक्रमणादि कैसे होंगे ? इसलिए उसका कार्य सिद्ध नहीं हुआ।[१]''

पण्डित टोडरमलजी के उक्त कथन में यह बात स्पष्टरूप से कही गई है कि जिसप्रकार ईश्वरवादी ईश्वर को जगत का कर्ता-धर्ता, स्वर्ग-मोक्ष दाता, अधमों का उद्धार करनेवाला, पतितों को पवित्र करनेवाला मानता है; उसीप्रकार यह व्यवहाराभासी जैन अरहंत भगवान को जगत का कर्ता-धर्ता, स्वर्ग-मोक्षदाता, अधमों का उद्धार करनेवाला, पतितों को पवित्र करनेवाला मानता है। मात्र नाम का ही अन्तर है, मान्यता में कोई अन्तर नहीं है।

अपनी बात को पुष्ट करने के लिए वह प्रमाण भी प्रस्तुत करता है; पर

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२२

पण्डितजी का कहना यह है कि फल तो अपने परिणामों का ही लगता है, **अरहंत तो मात्र निमित्त हैं। उन्हें कर्ता कहना मात्र उपचरित कथन है।**

अपने मिथ्या अभिप्राय का पोषण करता हुआ वह कहता है कि भक्ति से प्रसन्न होकर अरहंत भगवान तो कुछ नहीं करते; परन्तु पापों का संक्रमण हो जाता और भक्तों का काम हो जाता है।

वस्तुत: बात तो यह है कि भोगों की कामना से भक्ति करनेवालों को तो पुण्यबंध भी नहीं होता, पापबंध होता है; क्योंकि उनका अभिप्राय तो अपने पाप भावों के पोषण का होता है। पाप का उदय आने पर तो काम बनते नहीं, बिगड़ते हैं। अत: यह आश्वासन देना कि तेरी भक्ति से कर्मों का संक्रमण होकर तेरा काम बन जायेगा, एक प्रकार से मिथ्या मान्यता का पोषण करना ही है।

अनेक लोग ऐसे भी हैं; जो भगवान की भक्ति को मुक्ति का कारण मानते हैं। उन लोगों को लक्ष्य में रखकर पण्डितजी लिखते हैं

''तथा कितने ही जीव भक्ति को मुक्ति का कारण जानकर वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। वह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ। परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बंध है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है।[१]''

अन्यमतियों के समान ही कुछ जैन लोग भी भक्ति को मुक्ति का कारण मान लेते हैं; परन्तु जैन मान्यतानुसार तो भक्ति शुभभावरूप होने से पुण्यबंध का कारण है। अरे, भाई ! **जो भाव बंध का कारण हो, वही भाव मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ?**

इस पर यदि कोई कहे कि यदि ऐसा है तो फिर हम भक्ति करें ही क्यों?

इस प्रश्न के उत्तर में पण्डितजी कहते हैं

''जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो, इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिए ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२२

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

को बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं; परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर संतुष्ट नहीं होते, शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते हैं।

वही पंचास्तिकाय व्याख्या में कहा है

इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्ररागज्वर-विनोदार्थमस्थानरागनिषेधार्थं क्वचित् ज्ञानिनोऽपि भवति।[१]

यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके ऐसे अज्ञानी जीव के होती है। तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ कदाचित् (कभी-कभी) ज्ञानी के भी होती है।[२]''

पंचास्तिकाय की समयव्याख्या नामक टीका का उक्त उद्धरण टिप्पणी में मूलतः दिया गया है। उसका हुबहू अनुवाद इसप्रकार है

''वस्तुतः यह भक्ति संबंधी प्रशस्तराग, मात्र भक्ति है प्रधान जिसे, ऐसे स्थूल लक्ष्यवाले अज्ञानी को होता है; उच्चभूमिका में स्थिति प्राप्त न की हो तब, अस्थान का राग रोकने के लिए अथवा तीव्र राग ज्वर मिटाने के लिए कदाचित् ज्ञानी को भी होता है।''

देखो, कितने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ज्ञानीजन मुक्ति प्राप्त करने के लिए भगवान की भक्ति नहीं करते; क्योंकि वे बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि **व्यवहारभक्ति शुभरागरूप होने से पुण्यबंध का कारण तो है; परन्तु मुक्ति का कारण नहीं है।**

यद्यपि यह परमसत्य है कि ज्ञानीजन मुक्ति के लिए तो भक्ति नहीं करते; तथापि उन्हें भगवान की भक्ति करते हुए देखा तो जाता है।

हाँ, देखा जाता है; क्योंकि तीव्ररागरूपी ज्वर से बचने के लिए और भोगों के लक्ष्य से होनेवाले राग से बचने के लिए वे कदाचित् (कभी-कभी) भक्ति में भी प्रवर्तते हैं।

---

१. अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति। (गाथा १३६ की टीका)

२. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२२

देखो, यहाँ **कदाचित्** शब्द का प्रयोग है। तात्पर्य यह है कि वे भक्ति आदि कार्यों में सदा नहीं, कदाचित् (कभी-कभी) ही प्रवृत्ति करते हैं।

यह कथन मात्र पण्डित टोडरमलजी का ही नहीं है, अपितु आचार्य अमृतचन्द्र का है; क्योंकि यह कथन पंचास्तिकाय की आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयव्याख्या नामक टीका का है; पण्डित टोडरमलजी ने तो मात्र यहाँ उद्धृत किया है।

यह तो हम पहले स्पष्ट कर आये हैं कि टोडरमलजी ने अधिकांश उद्धरण अपनी स्मृति के आधार पर ही दिये हैं; क्योंकि उस समय प्रत्येक ग्रन्थ की उपलब्धि सदा सर्वत्र सहज नहीं थी।

पंचास्तिकाय संबंधी उक्त उद्धरण में भी यही हुआ है। पण्डितजी ने **क्वचित्** शब्द का प्रयोग किया है, जबकि पंचास्तिकाय की समयव्याख्या टीका में **कदाचित्** शब्द प्राप्त होता है।

अनेक शब्दकोशों को देखने पर पता चलता है कि दोनों शब्दों का लगभग एक ही अर्थ है। शब्दकोशों में जो अर्थ प्राप्त हुए हैं; वे इसप्रकार हैं कभी, कभी-कभी, बहुत कम आदि। शब्दकोशों में प्राप्त सभी अर्थों से एक ही बात प्रतिफलित होती है कि ज्ञानीजनों को भक्ति का भाव सदा नहीं, कभी-कभी ही आता है। जब भी आता है, अशुभभाव से बचने के लिए ही आता है, पुण्यकर्म बांधने के लिए नहीं।

निश्चयभक्ति तो ज्ञानी को सदा विद्यमान ही रहती है; परन्तु शुभभाव और शुभक्रियारूप व्यवहार भक्ति कभी-कभी होती है।

इससे तो ऐसा लगता है कि ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी को भक्ति विशेष होती होगी; क्योंकि अज्ञानी भक्ति को मुक्ति का कारण मानता है।

इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित होने पर टोडरमलजी कहते हैं

''यथार्थता की अपेक्षा तो ज्ञानी के सच्ची भक्ति है, अज्ञानी के नहीं है और रागभाव की अपेक्षा अज्ञानी के श्रद्धान में भी उसे मुक्ति का कारण जानने से अति अनुराग है, ज्ञानी के श्रद्धान में शुभबन्ध का

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

कारण जानने से वैसा अनुराग नहीं है।

बाह्य में कदाचित् (कभी) ज्ञानी को अनुराग बहुत होता है, कभी अज्ञानी को होता है ऐसा जानना।[१]''

यद्यपि सच्ची भक्ति तो ज्ञानी के ही होती है; क्योंकि वह भगवान की वीतरागता और सर्वज्ञता को भलीभाँति पहिचानता है; तथापि अज्ञानी की भक्ति में जैसा अति-अनुराग देखा जा सकता है, वैसा ज्ञानी की भक्ति में नहीं; क्योंकि अज्ञानी तो उसे मुक्ति का कारण मानता है और ज्ञानी उसे बंध का कारण जानता है।

उक्त कथन तो दोनों की श्रद्धा की अपेक्षा है; अत: **जितना जोर अज्ञानी की भक्ति में होगा; उतना जोर ज्ञानी की भक्ति में संभव नहीं है।** बाह्य में कभी ज्ञानी को भी अधिक अनुराग हो सकता है और कभी अज्ञानी को भी हो सकता है।

इसप्रकार व्यवहाराभासी की देवभक्ति के संबंध में चर्चा करने के उपरान्त अब उसी की गुरुभक्ति के बारे में बात करते हैं

''कितने ही जीव आज्ञानुसारी हैं। वे तो कहते हैं यह जैन साधु हैं, हमारे गुरु हैं, इसलिए इनकी भक्ति करनी ऐसा विचारकर उनकी भक्ति करते हैं। और कितने ही जीव परीक्षा भी करते हैं।

वहाँ यह मुनि दया पालते हैं, शील पालते हैं, धनादि नहीं रखते, उपवासादि तप करते हैं, क्षुधादि परीषह सहते हैं, किसी से क्रोधादि नहीं करते हैं, उपदेश देकर औरों को धर्म में लगाते हैं इत्यादि गुणों का विचार कर उनमें भक्तिभाव करते हैं। परन्तु ऐसे गुण तो परमहंसादिक अन्यमतियों में तथा जैनी मिथ्यादृष्टियों में भी पाये जाते हैं, इसलिए इनमें अतिव्याप्तिपना है। इनके द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती।

तथा जिन गुणों का विचार करते हैं, उनमें कितने ही जीवाश्रित हैं, कितने ही पुद्गलाश्रित हैं; उनके विशेष न जानते हुए असमानजातीय मुनिपर्याय में एकत्वबुद्धि से मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२३

तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग; वह ही मुनियों का सच्चा लक्षण है, उसे नहीं पहिचानते; क्योंकि यह पहिचान हो जाये तो मिथ्यादृष्टि रहते नहीं।

इसप्रकार यदि मुनियों का सच्चा स्वरूप ही नहीं जानेंगे तो सच्ची भक्ति कैसे होगी ? पुण्यबंध के कारणभूत शुभक्रियारूप गुणों को पहिचानकर उनकी सेवा से अपना भला होना जानकर उनमें अनुरागी होकर भक्ति करते हैं।[१]''

अधिकांश लोग तो यह मानकर ही गुरुओं की पूजा-भक्ति करते हैं कि ये जैन साधु हैं, हमारे गुरु हैं; इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम इनकी पूजा-भक्ति करें।

यदि कुछ लोग परीक्षा भी करते हैं तो उन बातों की परीक्षा करते हैं; जो अन्यमतवाले साधुओं में भी प्राप्त होती है। दया का पालन करना, धनादि का नहीं रखना, उपवासादि करना ये बातें तो ऐसी ही हैं कि लगभग सभी धर्मवाले साधुओं के प्राप्त हो जाती हैं। इनके आधार पर दिगम्बर जैन साधुता के स्वरूप का निर्णय कैसे हो सकता ?

जिनगुणों के आधार पर परीक्षा की जाती है, उनमें कुछ गुण तो आत्माश्रित होते हैं और कुछ देहाश्रित। देहाश्रित गुणों के आधार पर की परीक्षा सही निर्णय पर पहुँचाने में समर्थ नहीं है।

साधुओं का सच्चा लक्षण तो उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग होना है। ये असली धार्मिक क्रियायें हैं। इन्हें पहिचाने बिना पुण्यबंध के कारणरूप शुभभाव और शुभक्रियाओं के आधार पर उन्हें महान मानकर उनकी पूजा-भक्ति करने को ठीक कैसे कहा जा सकता है ?

इसप्रकार व्यवहाराभासी जीव गुरुभक्ति किसप्रकार करते हैं और वह उचित क्यों नहीं है यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब वे व्यवहाराभासी

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२३

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

शास्त्रभक्ति किसप्रकार करते हैं इसकी बात करते हैं

''कितने ही जीव तो यह केवली भगवान की वाणी है, इसलिए केवली के पूज्यपने के कारण यह भी पूज्य है ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। तथा कितने ही इसप्रकार परीक्षा करते हैं कि इन शास्त्रों में विरागता, दया, क्षमा, शील, संतोषादिक का निरूपण है; इसलिए यह उत्कृष्ट है ऐसा जानकर भक्ति करते हैं।

सो ऐसा कथन तो अन्य शास्त्र वेदान्तादिक में भी पाया जाता है।

तथा इन शास्त्रों में त्रिलोकादिक का गंभीर निरूपण है; इसलिए उत्कृष्टता जानकर भक्ति करते हैं; परन्तु यहाँ अनुमानादिक का तो प्रवेश नहीं है; इसलिए सत्य-असत्य का निर्णय करके महिमा कैसे जानें ? इसलिए इसप्रकार सच्ची परीक्षा नहीं होती।

यहाँ तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादितत्त्वों का निरूपण है और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दिखलाया है। उसी से जैनशास्त्रों की उत्कृष्टता है, उसे नहीं पहिचानते; क्योंकि यह पहिचान हो जाये तो मिथ्यादृष्टि रहती नहीं।[१]''

यहाँ **मिथ्यादृष्टि रहती नहीं** का अर्थ यह है कि दृष्टि में मिथ्यात्व नहीं रहता।

जिसप्रकार के तर्क गुरुभक्ति के संदर्भ में दिये गये हैं, लगभग उसीप्रकार के तर्क यहाँ शास्त्रभक्ति के संदर्भ में भी दिये गये हैं।

कुछ व्यवहाराभासी लोग तो 'यह केवली भगवान की वाणी है, इसलिए पूज्य है' मात्र इतना जानकर शास्त्रभक्ति करते हैं।

यदि कुछ लोग परीक्षा भी करते हैं तो इनमें दया, दान, क्षमा आदि की अच्छी-अच्छी बातें हैं; इसलिए ये महान हैं ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। परन्तु **ये दया-दानादि की बातें तो लगभग सभी धर्मों के साहित्य में प्राप्त होती हैं; इनसे दिगम्बर जैन शास्त्रों की सच्चाई और अच्छाई कैसे जानी जा सकती है?**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२३-२२४

कुछ लोग यह कहते हैं कि इसमें तीन लोकों का गंभीर वर्णन है; पर उक्त कथन की परीक्षा करना संभव नहीं है; क्योंकि 'सुमेरु पर्वत एक लाख योजन का है' इस बात की सच्चाई जानने का हमारे पास क्या उपाय है? इस बात को सिद्ध करना भी संभव नहीं है; क्योंकि हमारे पास कोई ऐसी युक्ति या तर्क नहीं है कि हम इस बात को प्रमाणित कर सकें।

उक्त कथनों के आधार पर शास्त्रों की परीक्षा करना संभव नहीं है।

इन शास्त्रों में अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप का निरूपण है, सात तत्त्वों की चर्चा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की चर्चा है। इन बातों की परीक्षा भी संभव है और इनके कारण ही शास्त्र महान हैं; क्योंकि इन्हें जाने बिना दुख से मुक्त होना संभव नहीं है।

ये व्यवहारभासी लोग इनको तो जानते ही नहीं हैं। यदि जानते होते तो दृष्टि का मिथ्यात्व गये बिना नहीं रहता।

इसप्रकार व्यवहाराभासियों की शास्त्रभक्ति का अन्यथा रूप प्रस्तुत किया। अब देव-शास्त्र-गुरु संबंधी उक्त प्रकरण का समापन करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''इसप्रकार इसको देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति हुई, इसलिए व्यवहारसम्यक्त्व हुआ मानता है। परन्तु उनका सच्चा स्वरूप भासित नहीं हुआ है; इसलिए प्रतीति भी सच्ची नहीं हुई है। सच्ची प्रतीति के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती; इसलिए यह मिथ्यादृष्टि ही है।[१]''

तात्पर्य यह है कि जिनागम में देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है, पर इसकी देव-शास्त्र-गुरु संबंधी मान्यता भी सही नहीं है; अत: यह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

देखो, कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र या कुधर्म संबंधी मान्यता की चर्चा गृहीत मिथ्यात्व के प्रकरण में तीन स्थानों पर की गयी है।

पहली बार तो जैनेतर कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र संबंधी चर्चा

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२४

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

पाँचवें अधिकार में; दूसरी बार बीस पंथ संबंधी कुदेव, कुगुरु और कुधर्म संबंधी चर्चा छठवें अधिकार में और यह तीसरी बार शुद्ध तेरापंथ संबंधी कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र संबंधी चर्चा इस सातवें अधिकार में व्यवहाराभासी के प्रकरण में इसप्रकार तीन स्थानों पर इनकी चर्चा हुई है। प्रकरण के अनुसार उस चर्चा का स्वरूप भी बदलता गया है।

यदि हम इस बात पर बारीकी से ध्यान देकर अध्ययन करें तो यह सब स्पष्ट होता चला जायेगा कि उक्त चर्चाओं में परस्पर क्या अन्तर है।

इसप्रकार व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि की देव-शास्त्र-गुरु संबंधी मान्यता पर विचार करने के उपरान्त अब देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान के समान तत्त्वार्थों के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है; इसलिए इस व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि के तत्त्वार्थश्रद्धान के संदर्भ में विचार करते हैं।

व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि का तत्त्वार्थश्रद्धान क्यों सही नहीं है इस बात को प्रस्तुत करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''तथा शास्त्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' (तत्त्वार्थसूत्र १-२) ऐसा वचन कहा है इसलिए शास्त्रों में जैसे जीवादि तत्त्व लिखे हैं, वैसे आप सीख लेता है और वहाँ उपयोग लगाता है, औरों को उपदेश देता है; परन्तु उन तत्त्वों का भाव भासित नहीं होता और यहाँ उस वस्तु के भाव ही का नाम तत्त्व कहा है। सो भाव भासित हुए बिना तत्त्वार्थ-श्रद्धान कैसे होगा ?[१]''

पण्डितजी कहते हैं कि ये व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि लोग जीवादि तत्त्वों के नाम, परिभाषा आदि तो शास्त्रानुसार सीख लेते हैं; क्योंकि शास्त्रों में तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

न केवल स्वयं सीखते हैं; अपितु दूसरे लोगों को भी सिखाते हैं, उनके गुरु बन जाते हैं; परन्तु वास्तविक स्थिति तो ऐसी है कि इन्हें स्वयं को भी उक्त तत्त्वों का भाव भासित नहीं होता।

ये लोग तो तोते के समान उनके नाम सीख लेते हैं, उनकी परिभाषायें

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२४

रट लेते हैं, उनके भेद-प्रभेदों को याद कर लेते हैं; पर यह नहीं समझते कि इनका वास्तविक भाव क्या है ?

यदि भाव भासित नहीं हुआ तो, वस्तुत: उनका ज्ञान ही नहीं हुआ है; क्योंकि भावभासन बिना कोरे जानने को कोई अर्थ नहीं होता।

जबतक तत्त्वार्थों का भाव भासित नहीं होगा, तबतक तत्त्वार्थ का श्रद्धान भी संभव नहीं है; अत: वे व्यवहाराभासी लोग मिथ्यादृष्टि ही हैं।

यदि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए तत्त्वों का भावभासन इतना आवश्यक है तो यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि भावभासन शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है, आखिर भावभासन कहते किसे हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डित टोडरमलजी कहते हैं

''जैसे कोई चतुर पुरुष होने के अर्थ शास्त्र द्वारा स्वर, ग्राम, मूर्छना, रागों का स्वरूप और ताल-तान के भेद तो सीख लेता है; परन्तु स्वरादिक का स्वरूप नहीं पहिचानता। स्वरूप की पहिचान हुए बिना अन्य स्वरादिक को अन्य स्वरादिकरूप मानता है अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नहीं मानता है; इसलिए उसके चतुरपना नहीं होता।

उसीप्रकार कोई जीव सम्यक्त्वी होने के अर्थ शास्त्र द्वारा जीवादिक तत्त्वों का स्वरूप सीख लेता है; परन्तु उनके स्वरूप को नहीं पहिचानता है। स्वरूप को पहिचाने बिना अन्य तत्त्वों को अन्य तत्त्वरूप मान लेता है अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नहीं मानता; इसलिए उसके सम्यक्त्व नहीं होता।[१]''

यहाँ संगीत शास्त्र के उदाहरण के माध्यम से तत्त्वों के भावभासन को समझाया गया है। जिसप्रकार कोई व्यक्ति स्वरों व रागों के नाम, परिभाषायें और उदाहरण तो रट ले; पर जब कोई व्यक्ति उसी राग को गा रहा हो तो न जान पाये कि यह कौनसा स्वर है या कौनसा राग है तो समझ लेना कि इसे स्वरों का, रागों का भावभासन नहीं है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२४-२२५

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इसीप्रकार यह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि जीवाजीवादि तत्त्वों के नाम तो सीख लेता है, परिभाषायें तो रट लेता है, पर दृष्टि के विषयभूत जीवतत्त्व को न पहिचान पाता; ऐसी स्थिति में वह अपनापन किसमें स्थापित करेगा, किसे निजरूप जानेगा और ध्यान भी किसका करेगा? यदि जीवतत्त्व का ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान नहीं हुआ तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी नहीं होंगे। इनके बिना मुक्ति का मार्ग कैसे प्राप्त होगा?

अब इसी बात को आगे बढाते हुए पण्डितजी कहते हैं

''तथा जैसे कोई शास्त्रादि पढा हो या न पढा हो; परन्तु स्वरादिक के स्वरूप को पहिचानता हो तो वह चतुर ही है; उसीप्रकार शास्त्र पढा हो या न पढा हो; यदि जीवादिक के स्वरूप को पहिचानता है तो वह g å` ½&[ï >hr h¡&[१''

ऐसे बहुत से ग्रामीण लोग होते हैं कि जिन्हें संगीत शास्त्र का अध्ययन तो नहीं होता; परन्तु वे संगीत के स्वरों को पहिचानते हैं; उसीप्रकार ऐसे भी **अनेक लोग होते हैं कि जिन्हें जैनदर्शन का गहरा अध्ययन तो न हो; पर वे जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को, भाव को भलीभाँति जानते हों, तो उन्हें उनका भावभासन होता है।**

इस पर भी यदि किसी को कोई विकल्प हो तो उसके विकल्प का शमन करते हुए पण्डितजी कहते हैं

''जैसे हिरन स्वर-रागादिक का नाम नहीं जानता, परन्तु उसके स्वरूप को पहिचानता है; उसीप्रकार तुच्छबुद्धि जीवादिक का नाम नहीं जानते, परन्तु उनके स्वरूप को पहिचानते हैं कि 'यह मैं हूँ, ये पर हैं; ये भाव बुरे हैं, ये भले हैं' इसप्रकार स्वरूप को पहिचाने उसका नाम भाव भासना है।[२]''

देखो, यहाँ पण्डितजी हिरण का उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि जब हिरण जैसे पशु को स्वरों का भावभासन हो

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२४
२. वही, पृष्ठ २२४

जाता है तो अल्पबुद्धि जीवों को आत्मतत्त्व का भावभासन क्यों नहीं हो सकता ?

उक्त बात की पुष्टि में शिवभूति मुनि का उदाहरण देते हुए पण्डितजी कहते हैं

''शिवभूति मुनि जीवादिक का नाम नहीं जानते थे, और 'तुषमास-भिन्नं'[१] ऐसा रटने लगे। सो यह सिद्धान्त का शब्द था नहीं; परन्तु स्व-पर के भावरूप ध्यान किया, इसलिए केवली हुए।

और ग्यारह अंग के पाठी जीवादि तत्त्वों के विशेष भेद जानते हैं; परन्तु भाव भासित नहीं होता, इसलिए मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।[२]''

शिवभूति मुनि संबंधी जो गाथा टिप्पणी में दी गई है; उसका भाव इसप्रकार है **''शिवभूति नामक महानुभाव तुषमास शब्दों को रटते हुए भावों की विशुद्धता से केवलज्ञानी हुए।''**

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आत्मज्ञान के लिए, आत्मानुभूति के लिए, यहाँ तक कि केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए भी; न तो अत्यधिक बुद्धि की आवश्यकता है और न अधिक शास्त्रों के अध्ययन की भी आवश्यकता है।

सैनी पंचेन्द्रिय कोई व्यक्ति प्रयोजनभूत तत्त्वों को भावभासनपूर्वक जान ले, पहिचान ले और उनमें से अपने आत्मतत्त्व को जान ले, निजरूप जान ले, उसी में अपनापन स्थापित कर ले और उसी में जम जावे, रम जावे तथा उसी में समा जावें तो अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। यदि आत्मतत्त्व का भावभासन नहीं हुआ तो सम्पूर्ण पठन-पाठन निष्फल ही समझो। ●

१. तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ।। भावपाहुड, ५३।।
कहाँ तक बतावें अरे महिमा तुम्हें भावविशुद्धि की।
तुषमास पद को धोखते शिवभूति केवलि हो गये।।५३।।
२. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२४-२२५

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

उन्नीसवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक का सातवाँ अधिकार चल रहा है। इसमें भी व्यवहाराभासी के प्रकरण में धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासियों की चर्चा चल रही है। सम्यग्दर्शन के प्रकरण में देव-शास्त्र-गुरु संबंधी चर्चा तो हो चुकी है; अब सात तत्त्वों संबंधी चर्चा करना है।

जीवादि सात तत्त्वों के संबंध में व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि की समझ कैसी होती है अब यह स्पष्ट करते हैं।

सबसे पहले जीव और अजीव तत्त्वों के संबंध में व्यवहाराभासी की धारणा को स्पष्ट करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''जिनशास्त्रों से जीव के त्रस-स्थावरादिरूप तथा गुणस्थान-मार्गणास्थानादिरूप भेदों को जानता है, अजीव के पुद्गलादि भेदों को तथा उनके वर्णादि विशेषों को जानता है; परन्तु अध्यात्मशास्त्रों में भेदविज्ञान का कारणभूत व वीतरागदशा होने का कारणभूत जैसा निरूपण किया है, वैसा नहीं जानता।

तथा किसी प्रसंगवश उसीप्रकार जानना हो जाये, तब शास्त्रानुसार जान तो लेता है; परन्तु अपने को आपरूप जानकर पर का अंश भी अपने में न मिलाना और अपना अंश भी पर में न मिलाना ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है।

जैसे अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्यायबुद्धि से जानपने में व वर्णादि में अहंबुद्धि धारण करते हैं; उसीप्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादि में तथा शरीराश्रित उपदेश-उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है।

तथा कभी शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है; परन्तु अंतरंग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है। इसलिए जिसप्रकार मतवाला माता को माता भी कहे, तो भी वह सयाना नहीं है; उसीप्रकार इसे सम्यक्त्वी नहीं कहते।

तथा जैसे किसी और की ही बातें कर रहा हो, उसप्रकार से आत्मा का कथन करता है; परन्तु यह आत्मा 'मैं हूँ' ऐसा भाव भासित नहीं होता।

तथा जैसे किसी और को और से भिन्न बतलाता हो, उसप्रकार आत्मा और शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है; परन्तु मैं इन शरीरादिक से भिन्न हूँ ऐसा भाव भासित नहीं होता।

तथा पर्याय में जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन्हें दोनों द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न हुई जानता है; यह जीव की क्रिया है, उसका पुद्गल निमित्त है, यह पुद्गल की क्रिया है, उसका जीव निमित्त है ऐसा भिन्न-भिन्न भाव भासित नहीं होता।

इत्यादि भाव भासित हुए बिना उसे जीव-अजीव का सच्चा श्रद्धानी नहीं कहते; क्योंकि जीव-अजीव को जानने का तो यह ही प्रयोजन था, वह हुआ नहीं।[१]''

उक्त कथन में यह बताया गया है कि यह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि जीव जीव और अजीव तत्त्व के संदर्भ में किसप्रकार की गलतियाँ करता है।

यद्यपि इसने जैनशास्त्रों का अध्ययन किया है, विद्वान है; क्योंकि जैनशास्त्रों में कहे अनुसार यह जीवों के त्रस-स्थावरादि भेदों को जानता है; गुणस्थान-मार्गणादि के विशेषों को भी जानता है तथा पुद्गलादि द्रव्यों के भेदों और उनके वर्णादि विशेषों को भी जानता है; तथापि **जैनशास्त्रों में जो अध्यात्मशास्त्र हैं; उनमें जो जीव-अजीव के बीच भेदविज्ञान कराया गया है, वीतरागता उत्पन्न हो ऐसा कथन किया गया है; उसके रहस्य को नहीं जानता। इसलिए जीव और अजीव को जानने का जो लाभ होना चाहिए, वह नहीं होता।**

यदि किसी प्रसंग से, किसी ज्ञानी विद्वान के द्वारा विशेष समझाने से उक्त कथन का जानना भी हो जावे तो जैसा शास्त्रों में लिखा है वैसा

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२५-२२६

जान तो लेता है; पर भेद जानने का अर्थ यह है कि **स्वयं को निजरूप जानकर अपना अंश पर में नहीं मिलाना और पर का अंश अपने में नहीं मिलाना ऐसा श्रद्धान नहीं करता;** क्योंकि उसने उसे रुचिपूर्वक स्वीकार नहीं किया है, समझ-बूझकर तत्संबंधी निर्णय नहीं किया है; मात्र प्रसंगवश जान लिया है।

जिसप्रकार अन्य गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव निर्णय किये बिना ही पर्याय में एकत्वबुद्धि के कारण जाननेरूप ज्ञान में और गोरे-कालेरूप शरीर के रूप-रंग में अपनापन स्थापित किये रहते हैं; उसीप्रकार यह शास्त्राभ्यासी व्यवहारभासी जैन गृहीत मिथ्यादृष्टि भी आत्मा में होनेवाले ज्ञानादिभावों में और शरीर के आश्रय से होनेवाले उपदेश व उपवासादि कार्यों में एक सा अपनापन स्थापित किये रहते हैं; **ज्ञान जीव की क्रिया है और उपदेश भाषावर्गणारूप पुद्गल की क्रिया है ऐसा भेद नहीं जानते।**

इसप्रकार यह व्यवहाराभासी **जाननेरूप निज क्रिया के समान ही उपदेशरूप भाषावर्गणा की क्रिया का कर्ता-भोक्ता स्वयं को मानता है, जानता है।**

समझना ज्ञान है और समझाना उपदेश। **समझने का काम ज्ञान का है और समझाने का काम भाषा का;** क्योंकि उपदेश किसी न किसी भाषा में ही दिया जाता है। इसप्रकार समझना अपना (आत्मा का) काम है और समझानेरूप उपदेश भाषावर्गणारूप पुद्गल का कार्य है; परन्तु यह दोनों का कर्ता स्वयं को मानता है। यह इसका अज्ञान है।

तात्पर्य यह है कि समझरूप ज्ञान का कर्ता तो आत्मा है, परन्तु उपदेशरूप भाषा का कर्ता आत्मा नहीं है। यह व्यवहाराभासी ज्ञान के साथ-साथ भाषा का कर्ता भी स्वयं को मानता है। यही इसकी भूल है।

कभी-कभी तो कहता है कि भाई समझना तो आसान है, पर समझाना कठिन है। इसप्रकार स्वयं को समझने की अपेक्षा समझाने के कारण अधिक महान मानता है। अरे, भाई ! ऐसा कहो कि समझना

संभव है; क्योंकि वह स्वयं का कार्य है; पर किसी को समझाना कठिन नहीं, असंभव है; क्योंकि दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है। अत: एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता।

ज्ञानी समझने से होते हैं, समझाने से नहीं; पर यह अभिमान से कहता है कि मेरी वाणी में जादू है; जब मैं समझाता हूँ तो लोग झूम उठते हैं। इसप्रकार समझाने की कला के कारण स्वयं को बड़ा माननेवाले व्यवहाभासी मिथ्यादृष्टि हैं।

शास्त्र की मर्यादा में रहकर बोलने के कारण कभी-कभी इसके वचन सच्चे भी हो सकते हैं, होते हैं; परन्तु अंतरंग में सम्यक् निर्णय न होने से इसका श्रद्धान सम्यक् नहीं होता।

जिसप्रकार पागल व्यक्ति यदि माँ को माँ भी कहे तो भी पागल ही है; क्योंकि उसे माँ के स्वरूप की समझ नहीं है, माँ और पत्नी का मौलिक अन्तर उसके ख्याल में नहीं है; उसीप्रकार आत्मस्वरूप की सच्ची समझ न होने से कभी-कभी सत्य कथन करने पर भी इस व्यवहाराभासी को भी सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता।

यह आत्मा की चर्चा भी इसप्रकार करता है कि जैसे किसी और की बातें कर रहा हो। 'यह आत्मा कोई और नहीं, मैं ही हूँ' इसके ख्याल में ऐसा नहीं आता।

आत्मा और शरीर की भिन्नता भी इसप्रकार बताता है कि जैसे किसी और को और से भिन्न बता रहा हो। इसे ऐसा ख्याल में नहीं आता कि इस शरीर से मैं भिन्न हूँ। ऐसा तो कहता है कि आत्मा अलग है और शरीर अलग है; **पर ऐसा नहीं समझ पाता कि इसका भाव यह है कि मैं शरीररूप नहीं हूँ; शरीर से एकदम भिन्न हूँ।**

अन्त में पण्डितजी कहते हैं कि जीव और पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक कार्य होते हैं; यह व्यवहाभासी उक्त कार्यों को जीव और पुद्गल के मिलान से हुए कार्य मानता है। यह भी इसका अज्ञान है।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

वस्तुत: स्थिति यह है कि जिसे यह दो द्रव्यों के मिलाप से हुआ एक कार्य मानता है; परन्तु उसमें एक नहीं, दो कार्य होते हैं। उनमें से एक कार्य जीव में होता है और दूसरा पुद्गल में।

बंध को लोग एक कार्य कहते हैं, पर बंध में दो कार्य हैं पहला द्रव्यबंध और दूसरा भावबंध। पुद्गलरूप द्रव्यकर्म के उदय में मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म जीव स्वयं करता है और मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म के निमित्त से पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वयं परिणमित होती हैं। इसप्रकार **मोह-राग-द्वेषभाव होना जीव की क्रिया है और पौद्गलिक कर्मों का उदय उसमें निमित्त है और ज्ञानावरणी आदि कर्मरूप परिणमित होना कार्माणवर्गणारूप पुद्गल स्कंधों का कार्य है और उसमें जीव के मोह-राग-द्वेषरूप भाव निमित्त हैं।**

इसप्रकार द्रव्यबंध और भावबंध में दो कार्य हैं, जिन्हें मिलाकर एक बंध नाम से भी कहा जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि की जीव और अजीव के संबंध में जो समझ है, वह सच्ची नहीं है; क्योंकि भाव-भासित हुए बिना किसी भी प्रकार की किसी जानकारी का कुछ भी महत्त्व नहीं है।

चौथे अधिकार में भी देह से एकत्वबुद्धि की बात आई थी; किन्तु वहाँ यह बताया गया था कि यह देह में अपनापन अनादिकालीन है; इसकारण वह चर्चा अगृहीत मिथ्यात्व संबंधी थी। अब यहाँ शास्त्रों में जीव के त्रस-स्थावर भेद पढकर उक्त अनादिकालीन मिथ्यात्व की पुष्टि की जा रही है; अत: यह गृहीत मिथ्यात्व है।

आस्रवतत्त्व के संबंध में यह व्यवहाराभासी जीव किसप्रकार की भूलें करता है यह स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''तथा आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं, उन्हें हेय जानता है; अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं, उन्हें उपादेय मानता है। परन्तु यह तो दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है। वही समयसार के बंधाधिकार में कहा है[१]

सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दु:ख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं। जहाँ अन्य जीव अन्य जीव के इन कार्यों का कर्ता हो, वही मिथ्याध्यवसाय बन्ध का कारण है। वहाँ अन्य जीवों को जिलाने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय हो, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है और मारने का अथवा दु:खी करने का अध्यवसाय हो, वह पापबंध का कारण है।

इसप्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबंध के कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबन्ध के कारण हैं। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे त्याज्य हैं। इसलिए हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बन्ध का कारण जानकर हेय ही मानना।[२]''

यद्यपि आस्रवभाव सम्पूर्णत: हेय ही हैं; तथापि यह व्यवहाराभासी उनमें से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के पापास्रवरूप अशुभ-भावों को हेय मानता है; किन्तु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग के पुण्यास्रवरूप शुभभावों को उपादेय मान लेता है। वह यह नहीं जानता कि जब यह दोनों ही कर्मबंध के कारण हैं तो इनमें से एक उपादेय कैसे हो सकता है।

यद्यपि यह बात भी ठीक ही है कि हिंसादि पाँच पाप पापबंध के कारण हैं और अहिंसादि के शुभभाव पुण्यबंध के कारण हैं; व्यवहार से पाप की अपेक्षा पुण्य को ठीक कहा जाता है; तथापि अशुभ और शुभ दोनों ही भाव बंध के कारण हैं, मुक्ति के कारण नहीं; मुक्ति का कारण तो एकमात्र वीतरागभाव ही है।

इसप्रकार इस व्यवहाराभासी की आस्रवभावों में यह उपादेयबुद्धि ही मिथ्यात्व है।

---

१. समयसार गाथा २५४ से २५६ तथा समयसार कलश २६८, २६९

२. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२६

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

उक्त बात की पुष्टि में पण्डित टोडरमलजी समयसार के बंधाधिकार में जिन कलशों के भाव को उद्धृत करते हैं; वे कलश इसप्रकार हैं

(वसन्ततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।।१६८।।
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकिर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति।।१६९।।

(हरिगीत)

जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख सब प्राणियों के सदा ही।
अपने करम के उदय के अनुसार ही हों नियम से।।
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है।।१६८।।
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख।
मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को।।
कर्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष।
भव-भव भ्रमें मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष।।१६९।।

इस जगत में जीवों के मरण, जीवन, दु:ख व सुख सब सदैव नियम से अपने कर्मोदय से होते हैं। कोई दूसरा पुरुष किसी दूसरे पुरुष के जीवन-मरण और सुख-दु:ख को करता है ऐसी मान्यता अज्ञान है।

इस अज्ञान के कारण जो पुरुष एक पुरुष के जीवन-मरण और सुख-दु:ख को दूसरे पुरुष के द्वारा किये हुए मानते हैं, जानते हैं; पर कर्तृत्व के इच्छुक वे पुरुष अहंकार से भरे हुए हैं और आत्मघाती मिथ्यादृष्टि हैं।

समयसार के बंधाधिकार के उक्त प्रकरण में यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्येक जीव के जीवन-मरण और सुख-दु:ख स्वयंकृत हैं और उनमें कर्मोदय

निमित्त हैं। अन्य जीव किसी अन्य जीव के जीवन-मरण और सुखों का कर्ता नहीं है, कारण भी नहीं है।

उक्त कथन को आधार बनाकर यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि कोई किसी को मार नहीं सकता, दुखी नहीं कर सकता; इसकारण दूसरे जीवों को मारने और दुखी करने के पापभाव जिसप्रकार निरर्थक हैं; उसीप्रकार जब कोई जीव किसी अन्य जीव को बचा नहीं सकता, दुखी नहीं कर सकता तो फिर उन्हें बचाने या सुखी करने का भाव भी पूर्णत: निरर्थक ही है।

तात्पर्य यह है कि मारने व दुखी करने के भावों के समान ही निरर्थक बचाने और सुखी करने के भाव हैं; क्योंकि उक्त दोनों प्रकार के शुभाशुभभाव पर में कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। इसप्रकार पुण्यबंध के कारणरूप ये बचाने व सुखी करने के भाव और पापबंध के कारणरूप मारने व दुखी करने के भाव दोनों ही भाव मिथ्याध्यवसाय हैं, बंध के कारण हैं; इसलिए आस्रव हैं, हेय हैं; उपादेय नहीं।

यही कारण है कि पण्डितजी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि **हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बंध का कारण जानकर हेय ही मानना।**

अपनी बात आगे बढाते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि

''हिंसा में मारने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं है, यह अपनी द्वेषपरिणति से आप ही पाप बाँधता है।अहिंसा में रक्षा करने की बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना वह जीता नहीं है, यह अपनी प्रशस्त रागपरिणति से आप ही पुण्य बाँधता है।

इसप्रकार यह दोनों हेय हैं; जहाँ वीतराग होकर ज्ञाता-दृष्टारूप प्रवर्ते वहाँ निर्बन्ध है सो उपादेय है।[१]''

जब-जब दूसरे के संबंध में कुछ भी करने की बात आती है तो यही कहा जाता है कि किसी का बुरा मत करो, भला करने की ही सोचो; पर इस बात पर कोई विचार ही नहीं करता कि पहले यह निर्णय तो हो कि हम पर का कुछ कर भी सकते हैं या नहीं ?

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२६

अरे, भाई ! जब किसी का भला-बुरा कुछ कर ही नहीं सकते तो फिर यह प्रश्न ही खड़ा नहीं होता कि भला करें या बुरा करें।

ऐसी स्थिति में यह किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है और कहने लगता है कि आखिर हम करें क्या ?

इसके उत्तर में यहाँ कहा गया है कि **धर्म करना है तो वीतरागभावरूप होकर ज्ञाता-दृष्टारूप प्रवर्तन करो।**

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वर्तमान स्थिति में इन रागभावों का छूटना तो संभव नहीं है तो फिर आखिर हम करें क्या ?

उत्तर में पण्डितजी आदेश देते हुए कहते हैं

''सो ऐसी दशा न हो तबतक प्रशस्तरागरूप प्रवर्तन करो; परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह भी बन्ध का कारण है, हेय है; श्रद्धान में इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।[१]''

यहाँ तक तो आस्रवतत्त्व संबंधी भूलों की सामान्य चर्चा की। अब अत्यन्त संक्षेप में आस्रव के चार प्रकारों की चर्चा करते हैं। उक्त संदर्भ में पण्डितजी लिखते हैं

''तथा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये आस्रव के भेद हैं; उन्हें बाह्यरूप तो मानता है, परन्तु अंतरंग में इन भावों की जाति को नहीं पहिचानता।

वहाँ अन्य देवादि के सेवनरूप गृहीत मिथ्यात्व को मिथ्यात्व जानता है, परन्तु अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है, उसे नहीं पहिचानता।

तथा बाह्य त्रस-स्थावर की हिंसा तथा इन्द्रिय-मन के विषयों में प्रवृत्ति उसको अविरति जानता है; हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है और विषय-सेवन में अभिलाषा मूल है, उसका अवलोकन नहीं करता।

तथा बाह्य में क्रोधादि करना उसको कषाय जानता है, अभिप्राय में राग-द्वेष बस रहे हैं, उनको नहीं पहिचानता।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२६

तथा बाह्य चेष्टा हो उसे योग जानता है, शक्तिभूत योगों को नहीं जानता। इसप्रकार आस्रवों का स्वरूप अन्यथा जानता है।[१]''

आस्रवभावों की उक्त संक्षिप्त चर्चा में एक ही बात कही गई है कि यह व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव उक्त चार प्रकार के आस्रवभावों के बाह्यरूप से तो परिचित है; पर उनके अंतरंग अभिप्राय को नहीं पहिचानता।

उक्त संदर्भ में व्यवहाराभासी की प्रवृत्ति की वर्तमान स्थिति का चित्रण करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''तथा राग-द्वेष-मोहरूप जो आस्रवभाव हैं, उनका तो नाश करने की चिन्ता नहीं और बाह्यक्रिया अथवा बाह्य निमित्त मिटाने का उपाय रखता है; सो उनके मिटाने से आस्रव नहीं मिटता।

द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिक की सेवा नहीं करता, हिंसा या विषयों में नहीं प्रवर्तता, क्रोधादि नहीं करता, मन-वचन-काय को रोकता है; तथापि उसके मिथ्यात्वादि चारों आस्रव पाये जाते हैं।

तथा कपट से भी वे कार्य नहीं करता है, कपट से करे तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पाये पहुँचे। इसलिए जो अंतरंग अभिप्राय में मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव हैं, वे ही आस्रव हैं।[२]''

देखो, यहाँ कितने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि इस व्यवहाराभासी को मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों को मिटाने की तो चिन्ता नहीं है; बस इसका ध्यान तो बाह्य क्रियाकाण्ड पर ही रहता है, बाह्य निमित्तों में फेरफार करने में ही रहता है।

एक तो निमित्तों में फेरफार करना इसके हाथ में नहीं है, दूसरे बाह्य क्रिया और निमित्तों में फेरफार से भी आस्रवभाव मिटते नहीं हैं।

अपनी बात सिद्ध करने के लिए वे यहाँ द्रव्यलिंगी मुनि का उदाहरण देते हैं। कहते हैं कि द्रव्यलिंगी मुनि गृहीत मिथ्यात्व के कारणभूत अन्य देवादिक

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२६-२२७
२. वही, पृष्ठ २२७

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

की सेवा नहीं करता, हिंसादि पापों व पंचेन्द्रिय विषयों में नहीं प्रवर्तता, क्रोधादि कषायें करता भी दिखाई नहीं देता और मन-वचन-काय की चेष्टा को रोकता है; तथापि उसके मिथ्यात्वादि चारों आस्रवभाव पाये जाते हैं।

बाह्य क्रिया करने और निमित्तों के मेटने से क्या होता है; असली आस्रवभाव तो अंतरंग अभिप्राय में मौजूद मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव ही हैं।

ये व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि जीव बंधतत्त्व के संबंध में भी लगभग इसीप्रकार की गलतियाँ करते हैं। शुभभाव से पुण्यबंध होता है, इससे उसे अच्छा मानता है; अशुभभाव से पापबंध होता है, इसलिए उसे बुरा मानता है; किन्तु दोनों भाव बंधरूप हैं, संसार के कारण हैं; इसलिए बुरे ही हैं ऐसा नहीं जानता।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं; जो इसप्रकार है

''तथा शुभ-अशुभ भावों से पुण्य-पाप का विशेष तो अघातिकर्मों में होता है; परन्तु अघातिकर्म आत्मगुण के घातक नहीं हैं।

तथा शुभ-अशुभभावों में घातिकर्मों का तो निरन्तर बंध होता है, वे सर्व पापरूप ही हैं और वही आत्मगुण के घातक हैं।

इसलिए अशुद्ध (शुभ और अशुभ) भावों से कर्मबंध होता है, उसमें भला-बुरा जानना वही मिथ्या श्रद्धान है।[१]''

तात्पर्य यह है कि शुभभावों से अकेला पुण्यबंध ही होता है ऐसा नहीं है; क्योंकि शुभभाव के काल में भी घातिया कर्मों का बंध होता रहता है। घातिया कर्म तो सभी पापरूप हैं, आत्मा के गुणों के घातक हैं।

अत: शुभभाव भी अशुभभावों के समान हेय ही है, उन्हें उपादेय मानना, मुक्ति का कारण मानना बंधतत्त्वसंबंधी भूल है।

यह व्यवहाराभासी संवरतत्त्व के संबंध में भी इसीप्रकार की भूलें

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२७

करता हैं। **जो अहिंसादिरूप शुभास्रव भाव हैं, उन्हें संवर मानता है, संवर का कारण मानता है। यह बात किसी भी अपेक्षा सत्य नहीं हो सकती; क्योंकि जिस भाव से बंध होता है, उसी भाव से संवर कैसे हो सकता है?**

संवर के जो ५७ भेद हैं; उनमें तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परिषहजय और पाँच प्रकार के चारित्र शामिल हैं।

उक्त गुप्ति, समिति आदि ५७ भावों के संदर्भ में यह व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव जो भूलें करता है; उन भूलों के बारे में पण्डितजी ने जो कुछ कहा है; उसका भाव इसप्रकार है

मन को रोकने के लिए पाप चिन्तन नहीं करते, वचन को वश में करने के लिए मौन धारण करते हैं और काय को काबू में रखने के लिए गमनादि नहीं करते ऐसा करके ये व्यवहाराभासी स्वयं को गुप्ति धारक मानते हैं।

यद्यपि इनके मन में भक्ति आदि के अनेक विकल्प होते रहते हैं और वचन व काय की चेष्टा रोक रखी है; तथापि यह सब तो शुभप्रवृत्ति है और गुप्ति प्रवृत्तिरूप होती नहीं है। वास्तविक गुप्ति तो वीतरागभाव होने पर मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का रुकना ही है।

वे लोग जीवरक्षा के भाव से यत्नाचाररूप प्रवृत्ति को समिति मानते हैं; किन्तु प्रश्न यह है कि हिंसा के परिणामों से पापबंध होता है और रक्षा के परिणामों से संवर मानोगे तो फिर पुण्यबंध किन भावों से होगा ?

अत: यह तो निश्चित ही है कि रक्षा के भाव समिति नहीं हैं। अति आसक्तता के अभाव में प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होना ही वास्तविक समिति है।

ये व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि उत्तमक्षमादि दशधर्मों के नाम पर बंधादिक के भय से और स्वर्ग-मोक्ष के लोभ से क्रोधादि नहीं करते; किन्तु उनके अभिप्राय में क्रोधादि विद्यमान रहते हैं। **तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब कोई परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो; और इसकारण सहज क्रोधादि भाव उत्पन्न न हों, तब सच्चा धर्म होता है।**

इसीप्रकार यह व्यवहाराभासी अनित्यादिरूप चिन्तन से शरीरादि संयोगों

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

को बुरा जानकर, हितकारी न जानकर, उनसे उदास होने को अनुप्रेक्षा समझता है; पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि यह उदासीनता तो द्वेषरूप है।

सच्ची अनुप्रेक्षा तो अपना व शरीरादि का जैसा स्वभाव है; वैसा ही जानकर राग-द्वेष नहीं करना, भला जानकर राग नहीं करना और बुरा जानकर द्वेष नहीं करना है।

तात्पर्य यह है कि संसार व शरीरादि से सच्ची उदासीनता के लिए वस्तु के अनित्यादि स्वभाव का चिन्तन करना ही अनुप्रेक्षा है।

इसीप्रकार यह व्यवहाराभासी भूख-प्यास आदि की प्रतिकूलता होने पर, तदर्थ कोई उपाय नहीं करने को परिषहजय समझता है।

यद्यपि कोई उपाय तो नहीं किया; तथापि अनुकूलता से सुखी और प्रतिकूलता में दुखी हुआ। दु:ख-सुखरूप परिणाम तो आर्त-रौद्रध्यान हैं। इनसे संवर कैसे हो सकता है ?

दुख के कारण मिलने पर भी दुखी नहीं होना और सुख के कारण मिलने पर भी सुखी नहीं होना; सहजभाव से उन्हें जान लेना और साम्यभाव रखना ही सच्चा परिषहजय है।

यह व्यवहारासी जैन हिंसादि पापों के त्याग को चारित्र मानता है; इसलिए अणुव्रत-महाव्रतरूप शुभभावों को उपादेय मानता है।

इस संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि

''तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हों ?

तथा आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र मोक्ष का साधक है; इसलिए महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना संभव नहीं होता; सकल कषायरहित जो उदासीनभाव उसी का नाम चारित्र है।[१]''

अणुव्रत-महाव्रत भी धर्म नहीं, आस्रव हैं यह बात अच्छों-अच्छों को नहीं जमती, नहीं पचती। यह सुनकर ही लोग आन्दोलित हो उठते हैं, लड़ने-झगड़ने को तैयार हो जाते हैं। यही कारण है कि हमने अपनी ओर से

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २२९

कुछ भी न कहकर सीधे पण्डित टोडरमलजी को ही उद्धृत कर दिया है।

पण्डित टोडरमलजी भी इस बात को अच्छी तरह समझते थे। इसलिए उन्होंने भी सर्वमान्य समर्थ आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) के माध्यम से बात प्रस्तुत की है।

असली चारित्र तो सम्पूर्ण कषायों रहित वीतरागभाव ही है। अणुव्रत-महाव्रत को तो वीतरागभाव के सहचारी होने से उपचार से चारित्र कहा है, व्यवहार से चारित्र कहा है।

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र ये ऐसे विषय हैं कि इन विषयों में से प्रत्येक विषय पर एक-एक पुस्तक लिखी जा सकती है। यह बात कोरी कल्पना नहीं है। उक्त विषयों में से दशधर्म और बारह अनुप्रेक्षाओं को आधार बनाकर मैंने स्वयं पुस्तकें लिखी हैं। शेष विषयों पर भी लिखी जा सकती हैं।

पण्डित टोडरमलजी को इन विषयों पर विस्तार से लिखने का अवसर मिलता तो वे इन विषयों को हजारों पृष्ठों में भी नहीं समेट पाते।

लोग कहते हैं कि उनके अधूरे काम को मैं पूरा क्यों नहीं करता ?

अरे, भाई ! कोई किसी के काम को पूरा नहीं कर सकता। सब आदमी अपना-अपना काम करें यही ठीक है।

प्रश्न आचार्य गुणभद्र ने अपने आचार्य जिनसेन के अधूरे महापुराण को पूरा किया है न ?

उत्तर क्या किया, कैसा किया; देखा है आपने ? जिनसेन कृत आदिनाथ चारित्र जैसा और जितना है, आचार्य गुणभद्रकृत शेष तीर्थंकरों के चरित्र सबकुछ मिलाकर उसका शतांश भी नहीं है। जो भी हो, पण्डित टोडरमलजी जैसे प्रतिभाशालियों के अधूरे काम को पूरा करना मेरे वश का काम नहीं है। अरे,भाई ! जो मैं स्वयं लिखना चाहता हूँ, वह भी कितना क्या लिखा जा सकेगा, कहा नहीं जा सकता !

यह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि जीव निर्जरातत्त्व के संदर्भ में क्या व

कैसी भूलें करता है; इसका निरूपण करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''तथा यह अनशनादि तप से निर्जरा मानता है; परन्तु केवल बाह्य तप ही करने से तो निर्जरा होती नहीं है। बाह्य तप तो शुद्धोपयोग बढाने के अर्थ करते हैं। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है, इसलिए उपचार से तप को भी निर्जरा का कारण कहते हैं। यदि बाह्य दु:ख सहना ही निर्जरा का कारण हो तो तिर्यंचादि भी भूख-तृषादि सहते हैं।[१]''

उक्त कथन में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि व्यवहाराभासी शुद्धोपयोग के बिना ही उपवासादि बाह्य तपों से निर्जरा मानते हैं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक में समागत उक्त प्रकरण मूलत: पठनीय है; क्योंकि इसमें पण्डित टोडरमलजी ने अनेक प्रकार की शंका-आशंकाओं का अनेक युक्तियों से समुचित समाधान किया है।

अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए पण्डितजी कहते हैं

''इसलिए बाह्य प्रवृत्ति के अनुसार निर्जरा नहीं है, अन्तरंग कषाय-शक्ति घटने से विशुद्धता होने पर निर्जरा होती है। सो इसके प्रगट स्वरूप का आगे निरूपण करेंगे, वहाँ से जानना।[२]''

उक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि उपवासादि तपों और उससे होनेवाली निर्जरा के संबंध में पण्डित टोडरमलजी साहब आगे विस्तार से लिखनेवाले थे; जो ग्रंथ अधूरा रह जाने के कारण नहीं लिखा जा सका।

निर्जरा संबंधी इस प्रकरण का समापन करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''बहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्य साधन की अपेक्षा उपचार से किये हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना। इस रहस्य को नहीं जानता, इसलिए उसके निर्जरा का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।[३]''

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३०
२. वही, पृष्ठ २३२
३. वही, पृष्ठ २३३

स्वर्ग से मोक्ष में अनंतगुणा सुख है; इसलिए मोक्ष जाना योग्य है। ऐसा माननेवाला यह व्यवहाराभासी मोक्षसुख की जाति को नहीं पहिचानता ; इसकारण उसकी तुलना स्वर्ग में प्राप्त होनेवाले पंचेन्द्रियजनित विषय सुख से करता है। **इन्द्रियसुख भले ही पुण्योदय से प्राप्त होता हो, पर इन्द्रिय सुख का उपभोग तो पापरूप ही है, पापबंध का कारण है, आकुलतामय है; इसलिए दुख ही है।**

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''तथा इन्द्रादिक के जो सुख हैं, वह कषायभावों से आकुलतारूप हैं, सो वह परमार्थ से दु:ख ही है; इसलिए उसकी और इसकी एक जाति नहीं है। तथा स्वर्गसुख का कारण प्रशस्तराग है और मोक्षसुख का कारण वीतरागभाव है; इसलिए कारण में भी विशेष है; परन्तु ऐसा भाव इसे भासित नहीं होता।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि स्वर्गसुख आकुलतारूप है और आकुलता का कारण है; अत: दुख ही है। तथा **मोक्षसुख न तो आकुलतारूप है और न आकुलता का कारण है; इसलिए सुख ही है। इसप्रकार स्वर्गसुख और मोक्षसुख की जाति एक नहीं।** इसप्रकार के भाव का भासन व्यवहाराभासी को नहीं है। अत: उसका मोक्षतत्त्वसंबंधी श्रद्धान भी सही नहीं है।

इस प्रकरण के अन्त में तत्त्वार्थश्रद्धान की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''तथा व्यवहारदृष्टि से सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं, उनको यह पालता है, पच्चीस दोष कहे हैं, उनको टालता है, संवेगादिक गुण कहे हैं, उनको धारण करता है; परन्तु जैसे बीज बोए बिना खेत के सब साधन करने पर भी अन्न नहीं होता; उसीप्रकार सच्चा तत्त्वश्रद्धान हुए बिना सम्यक्त्व नहीं होता।[२]''

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३४
२. वही, पृष्ठ २३५

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

धर्मबुद्धि से धर्म के धारक व्यवहाराभासियों में सम्यग्दर्शन के संदर्भ में हुई भूलों की चर्चा के उपरान्त अब सम्यग्ज्ञान संबंधी भूलों की बात करते हैं। उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''अब, शास्त्र में सम्यग्ज्ञान के अर्थ शास्त्राभ्यास करने से सम्यग्ज्ञान होना कहा है; इसलिए यह शास्त्राभ्यास में तत्पर रहता है।

वहाँ सीखना, सिखाना, याद करना, बाँचना, पढना आदि क्रियाओं में तो उपयोग को रमाता है; परन्तु उसके प्रयोजन पर दृष्टि नहीं है।

इस उपदेश में मुझे कार्यकारी क्या है, सो अभिप्राय नहीं है; स्वयं शास्त्राभ्यास करके औरों को सम्बोधन देने का अभिप्राय रखता है और बहुत से जीव उपदेश मानें वहाँ संतुष्ट होता है; परन्तु ज्ञानाभ्यास तो अपने लिए किया जाता है और अवसर पाकर पर का भी भला होता हो तो पर का भी भला करे। तथा कोई उपदेश न सुने तो मत सुनो, स्वयं क्यों विषाद करे ? शास्त्रार्थ का भाव जानकर अपना भला करना।[१]''

उक्त कथन में पण्डितजी ने जो चित्र प्रस्तुत किया है; वह न केवल यह बताता है कि उस समय पण्डितजी की जानकारी में ऐसे लोग रहे होंगे, जिनकी वृत्ति और प्रवृत्ति इसप्रकार की होगी; अपितु आज भी ऐसे लोग बहुतायत में देखे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि व्यवहाराभासियों की यह प्रवृत्ति सदा और सर्वत्र विद्यमान रहती ही है।

देखो, यहाँ अन्य आत्मार्थी भाई-बहिनों को तत्त्वाभ्यास कराने का तो निषेध नहीं किया; क्योंकि **इसके बिना तो देशनालब्धि के अवसर ही समाप्त हो जाते हैं,** जिनागम के लोप का भी प्रसंग उपस्थित हो सकता है; परन्तु **दूसरों को उपदेश देने का अभिप्राय रखकर जिनागम के अभ्यास करने का निषेध अवश्य किया है। जिनागम का स्वाध्याय तो आत्मकल्याण की भावना से ही किया जाना चाहिए। अपने हित के साथ-साथ दूसरों का भी भला हो जावे तो अच्छा ही है।**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३५

व्यवहाराभासियों की प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए वे आगे लिखते हैं

''तथा शास्त्राभ्यास में भी कितने ही तो व्याकरण, न्याय, काव्य आदि शास्त्रों का बहुत अभ्यास करते हैं; परन्तु वे तो लोक में पाण्डित्य प्रगट करने के कारण हैं, उनमें आत्महित का निरूपण तो है नहीं। इनका तो प्रयोजन इतना ही है कि अपनी बुद्धि बहुत हो तो थोड़ा बहुत इनका अभ्यास करके पश्चात् आत्महित के साधक शास्त्रों का अभ्यास करना।

यदि बुद्धि थोड़ी हो तो आत्महित के साधक सुगम शास्त्रों का ही अभ्यास करे। ऐसा नहीं करना कि व्याकरणादिक का ही अभ्यास करते-करते आयु पूर्ण हो जाये और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति न बने।[१]''

उक्त कथन में न्याय-व्याकरण पढने का निषेध तो नहीं किया; क्योंकि इनके अभ्यास से जिनागम के अभ्यास में सहयोग प्राप्त होता है।

लगभग हमारे सभी मूल शास्त्र प्राकृत-संस्कृत में है और तत्त्व के निर्णय में न्याय शास्त्र की उपयोगिता असंदिग्ध है; परन्तु न्याय-व्याकरण में जीवन खपा देने का निषेध बड़ी दृढता से किया है।

चार अनुयोग संबंधी शास्त्रों के स्वाध्याय के संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का मार्गदर्शन इसप्रकार है

''तथा कितने ही जीव पुण्य-पापादिक फल के निरूपक पुराणादि शास्त्रों का; पुण्यपापक्रिया के निरूपक आचारादि शास्त्रों का, तथा गुणस्थान-मार्गणा, कर्मप्रकृति, त्रिलोकादि के निरूपक करणानुयोग के शास्त्रों का अभ्यास करते हैं; परन्तु यदि आप इनका प्रयोजन नहीं विचारते, तब तो तोते जैसा ही पढना हुआ।और यदि इनका प्रयोजन विचारते हैं तो वहाँ पाप को बुरा जानना, पुण्य को भला जानना, गुणस्थानादिक का स्वरूप जान लेना तथा जितना इनका अभ्यास करेंगे, उतना हमारा भला है इत्यादि प्रयोजन का विचार किया है, सो इससे इतना तो होगा कि नरकादि नहीं होंगे, स्वर्गादिक होंगे; परन्तु मोक्षमार्ग की तो प्राप्ति होगी नहीं।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३५

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

प्रथम सच्चा तत्त्वज्ञान हो; वहाँ फिर पुण्य-पाप के फल को संसार जाने, शुद्धोपयोग से मोक्ष माने, गुणस्थानादिरूप जीव का व्यवहार निरूपण जाने; इत्यादि ज्यों का त्यों श्रद्धान करता हुआ इनका अभ्यास करे तो सम्यग्ज्ञान हो।

तत्त्वज्ञान के कारण अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं, और कितने ही जीव उन शास्त्रों का भी अभ्यास करते हैं; परन्तु वहाँ जैसा लिखा है, वैसा निर्णय स्वयं करके आपको अपरूप, पर को पररूप और आस्रवादिक का आस्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते।

मुख से तो यथावत् निरूपण ऐसा भी करें, जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जायें; परन्तु जैसे कोई लड़का स्त्री का स्वांग बनाकर ऐसा गाना गाये, जिसे सुनकर अन्य पुरुष-स्त्री कामरूप हो जायें; परन्तु वह तो जैसा सीखा वैसा कहता है, उसे कुछ भाव भासित नहीं होता, इसलिए स्वयं कामासक्त नहीं होता। उसीप्रकार यह जैसा लिखा है, वैसा उपदेश देता है; परन्तु स्वयं अनुभव नहीं करता। यदि स्वयं को श्रद्धान हुआ होता तो अन्य तत्त्व का अंश अन्य तत्त्व में न मिलाता; परन्तु इसका ठिकाना नहीं है, इसलिए सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

इसप्रकार यह ग्यारह अंग तक पढे, तथापि सिद्धि नहीं होती।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन अत्यन्त सहज, सरल एवं पूर्णत: स्पष्ट है; अत: इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि सम्यग्ज्ञान के लिए जो भी प्रयास करता है, वे सब निरर्थक ही हैं। ●

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३७

इन देहादि परपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होना ही एक अभूतपूर्व अद्भुत क्रान्ति है, धर्म का आरम्भ है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, भगवान बनने, समस्त दु:खों को दूर करने और अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-५१

बीसवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में समागत व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टि का प्रकरण चल रहा है। इसमें अबतक कुल-अपेक्षा, परीक्षा रहित आगमानुसारी और सांसारिक प्रयोजन से धर्म धारण करनेवालों की चर्चा हुई। धर्मबुद्धि से धर्मधारक व्यवहाराभासियों में भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के संबंध में जिसप्रकार की भूलें पाई जाती हैं, उनकी भी चर्चा हो चुकी है। अब सम्यक्चारित्र संबंधी चर्चा आरंभ करते हैं।

ये व्यवहारभासी लोग सम्यक्चारित्र के लिए किसप्रकर का प्रयास करते हैं यह स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़ने का विचार नहीं है। और यदि परिणामों का भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखायी दें, उन्हीं पर दृष्टि रहती है; परन्तु उन परिणामों की परम्परा का विचार करने पर अभिप्राय में जो वासना है, उसका विचार नहीं करते। और फल लगता है सो अभिप्राय में जो वासना है, उसका लगता है। इसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे। वहाँ स्वरूप भलीभांति भासित होगा।

ऐसी पहिचान के बिना बाह्य आचरण का ही उद्यम है।

वहाँ कितने ही जीव तो कुलक्रम से अथवा देखादेखी या क्रोध, मान, माया, लोभादिक के आचरण करते हैं; उनके तो धर्मबुद्धि ही नहीं है, सम्यक्चारित्र कहाँ से हो ? उन जीवों में कोई तो भोले हैं व कोई कषायी हैं; सो अज्ञानभाव व कषाय होने पर सम्यक्चारित्र नहीं होता।

तथा कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि जानने में क्या है, कुछ करेंगे तो फल लगेगा। ऐसा विचार कर व्रत-तप आदि क्रिया के ही उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञान का उपाय नहीं करते।

सो तत्त्वज्ञान के बिना महाव्रतादि का आचरण भी मिथ्याचारित्र

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

ही नाम पाता है और तत्त्वज्ञान होने पर कुछ भी व्रतादिक नहीं है, तथापि असंयतसम्यग्दृष्टि नाम पाता है। इसलिए पहले तत्त्वज्ञान का उपाय करना, पश्चात् कषाय घटाने के लिए बाह्यसाधन करना।[१]''

उक्त कथन में क्रिया, परिणाम और अभिप्राय की चर्चा की गई है। उपवास में भोजनादि का त्याग किया है, उस समय रहनेवाले भाव परिणाम हैं और उपवास के संबंध में हमारी मान्यता अभिप्राय है।

व्यवहाराभासी उपवास करने पर बिना खाये-पिये जैसे-तैसे दिन-रात निकाल लेने में ही सफलता समझते हैं; **परिणाम बिगड़े या सुधरे इस बात का ध्यान ही नहीं रखते। कदाचित् परिणामों का ही ध्यान रख लें; पर अभिप्राय में जो वासना है, उसका तो विचार ही नहीं करते।**

व्यवहाराभासी के अभिप्राय में रहनेवाली वासना के स्वरूप के संबंध में पण्डित टोडरमलजी विस्तार से चर्चा करना चाहते थे; पर ग्रंथ के अपूर्ण रह जाने से वह काम नहीं हो पाया।

शारीरिक क्रियाकाण्ड का तो कोई फल होता ही नहीं है, शुभाशुभ परिणामों से भी पुण्य-पाप बंधते हैं, उनकी भी कोई विशेष कीमत नहीं है। **मुक्ति और संसार का कारण तो सम्यक् और मिथ्या अभिप्राय (मान्यता) हैं।**

यदि यश, प्रतिष्ठा या पुण्यबंध के लोभ में उपवास किया गया हो तो यह चारित्र संबंधी अभिप्राय का दोष है और भोजन के त्यागरूप क्रिया और उपवास के शुभभावों से मुक्ति की प्राप्ति होगी ऐसी मान्यतापूर्वक भोजनादि के त्यागरूप उपवास मान्यता संबंधी अभिप्राय का दोष है।

आज भी आपको ऐसे अनेक लोग कहीं भी मिल जायेंगे; जो कहते हैं कि कोरे जानने से क्या होता है, फल तो कुछ करेंगे तो मिलेगा। ज्ञान का निषेध और अज्ञान का पोषण करनेवाले ऐसे लोग स्वाध्याय को कोई कार्य ही नहीं मानते, जबकि जिनवाणी में स्वाध्याय को परमतप कहा है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३८

अपनी आत्मा को जानना सम्यग्ज्ञान है और निजात्मा को ही लगातार जानते रहना आत्मध्यान है। इसप्रकार ज्ञान (स्वाध्याय) और ध्यान क्रमश: १०वें व १२वें तप हैं।

उपवास नामक प्रथम तप छह माह तक भी करे तो भी केवलज्ञान की गारंटी नहीं; पर **आत्मध्यानरूप बारहवाँ तप अन्तर्मुहूर्त** (अड़तालीस मिनिट से भी कम) **तक करें तो केवलज्ञान होने की गारंटी है।**

यह कोई नकली उपवास की बात नहीं है; क्योंकि आदिनाथ भगवान ने छह माह तक उपवास किया और उस समय केवलज्ञान नहीं हुआ और भरत चक्रवर्ती ने अन्तर्मुहूर्त तक आत्मध्यान किया तो एक भी उपवास किये बिना उसीसमय केवलज्ञान हो गया।

परमार्थ से विचार करें तो आत्मा का एकमात्र कार्य तो ज्ञान (जानना) ही है; पर यह भोला जगत (व्यवहाराभासी) ज्ञान को काम ही नहीं मानता। **असली धर्म तो सम्यग्दर्शन पूर्वक किये गये ज्ञान-ध्यान ही हैं। इसलिए पण्डितजी तो सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान करने की ही प्रेरणा देते हैं।**

आत्मज्ञान विमुख व्यवहाराभासी गृहीत मिथ्यादृष्टियों की प्रवृत्ति का वर्णन मोक्षमार्गप्रकाशक में विस्तार से किया है। उस सबकी चर्चा करना यहाँ संभव नहीं है। अत: जिज्ञासु पाठकों से उक्त प्रकरण का मूलत: स्वाध्याय करने की अपेक्षा है।

आत्मज्ञान से शून्य ये व्यवहाराभासी लोग अपनी शक्ति का विचार किये बिना ही बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञायें ले लेते हैं और फिर या तो उन्हें छोड़ देते हैं या फिर जैसे-तैसे उन्हें ढोते रहते हैं।

ऐसे लोगों का मार्गदर्शन करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''जैनधर्म में प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है नहीं। जैनधर्म में तो ऐसा उपदेश है कि पहले तो तत्त्वज्ञानी हो; फिर जिसका त्याग करे, उसका दोष पहिचाने; त्याग करने में जो गुण हो, उसे जाने; फिर अपने परिणामों को ठीक (विचार) करे; वर्तमान परिणामों के ही भरोसे

प्रतिज्ञा न कर बैठे; भविष्य में निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे; तथा शरीर की शक्ति व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिक का विचार करे। इसप्रकार विचार करके फिर प्रतिज्ञा करनी। वह भी ऐसी करनी जिससे प्रतिज्ञा के प्रति निरादरभाव न हो, परिणाम चढते रहें। ऐसी जैनधर्म की आम्नाय है।[१]''

पण्डित टोडरमलजी ने प्रतिज्ञा लेने या नहीं लेने के संबंध में एकदम संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

व्यवहाराभासियों की असंतुलित असत्क्रियाओं का एक यह चित्र भी देखिये

''तथा सर्वप्रकार से धर्म को न जानता हो ऐसा जीव किसी धर्म के अंग को मुख्य करके अन्य धर्मों को गौण करता है। जैसे कोई जीव दया धर्म को मुख्य करके पूजा-प्रभावनादि कार्य का उत्थापन करते हैं; कितने ही पूजा-प्रभावनादि धर्म को मुख्य करके हिंसादिक का भय नहीं रखते; कितने ही तप की मुख्यता से आर्तध्यानादिक करके भी उपवासादि करते हैं, तथा अपने को तपस्वी मानकर नि:शंक क्रोधादि करते हैं; कितने ही दान की मुख्यता से बहुत पाप करके भी धन उपार्जन करके दान देते हैं; कितने ही आरम्भत्याग की मुख्यता से याचना आदि करते हैं; इत्यादि प्रकार से किसी धर्म को मुख्य करके अन्य धर्म को नहीं गिनते तथा उसके आश्रय से पाप का आचरण करते हैं।

उनका यह कार्य ऐसा हुआ जैसे अविवेकी व्यापारी को किसी व्यापार में नफे के अर्थ अन्य प्रकार से बहुत टोटा पड़ता है।

चाहिए तो ऐसा कि जैसे व्यापारी का प्रयोजन नफा है, सर्व विचार कर जैसे नफा बहुत हो, वैसा करे; उसीप्रकर ज्ञानी का प्रयोजन वीतराग भाव है, सर्व विचार कर जैसे वीतरागभाव बहुत हो, वैसा करे; क्योंकि मूलधर्म वीतरागभाव है।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २३९

उक्त एक वाक्यखण्ड (पैराग्राफ) में स्वयं को धर्मात्मा माननेवाले व्यवहाराभासियों द्वारा धर्म के एक-एक अंग पर किसप्रकार प्रहार किया जाता है, उनका निषेध किया जाता है यह स्पष्ट कर दिया है।

उनका स्पष्ट मत है कि जिसप्रकार जीवदया के नाम पर पूजा-प्रभावनादि कार्यों का निषेध नहीं किया जा सकता; उसीप्रकार पूजा-प्रभावना के नाम पर अहिंसा (जीवदया) का ध्यान रखे बिना बड़े-बड़े अनावश्यक आडम्बर पूर्ण क्रियाकाण्ड किया जाना भी उचित नहीं है।

जिसप्रकार तप की मुख्यता से आर्तध्यानादि करके भी उपवासादि करना उचित नहीं है; उसीप्रकार उपवासादि करके अपने को तपस्वी मानकर अनर्गल क्रोधादि करने की भी छूट नहीं दी जा सकती, दान करने की भावना से पाप करके भी धन उपार्जन करने की छूट नहीं दी सकती, आरंभत्याग के नाम पर याचना करने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

व्यापारी का उदाहरण देते हुए पण्डितजी कहते हैं कि जिसप्रकार व्यापारी व्यापार में लाभ-हानि का ध्यान रखता है; उसीप्रकार आत्मार्थियों को भी लाभ-हानि का ध्यान रखते हुए धर्माचरण करना चाहिए।

धर्मसाधना का तो एकमात्र प्रयोजन वीतरागभाव का पोषण है; क्योंकि मूल धर्म तो वीतरागभाव नहीं है। अत: उनका स्पष्ट आदेश है कि धर्म के नाम पर वे कार्य ही किये जाने चाहिए कि जिनमें सर्वांग वीतरागभाव की ही पुष्टि होती हो।

पण्डितजी तो यहाँ तक कहते हैं कि

''तथा कितने ही जीव अणुव्रत-महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करते हैं और आचरण के अनुसार ही परिणाम हैं, कोई माया-लोभादिक का अभिप्राय नहीं है; उन्हें धर्म जानकर मोक्ष के अर्थ उनका साधन करते हैं, किन्हीं स्वर्गादिक के भोगों की भी इच्छा नहीं रखते; परन्तु

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४१

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

तत्त्वज्ञान पहले नहीं हुआ, इसलिए आप तो जानते हैं कि मैं मोक्ष का साधन कर रहा हूँ; परन्तु जो मोक्ष का साधन है, उसे जानते भी नहीं, केवल स्वर्गादिक ही का साधन करते हैं।

कोई मिसरी को अमृत जानकर भक्षण करे तो उससे अमृत का गुण तो नहीं होता; अपनी प्रतीति के अनुसार फल नहीं होता; फल तो जैसे साधन करे, वैसा ही लगता है।

शास्त्र में ऐसा कहा है कि चारित्र में 'सम्यक्' पद है; वह अज्ञान पूर्वक आचरण की निवृत्ति के अर्थ है; इसलिए प्रथम तत्त्वज्ञान हो और पश्चात् चारित्र हो सो सम्यक्चारित्र नाम पाता है।

जैसे कोई किसान बीज तो बोये नहीं और अन्य साधन करे तो अन्न प्राप्ति कैसे हो, घास-फूस ही होगा; उसीप्रकार अज्ञानी तत्त्वज्ञान का तो अभ्यास करे नहीं और अन्य साधन करे तो मोक्ष प्राप्ति कैसे हो, देवपद आदि ही होंगे।[१]''

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि भले ही हमारा आचरण शास्त्रानुसार हो, फिर भी यदि तत्त्वज्ञान नहीं है, आत्मानुभव नहीं है, सम्यग्दर्शन नहीं है तो वह आचरण सम्यक्चारित्र नाम प्राप्त नहीं करता, वह मुक्ति का कारण भी नहीं है।

इसप्रकार व्यवहाराभासी की सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र संबंधी परिणति कैसी होती है इसका निरूपण हुआ।

निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी की परिणति का निरूपण होने के बाद अब **उभयाभासी के संबंध में बात करते हैं।**

जैनदर्शन में दो नय कहे हैं। उक्त दोनों नयों में अकेले निश्चयनय को माननेवाले निश्चयाभासी हैं और अकेले व्यवहारनय को माननेवाले व्यवहाराभासी हैं। इसप्रकार दोनों ही एकान्तवादी हैं। हम दोनों नयों को मानते हैं; इसलिए हम अनेकान्तवादी हैं।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४१-२४२

ऐसा कहनेवाले लोग न तो सही रूप में निश्चयनय को समझते हैं और न व्यवहारनय को; परन्तु उन्हें यह जंच गया है कि अकेले निश्चयनय को माननेवाले भी सही नहीं हैं और अकेले व्यवहारनय को माननेवाले भी सही नहीं हैं। अत: हम दोनों नयों को मान लेते हैं।

इसप्रकार वे निश्चयाभासी के समान निश्चय को और व्यवहाराभासी के समान व्यवहार को मानकर उभयाभासी हो जाते हैं।

उनकी प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''अंतरंग में आपने तो निर्धार करके यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को पहिचाना नहीं, जिन आज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते हैं। सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है।

जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाय सो 'निश्चय मोक्षमार्ग' है। और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय सो 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है।

सच्चा निरूपण तो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार; इसलिए निरूपण-अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। (किन्तु) एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है इसप्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।[१]''

इस मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र में मोक्षमार्ग का निरूपण होने से यहाँ निश्चय-व्यवहारनयों को भी मोक्षमार्ग पर घटित कर रहे हैं।

ये उभयाभासी लोग मोक्षमार्ग का स्वरूप तो समझते नहीं; किन्तु जैनधर्म की आज्ञा मानकर दो मोक्षमार्ग मान लेते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि मोक्षमार्ग तो एक ही है, दो नहीं; किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से किया जाता है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४८-२४९

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

यद्यपि सच्चा मोक्षमार्ग तो एकमात्र निश्चय मोक्षमार्ग ही है; तथापि जो शुभभाव या शुभक्रिया निश्चय मोक्षमार्गी जीव के पाई जाती है, उन्हें निमित्त की अपेक्षा उपचार से व्यवहारमोक्षमार्ग कह देते हैं; क्योंकि सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं।

इस पर शिष्य कहता है कि हम तो ऐसा मानते हैं कि अपने आत्मा को सिद्धसमान शुद्ध अनुभव करना निश्चय है और व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति करना व्यवहार है।

इसका उत्तर देते हुए पण्डित टोडरमलजी कहते हैं

''किसी द्रव्यभाव का नाम निश्चय और किसी का व्यवहार ऐसा नहीं है। एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चय है, उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप निरुपण करना सो व्यवहार है। जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा निरूपित किया जाय सो निश्चय और घृतसंयोग के उपचार से उसी को घृत का घड़ा कहा जाय सो व्यवहार। ऐसे ही अन्यत्र जानना।[१]''

इस पर व्यवहाराभासी कहता है कि हम श्रद्धान तो निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहाररूप करते हैं। इसप्रकार हम दोनों नयों को स्वीकार करते हैं। इस पर पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि यह ठीक नहीं है; क्योंकि **निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है; क्योंकि एक नय का श्रद्धान करने से तो एकान्त होता है और प्रवृत्ति में तो नय का प्रयोजन ही नहीं है।**

प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है, ***जिस द्रव्य की परिणति हो, उसे उसी द्रव्य की कहना, निश्चयनय है और उसी को अन्य द्रव्य की कहना व्यवहारनय है।*** ऐसे अभिप्राय से प्रवृत्ति में दोनों नय बनते हैं, प्रवृत्ति स्वयं नयरूप नहीं है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४९

इसलिए निश्चयनय के निरूपण को सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान करना और व्यवहारनय का निरूपण असत्यार्थ मानकर छोड़ना।

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए पण्डित टोडरमलजी कहते हैं

''व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; इसलिए उसका त्याग करना।

तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।[१]''

उक्त कथन से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि व्यवहारनय असत्यार्थ होने से हेय है और निश्चयनय सत्यार्थ होने से उपादेय है।

उक्त निश्चय-व्यवहारनयों को इसी रूप में स्वीकार करना ही दोनों नयों को अंगीकार करना है।

यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनागम में उसका निरूपण ही क्यों किया ? इस प्रश्न के उत्तर में जब यह कहा जाता है कि व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक है, उसके बिना निश्चय का प्रतिपादन संभव नहीं है; इसलिए उसे जिनागम में स्थान प्राप्त हुआ है; तब सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन क्यों नहीं हो सकता ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''निश्चय से तो आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसीप्रकार कहते रहें तब तो वे समझ नहीं पायें। इसलिए उनको व्यवहारनय से शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वीकायादिरूप जीव के विशेष किये तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है, इत्यादि प्रकार सहित उन्हें जीव की पहिचान हुई है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५१

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

अथवा अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीव के विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है, इत्यादि प्रकार सहित उनको जीव की पहिचान हुई।

तथा निश्चय से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है; उसे जो नहीं पहिचानते उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको व्यवहारनय से, तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादिरूप वीतरागभाव के विशेष बतलाये; तब उन्हें वीतरागभाव की पहिचान हुई।

इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहार बिना निश्चय के उपदेश का न होना जानना।[१]''

उक्त कथन का सही भाव न समझ पाने के कारण किसी प्रकार की भूल न हो जावे इस भावना से सावधान करते हुए पण्डितजी कहते हैं

''तथा यहाँ व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय को ही जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उस ही को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है; उस ही को जीव वस्तु मानना।

संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं, ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा परद्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५२

कर्ता-हर्ता हो जाये। परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन है नहीं; इसलिए आत्मा अपने भाव रागादिक हैं, उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिए निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है।

वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना है; इसलिए व्रतादि को मोक्षमार्ग कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा ही श्रद्धान करना।

इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनय का अंगीकार नहीं करना ऐसा जान लेना।[१]''

कुछ लोग कहते हैं कि यदि व्यवहारनय को हेय कहेंगे तो फिर हम व्रत, शील, संयमादि छोड़ देंगे। ऐसे लोगों को समझाते हुए पण्डित टोडरमलजी कहते हैं

''कुछ व्रत, शील, संयमादिक का नाम व्यवहार नहीं है; इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड़ दे; और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहा है, यह तो परद्रव्याश्रित हैं, तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इसप्रकार व्यवहार को असत्यार्थ-हेय जानना।

व्रतादिक को छोड़ने से तो व्यवहार का हेयपना होता नहीं है।

फिर हम पूछते हैं कि व्रतादिक को छोड़कर क्या करेगा ?

यदि हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्ग का उपचार भी सम्भव नहीं है; वहाँ प्रवर्तने से क्या भला होगा ? नरकादि प्राप्त करेगा। इसलिए ऐसा करना तो निर्विचारीपना है। तथा व्रतादिकरूप परिणति को मिटाकर केवल वीतराग उदासीनभावरूप होना बने तो अच्छा ही है; वह निचली दशा में हो नहीं सकता; इसलिए व्रतादि साधन छोड़कर स्वच्छन्द होना योग्य नहीं है। इसप्रकार श्रद्धान में निश्चय को, प्रवृत्ति में व्यवहार को उपादेय मानना वह भी मिथ्याभाव ही है।[२]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५२-२५३
२. वही, पृष्ठ २५३-२५४

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के सही स्वरूप को न समझ पाने के कारण उभयाभासी भी मिथ्यादृष्टि ही हैं।

भगवान आत्मा का सही स्वरूप न जाननेवाले निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी और उभयाभासियों के अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी हैं कि जो वस्तु का सही स्वरूप समझने के लिए प्रयासरत हैं। ऐसे लोगों को पण्डितजी सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी और उभयाभासियों की चर्चा हो जाने के उपरान्त अब सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों की चर्चा करते हैं।

उनकी चर्चा आरंभ करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''कोई मन्दकषायादि का कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हुआ, जिससे तत्त्वविचार करने की शक्ति हुई; तथा मोह मन्द हुआ, जिससे तत्त्वविचार में उद्यम हुआ और बाह्यनिमित्त देव-गुरु-शास्त्रादिक का हुआ, उनसे सच्चे उपदेश का लाभ हुआ।

वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव-गुरु-धर्मादिक के, जीवादि तत्त्वों के तथा निज-पर के और अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है; तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए; क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचारकर जो उपदेश सुना उसके निर्धार करने का उद्यम किया।[१]''

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पहले पाँच लब्धियाँ होती हैं; जिनके नाम क्रमश: इसप्रकार हैं

१. क्षयोपशमलब्धि, २. विशुद्धिलब्धि, ३. देशनालब्धि, ४. प्रायोग्यलब्धि और ५. करणलब्धि।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५७

यद्यपि इनकी चर्चा इसी प्रकरण में आगे आनेवाली है; तथापि उक्त वाक्यखण्ड में भी उनके स्पष्ट संकेत हैं। **मंदकषायादिक का कारण पाकर आत्मा को समझनेयोग्य ज्ञान का उघाड़ होना ही क्षयोपशमलब्धि है, मोह का मंद होना ही विशुद्धिलब्धि है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सत्समागम होना, उनके उपदेश का लाभ होना ही देशनालब्धि है।**

क्षयोपशमलब्धि से तत्त्वविचार करने की शक्ति हुई, मोह के मंद होने से तत्त्वविचार करने का उद्यम हुआ और देव-शास्त्र-गुरु के सत्समागम से देशनालब्धि का लाभ मिला।

उक्त परिस्थिति में १. रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग, २. देव-गुरु-धर्म, ३. जीवादि तत्त्व, ४. निज व पर और ५. हितकारी-अहितकारी भावों के उपदेश का लाभ मिला।

उक्त महत्त्वपूर्ण पाँच विषय एकप्रकार से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पूर्व का पाठ्यक्रम (सिलेबस) है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पूर्व उक्त पाँच विषयों की जानकारी अवश्य होना चाहिए। न केवल सामान्य जानकारी अपितु इनका ज्ञान होने पर यदि इसप्रकार के भाव आते हैं कि

''अहो ! मुझे तो इन बातों का पता ही नहीं था, मैं तो भ्रम से भूल कर प्राप्त पर्याय में ही मगन था, इस पर्याय का काल तो अत्यल्प है और यहाँ मुझे सब प्रकार की अनुकूलता है; अत: मुझे इन बातों के बारे में ठीक से निर्णय करना चाहिए; क्योंकि इसमें तो मेरा ही भला प्रतीत होता है, किसी अन्य का कोई स्वार्थ हो ऐसा लगता ही नहीं है।''

तो समझना चाहिए कि गाड़ी लाइन पर चल रही है।

इसप्रकार विचार आवे तो फिर जो कुछ भी सुना-समझा है, उसके बारे में निर्णय करने के पुरुषार्थ में जुट जाना चाहिए।

सबसे पहले तो जिनागम के उपदेश के अनुसार इनके नाम सीखे, उनके लक्षणों को समझे, उन्हें अच्छी तरह याद कर ले, धारणा में ले ले; फिर विवेकपूर्वक विचार कर अनेकप्रकार से परीक्षा करें। स्वरूप स्पष्ट न हो तो विशेषज्ञों से समझे, साधर्मियों से चर्चा करे, चर्चाओं में समागत

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

विषय पर गंभीर चिन्तन करे। इसप्रकार तबतक करता रहे, जबतक आगमानुसार सही निर्णय पर न पहुँचे।

'इसप्रकार प्रयास कबतक करना चाहिए ?' इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित होने पर आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''इसप्रकार इस जानने के अर्थ कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है इत्यादिरूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करने का इसको हर्ष बहुत है, इसलिए अंतरंग प्रीति से उसका साधन करता है। इसप्रकार साधन करते हुए जबतक (१) सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो, (२) 'यह इसीप्रकार है' ऐसी प्रतीति सहित जीवादि तत्त्वों का स्वरूप आपको भासित न हो, (३) जैसे पर्याय में अहंबुद्धि है, वैसे केवल आत्मा में अहंबुद्धि न आये, (४) हित-अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने तबतक सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि है।

यह जीव थोड़े ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त होगा; इसी भव में या अन्य पर्याय में सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा।[१]''

विशेष कर अध्यात्म शास्त्रों का श्रवण, अध्ययन, मनन, पठन-पाठन, चर्चा करना और पाठ करना ये सभी तत्त्वविचार में ही आते हैं; इसलिए उक्त कार्यों के माध्यम से तत्त्वविचार करने का काम तबतक करते रहना चाहिए; जबतक आत्मा में अहंबुद्धि न आवे और आत्मानुभव न हो जावे।

थोड़े काल का अर्थ पण्डितजी स्वयं स्पष्ट कर देते हैं कि रुचिपूर्वक तत्त्वाभ्यास करनेवालों को इसी भव में या अगले भव में सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जावेगी। तात्पर्य यह है कि हमारा एकमात्र कर्तव्य यह है कि हम सभी को जीवन पर्यन्त तत्त्वाभ्यास करते रहना चाहिए; क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्ति का बुद्धिपूर्वक किया जानेवाला पुरुषार्थ तो एकमात्र तत्त्वाभ्यास ही है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६०

तत्त्वविचार की महिमा बताते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''देखो, तत्त्वविचार की महिमा ! तत्त्वविचाररहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।[१]''

इसप्रकार सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों का कथन किया। इस प्रकरण का समापन करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''यहाँ नानाप्रकार के मिथ्यादृष्टियों का कथन किया है। उसका प्रयोजन यह जानना कि उन प्रकारों को पहिचानकर अपने में दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक् श्रद्धानी होना, औरों के ही ऐसे दोष देख-देखकर कषायी नहीं होना; क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से है। औरों को तो रुचिवान देखें तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करें।

इसलिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है; सर्वप्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है; क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है।[२]''

उक्त कथन को सातवें अधिकार का समापन वाक्य भी मान सकते हैं और चौथे अधिकार से लेकर सातवें अधिकार तक के प्रकरण का समापन वाक्य भी मान सकते हैं; क्योंकि **मिथ्यात्व का निरूपण चौथे अधिकार से आरंभ हुआ है और सातवें अधिकार के उपरान्त समाप्त हुआ है।**

चौथे अधिकार में अगृहीत मिथ्यात्व अर्थात् अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का निरूपण है और **पाँचवें से सातवें अधिकार तक गृहीत मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का वर्णन है। पाँचवें अधिकार में** अजैनों की अपेक्षा, **छठवें अधिकार में** जैनों में प्रचलित विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओं अर्थात् कुदेव, कुगुरु

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २६०
२. वही, पृष्ठ २६६-२६७

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

और कुधर्म की अपेक्षा और **सातवें अधिकार में** तत्त्वाभ्यासी जैनों की अपेक्षा निरूपण है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व के संदर्भ में जहाँ-जहाँ जिस-जिस अपेक्षा सावधानी अपेक्षित है, लगभग सभी को यहाँ समाहित कर लिया गया है।

उक्त समापन वाक्य में पण्डित टोडरमलजी अपने पाठकों को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में आदेश दे रहे हैं, अनुरोध कर रहे हैं कि उनके द्वारा निरूपित मिथ्यात्व के प्रकारों का प्रयोजन तो यह है कि यदि **तुम में इसप्रकार के दोष हों, तुम इसप्रकार की गलतियाँ कर रहे हो तो इसे पढकर उन्हें निकाल कर सन्मार्ग में लग जाना। दूसरों की गलतियाँ निकालने में इस प्रतिपादन का उपयोग नहीं करना; क्योंकि अपना कल्याण तो स्वयं को मिथ्यात्व से मुक्त करने में ही है।**

यदि अन्य साधर्मी भाई-बहिन भी रुचिवंत हों, तत्त्वाभ्यास करना चाहते हों; तो उन्हें भी मिथ्यात्व से बचने में यथासंभव सहयोग करें, वस्तुस्वरूप समझाने का समुचित प्रयास करें; किन्तु **जो समझना ही नहीं चाहते, उनसे उलझ कर अपने समय और शक्ति का अपव्यय नहीं करें।**

पण्डित टोडरमलजी साहब ने अत्यन्त करुणा करके आपके हित का यह कार्य अपनी जान की बाजी लगा कर किया है, उन्हें इसी प्रतिपादन के फलस्वरूप साम्प्रदायिक वैमनस्य का शिकार होकर जीवन से हाथ धोने पड़े। उनके इस अनंत उपकार के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ होकर हमें अपने हित के लिए उनके इस अन्तिम आदेश का पालन अवश्य करना चाहिए; **दूसरों की भलाई-बुराई में न उलझकर अपने शेष जीवन को आध्यात्मिक शास्त्रों के स्वाध्याय में लगाना चाहिए।** ●

> अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है: यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा अधर्म है। **आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६**

इक्कीसवाँ प्रवचन

यह मोक्षमार्गप्रकाशक का आठवाँ अधिकार है। इसमें उपदेश के स्वरूप पर विचार किया गया है। उपदेश संबंधी कार्य की महानता और उपदेश के स्वरूप के प्रतिपादन की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए पण्डित टोडरमलजी आरंभ में ही लिखते हैं

''अब मिथ्यादृष्टि जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उनका उपकार करना यही उत्तम उपकार है। तीर्थंकर, गणधरादिक भी ऐसा ही उपकार करते हैं; इसलिए इस शास्त्र में भी उन्हीं के उपदेशानुसार उपदेश देते हैं। वहाँ उपदेश का स्वरूप जानने के अर्थ कुछ व्याख्यान करते हैं; क्योंकि उपदेश को यथावत् न पहिचाने तो अन्यथा मानकर विपरीत प्रवर्तन करे। इसलिए उपदेश का स्वरूप कहते हैं।[१]''

उपदेश के कार्य को हम हीन कार्य समझ कर उससे विरक्त न हो जावें इसलिए वे हमें समझाते हैं कि **यह उपकार ही सर्वोत्तम उपकार है और ऐसा उपकार तो तीर्थंकर और गणधरदेव भी करते हैं।**

यह कार्य करनेवाले को जहाँ एक ओर इस बात का गौरव होना चाहिए कि हम वह कार्य कर रहे हैं, जो तीर्थंकरों ने किया था, गणधरों ने किया था; वहीं दूसरी ओर सतर्क और सावधान रहने की भी आवश्यकता है; क्योंकि **हमारी जरा-सी असावधानी तीर्थंकरों के परम पवित्र मार्ग को विकृत कर सकती है।**

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि हम ऐसा कार्य ही क्यों करें कि जिसमें तीर्थंकरों के मार्ग के विकृत होने के अवसर हों।

अरे, भाई ! यदि ऐसा ही हमारे धर्मपूर्वज सोचते तो यह मार्ग हमें भी कैसे प्राप्त होता ? तीर्थंकरों के मार्ग को सुरक्षित रखने के लिए, देशना

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २६८

लब्धि के अवसर सतत् विद्यमान रहें इसके लिए उपदेशरूप कार्य से सर्वथा विरत रहना ठीक नहीं है; **आत्मकल्याण की प्रमुखतापूर्वक परहित की कामना से सन्मार्ग को आगे बढाने में सहयोग करना अनुचित नहीं है, अपितु एक आवश्यक कार्य है।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि यदि आत्मकल्याण परमावश्यक कार्य है तो उपदेश की निरन्तरता बनाये रखना भी एक आवश्यक कार्य है।

यह तो आप जानते ही हैं कि णमोकार महामंत्र में सिद्धों से पहले अरहंतों को नमस्कार किया गया है। महानता में तो सिद्ध बड़े हैं; क्योंकि उन्होंने आठों कर्मों का अभाव कर दिया है, वे देह से भी मुक्त हो गये हैं; किन्तु उनसे उपदेश का लाभ प्राप्त नहीं होता; परन्तु अरहंतों की दिव्यध्वनि का लाभ सभी को प्राप्त होता है। उक्त उपकार के कारण ही णमोकार मंत्र में उन्हें प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है।

यह हमारा महाभाग्य है कि हमें तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों और सभी ज्ञानियों की बात को आगे बढाने का अवसर प्राप्त हुआ है। उनके द्वारा बताये गये तत्त्वज्ञान का ही यह प्रताप है कि हजारों लोग हमारी बात सुनने को सदा तैयार रहते हैं, हमारी पुस्तकों को पढने के लिए तत्पर हैं।

अरे, भाई ! इस जमाने में कौन किसकी सुनता है ? दश-पाँच आदमी तो इकट्ठा करके देखो। भोजन रखो, चूरमा-बाटी खिलाओ; तो भी लोगों को जोड़ना मुश्किल है।

खाने-पीने के लिए जुड़ भी जावेंगे तो खा-पीकर चल देंगे, आपकी बात नहीं सुनेंगे; पर हमारी बात बिना कुछ लिये-दिये सुनते हैं, सुनने को लालायित रहते हैं; क्योंकि हमारे पास तीर्थंकरों का तत्त्वज्ञान है।

यह सब प्रताप तीर्थंकरों के तत्त्वज्ञान का ही है; जो हमें जिनागम के स्वाध्याय से प्राप्त हुआ है, गुरुदेवश्री के सत्समागम से प्राप्त हुआ है, जिसे हमने तर्क की कसौटी पर कसकर परखा है और अपने अनुभव से प्रमाणित कर जगत के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र ने यही आदेश दिया है, यही विधि बताई है।[१]

जिनागम में वस्तुस्वरूप प्रतिपादन करने की अपनी एक शैली है। जबतक हम उसे नहीं जानेंगे, नहीं पहिचानेगे; तबतक हम जिनागम के मर्म को नहीं जान सकते। अत: हमें जिनागम का अभ्यास करने के पहले उसकी प्रतिपादन शैली को जानना चाहिए, पहिचानना चाहिए।

जब एक बालक रात को साढे नौ बजे घर आता है और माँ को आवाज देकर किवाड़ खोलने का अनुरोध करता है तो माँ पूछती है

''अबतक कहाँ थे, घर आने में इतनी देर क्यों हुई ?''

जब सहमते हुए बालक कहता है कि सिनेमा देखने गये थे तो माँ एकदम नाराज हो उठती है। कहती है

''यदि सिनेमा जाना था तो पूछा क्यों नहीं ?''

''अब पूछे बिना कभी नहीं जावेंगे, आज तो किवाड़ खोल दो।''

बालक के ऐसा कहने पर झल्लाते हुए माँ कहती है

''नहीं, नहीं; जावो ! और दूसरा शो भी देख आओ।''

ऐसा सुनकर बालक ऐसा नहीं समझता कि आज तो माँ बहुत खुश है, जो दूसरा शो देखने के लिए कह रही है; अपितु यही समझता है कि माँ बहुत नाराज है और इस भाषा में नाराजी ही व्यक्त कर रही है।

वह ऐसा नहीं कहता कि दूसरा शो देखने जाना है तो टिकिट के लिए पैसे दे दो; पर यही कहता है कि नहीं, नहीं; अब बिना पूछे कभी भी नहीं जाऊँगा।

तब डाँटते हुए माँ कहती है ''नहीं, नहीं; जावो दूसरा शो देखना और वही सिनेमाघर में ही सो जाना।''

अब तो बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि माँ बहुत-बहुत नाराज है और बालक बार-बार क्षमा याचना करने लगता है; क्योंकि वह अपनी

१. समयसार, गाथा ५ और उसकी आत्मख्याति टीका

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

माँ की बात करने की शैली से भलीभांति परिचित है।

इसीप्रकार जिनवाणी भी हमारी माता है। जिनवाणी माता के हृदय की बात जानने के लिए हमें उसकी कथन शैली को पहिचानना चाहिए, जानना चाहिए।

यही कारण है कि पण्डित टोडरमलजी यहाँ मुक्ति के मार्ग पर प्रकाश डालने के पूर्व जिनवाणी की कथन शैलियों का परिचय दे रहे हैं।

जिनागम में वस्तुस्वरूप को समझाने के लिए दो प्रकार की शैलियों को अपनाया गया है। एक है नयों की शैली और दूसरी है चार अनुयोग की शैली। नयों संबंधी शैली की चर्चा सातवें अधिकार के प्रसंग में हो चुकी है और चार अनुयोग संबंधी चर्चा इस अधिकार में होगी।

जिनोपदेश की कथन शैलियों की बात को आगे बढाते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''जिनमत में उपदेश चार अनुयोग के द्वारा दिया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग यह चार अनुयोग हैं।

वहाँ तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि महान पुरुषों के चरित्र का जिसमें निरूपण किया हो, वह प्रथमानुयोग है। तथा गुणस्थानमार्गणादिरूप जीव का व कर्मों का व त्रिलोकादि का जिसमें निरूपण हो, वह करणानुयोग है। तथा गृहस्थ-मुनि के धर्म आचरण करने का जिसमें निरूपण हो, वह चरणानुयोग है। तथा षट्द्रव्य, सप्ततत्त्वादिक का व स्व-पर का, भेदविज्ञानादिक का जिसमें निरूपण हो, वह द्रव्यानुयोग है।[१]''

साधारण लोगों का मन कथा-कहानियों में ही अधिक लगता है। वे लोग लौकिक कथा साहित्य को पढकर पापभावों का पोषण करते रहते हैं। यही कारण है कि उन्हें प्रथमानुयोग के शास्त्रों में पौराणिक कथाओं के माध्यम से संसार की विचित्रता और पुण्य-पाप का फल बताकर, पाप से बचाकर पुण्यरूप धर्म में लगाया जाता है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २६८

यदि तत्त्वज्ञानी जीव प्रथमानुयोग का स्वाध्याय करें तो उनके लिए ये कथायें उदाहरण के रूप में तत्त्वज्ञान के पोषण में सहयोगी होती हैं।

अनेक भवों की कथायें आत्मा की अनादि-अनंतता का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। वे हमारे चित्त में इस बात को जमा देती है कि आत्मा जन्म के पहले भी था और मृत्यु के बाद भी रहेगा।

आज के कुछ लोग पूर्वभव-परभव संबंधी कथाओं को अनुपयोगी बताते हैं; परन्तु ये कथायें आत्मा की अनादि-अनंतता तो सिद्ध करती ही हैं; हमारे चित्त को भी परिमार्जित करती हैं, साम्प्रदायिकता के जहर को उतारती हैं; जातिवाद, प्रान्तवाद के जहर से बचाती हैं; विभिन्न देशों, विभिन्न जातियों, विभिन्न वर्गों और विभिन्न धर्मों के बीच फैले द्वेषभाव को कम करती हैं, सद्भाव फैलाती हैं।

जब हम पढते हैं कि हिन्दुस्तानी मरकर पाकिस्तान में पैदा हो गया और पाकिस्तानी मरकर हिन्दुस्तान में पैदा हो गया; तो हमें लगता है कि ऐसा हमारे और आपके साथ भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में हम किसी देशवासी से राग और किसी देशवासी से द्वेष कैसे कर सकते हैं?

इसीप्रकार हिन्दू मरकर मुसलमान हो सकता है और मुसलमान मरकर हिन्दू के घर में पैदा हो सकता है तो फिर हम एक धर्म विशेष और उसके अनुयायियों से द्वेष कैसे कर सकते हैं ?

जरा, सोचिये तो सही; जो मुसलमान अपने बेटे को यह समझा रहा है कि हिन्दू काफिर होते हैं, उन्हें मारने में कोई पाप नहीं है; कल मर कर यदि वह हिन्दू के घर में पैदा हो गया तो उसका बेटा ही उसे मार डालेगा।

इसीप्रकार किसी हिन्दू ने अपने बेटे को मुस्लिमों के विरुद्ध भड़काया और वह स्वयं मरकर मुस्लिम घर में पैदा हो गया तो फिर उसका बेटा उसके साथ कैसा व्यवहार करेगा ? इसकी भी कल्पना तो की ही जा सकती है।

इसीप्रकार पशु-पक्षियों पर भी घटित किया जा सकता है। जब हम

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

यह समझेंगे कि आदमी मरकर कुत्ता, गधा कुछ भी हो सकता है। इसीप्रकार कुत्ता-गधा भी मरकर आदमी हो सकता है तो फिर हम पशुओं से भी दुर्व्यवहार नहीं कर सकेंगे।

सभी जीवों से साम्यभाव पैदा करनेवाले और मानव जाति को सहिष्णु बनानेवाले ये पूर्वभव-परभव संबंधी कथानक अत्यन्त उपयोगी हैं। इनका बहिष्कार-तिरस्कार करके जो पाप हम करते हैं या करेंगे; उसका कोई प्रायश्चित्त संभव नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रथमानुयोग के शास्त्र अत्यन्त उपयोगी हैं; क्योंकि इनका पठन-पाठन सामान्यजनों को भी शुद्ध, सात्त्विक, करुणावंत अहिंसक, सदाचारी और सद्व्यवहार करनेवाला बनाता है।

प्रथमानुयोग में मूल कथायें तो जैसी होती हैं, वैसी ही लिखी जाती है; किन्तु प्रसंगोपात्त व्याख्यान ज्यों के त्यों होने के साथ-साथ उनमें लेखक अपने विवेक का भी प्रयोग करता है, किन्तु प्रयोजन तदनुकूल ही रहता है। उक्त बात को उदाहरण के माध्यम से समझाते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''तीर्थंकर देवों के कल्याणकों में इन्द्र आये, यह कथा तो सत्य है। तथा इन्द्र ने स्तुति की, उसका व्याख्यान किया; सो इन्द्र ने तो अन्य प्रकार से ही स्तुति की थी और यहाँ ग्रन्थकर्ता ने अन्य ही प्रकार से स्तुति करना लिखा है; परन्तु स्तुतिरूप प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ।

तथा परस्पर किन्हीं के वचनालाप हुआ; वहाँ उनके तो अन्य प्रकार अक्षर निकले थे, यहाँ ग्रन्थकर्ता ने अन्य प्रकार कहे; परन्तु प्रयोजन एक ही दिखलाते हैं। तथा नगर, वन, संग्रामादिक के नामादिक तो यथावत् ही लिखते हैं और वर्णन हीनाधिक भी प्रयोजन का पोषण करता हुआ निरूपित करते हैं। इत्यादि इसीप्रकार जानना।

तथा प्रसंगरूप कथा भी ग्रंथकर्ता अपने विचारानुसार कहते हैं। जैसे धर्मपरीक्षा में मूर्खों की कथा लिखी; सो वही कथा मनोवेग ने

कही थी, ऐसा नियम नहीं है; परन्तु मूर्खपने का पोषण करनेवाली कोई कथा कही थी ऐसे अभिप्राय का पोषण करते हैं।

इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

प्रथमानुयोग के कथन आगमप्रमाण के रूप में प्रस्तुत करने के पूर्व यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि उसका मूल प्रयोजन क्या है; क्योंकि उसमें कहीं-कहीं अनुचित बातों की भी प्रशंसा कर दी जाती है; इसका प्रत्येक शब्द केवली भगवान की दिव्यध्वनि से विनिर्गत नहीं है। इस बात को स्पष्ट करते हुए पण्डित टोडरमलजी अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

उक्त संदर्भ में उनका मार्गदर्शन इसप्रकार है

''तथा प्रथमानुयोग में कोई धर्मबुद्धि से अनुचित कार्य करे, उसकी भी प्रशंसा करते हैं। जैसे विष्णुकुमार ने मुनियों का उपसर्ग दूर किया, सो धर्मानुराग से किया; परन्तु मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था; क्योंकि ऐसा कार्य तो गृहस्थधर्म में संभव है, और गृहस्थधर्म से मुनिधर्म ऊँचा है; सो ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार किया, यह अयोग्य है; परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णु-कुमारजी की प्रशंसा की है। इस छल से औरों को ऊँचा धर्म छोड़कर नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।

तथा जिसप्रकार ग्वाले ने मुनि को अग्नि से तपाया, सो करुणा से यह कार्य किया; परन्तु आये हुए उपसर्ग को दूर करे, सहज अवस्था में शीतादिक का परीषह होता है, उसे दूर करने पर रति मानने का कारण होता है, और उन्हें रति करना नहीं है, तब उल्टा उपसर्ग होता है।

इसी से विवेकी उनके शीतादिक का उपचार नहीं करते। ग्वाला अविवेकी ही था, करुणा से यह कार्य किया, इसलिए उसकी प्रशंसा की है; परन्तु इस छल से औरों को धर्मपद्धति में जो विरुद्ध हो, वह कार्य करना योग्य नहीं है।

तथा जैसे वज्रकरण राजा ने सिंहोदर राजा को नमन नहीं किया,

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २७२

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

मुद्रिका में प्रतिमा रखी; सो बड़े-बड़े सम्यग्दृष्टि राजादिक को नमन करते हैं, उसमें दोष नहीं है; तथा मुद्रिका में प्रतिमा रखने में अविनय होती है, यथावत् विधि से ऐसी प्रतिमा नहीं होती, इसलिए इस कार्य में दोष है; परन्तु उसे ऐसा ज्ञान नहीं था, उसे तो धर्मानुराग से 'मैं और को नमन नहीं करूँगा' ऐसी बुद्धि हुई है; इसलिए उसकी प्रशंसा की है। परन्तु इस छल से औरों को ऐसे कार्य करना योग्य नहीं है।

तथा कितने ही पुरुषों ने पुत्रादिक की प्राप्ति के अर्थ अथवा रोग-कष्टादि दूर करने के अर्थ चैत्यालय पूजनादि कार्य किये, स्तोत्रादि किये, नमस्कारमंत्र स्मरण किया; परन्तु ऐसा करने से तो नि:कांक्षितगुण का अभाव होता है, निदानबंध नामक आर्तध्यान होता है, पाप ही का प्रयोजन अंतरंग में है, इसलिए पाप ही का बंध होता है; परन्तु मोहित होकर भी बहुत पापबंध का कारण कुदेवादिक का तो पूजनादि नहीं किया, इतना उसका गुण ग्रहण करके उसकी प्रशंसा करते हैं।

इस छल से औरों को लौकिक कार्यों के अर्थ धर्म साधन करना युक्त नहीं है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

इसप्रकार प्रथमानुयोग का प्रयोजन और उसके कथन करने की पद्धति का स्वरूप स्पष्ट किया। अब करणानुयोग के संबंध में बात करते हैं।

करणानुयोग में केवलज्ञानगम्य कथन होता है। इसमें केवली भगवान की दिव्यध्वनि में समागत, जीवों और कर्मों का तथा त्रिलोकादि की रचना का निरूपण करके जीवों को धर्म में लगाया जाता है। **सामान्यजन तो इसके सूक्ष्म प्रतिपादन से प्रभावित होकर धर्ममार्ग में लगते हैं और तत्त्वज्ञानी जीव निश्चय-व्यवहारनय से इसके कथन को यथायोग्य घटित करके अपने श्रद्धान को दृढ करते हैं और उपयोग को निर्मल करते हैं।**

यद्यपि इसमें केवलज्ञान द्वारा जाना और केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि में समागत कथन होता है; तथापि उक्त वस्तुस्वरूप का पूरा लिखना तो

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २७४

संभव नहीं होता। अत: जिसप्रकार छद्मस्थों के ज्ञान में उसका भाव भासित हो जावे, उसप्रकार कथन करते हैं।

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''जीव के भावों की अपेक्षा गुणस्थान कहे हैं, वे भाव अनन्त-स्वरूपसहित वचन-गोचर नहीं है, वहाँ बहुत भावों की एक जाति करके चौदह गुणस्थान कहे हैं। तथा जीवों को जानने के अनेकप्रकार हैं, वहाँ मुख्य चौदह मार्गणा का निरूपण किया है।

तथा कर्मपरमाणु अनन्त प्रकार शक्तियुक्त हैं, उनमें बहुतों की एक जाति करके आठ व एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ कही हैं।

तथा त्रिलोक में अनेक रचनाएँ हैं, वहाँ कुछ मुख्य रचनाओं का निरूपण करते हैं।

तथा प्रमाण के अनन्त भेद हैं, वहाँ संख्यातादि तीन भेद व इनके इक्कीस भेद निरूपित किये हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि करणानुयोग में चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणायें, कर्म के ज्ञानावरणादि आठ मूल भेद एवं एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियाँ, त्रिलोक की मुख्य रचनायें एवं संख्या के संख्यात आदि तीन मूल भेद और इनके इक्कीस भेदों की चर्चा होती है।

उक्त कथन तो सर्वज्ञकथित होने से वस्तुपरक है; किन्तु करणानुयोग में कहीं-कहीं उपदेश की मुख्यता से भी व्याख्यान होता है।

उक्त कथन के संबंध में टोडरमलजी का मार्गदर्शन इसप्रकार है

''तथा करणानुयोग में भी कहीं उपदेश की मुख्यता सहित व्याख्यान होता है, उसे सर्वथा उसीप्रकार नहीं मानना।

जैसे हिंसादिक के उपाय को कुमतिज्ञान कहा है; अन्य मतादिक के शास्त्राभ्यास को कुश्रुतज्ञान कहा है; बुरा दिखे, भला न दिखे, उसे विभंगज्ञान कहा है; सो इनको छोड़ने के अर्थ उपदेश द्वारा ऐसा कहा है। तारतम्य से मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान कुज्ञान हैं, सम्यग्दृष्टि के सभी

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २७५

ज्ञान सुज्ञान हैं। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।

तथा कहीं स्थूल कथन किया हो उसे तारतम्यरूप नहीं जानना। जिसप्रकार व्यास से तीन गुनी परिधि कही जाती है, परन्तु सूक्ष्मता से कुछ अधिक तीन गुनी होती है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

इसप्रकार करणानुयोग का प्रयोजन और उसके कथन करने की पद्धति का स्वरूप कहा। अब चरणानुयोग के बारे में विचार करते हैं।

चरणानुयोग में दो प्रकार से उपदेश दिया जाता है। मात्र व्यवहार का और निश्चय सहित व्यवहार का।

जिन जीवों को निश्चय का ज्ञान नहीं है और उपदेश देने पर भी होता दिखाई न दे, उन्हें तो केवल व्यवहार का ही उपदेश देते हैं।

तथा जिन जीवों को निश्चय-व्यवहार का ज्ञान है अथवा जिन्हें उपदेश देने पर ज्ञान होता जाने ऐसे सम्यग्दृष्टि व सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीवों को निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश देते हैं।

असंज्ञी जीव तो उपदेश ग्रहण कर ही नहीं सकते; अत: अन्य जीवों को उनकी दया करने का उपदेश देकर उनका उपकार करते हैं।

व्यवहार उपदेश में तो बाह्य क्रियाओं की प्रधानता रहती है और निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की प्रधानता रहती है।

व्यवहार उपदेश में सम्यग्दर्शन के लिए अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयारूप धर्म को ही मानना, अन्य को नहीं मानना, जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना; सम्यग्ज्ञान के लिए जैनशास्त्रों का स्वाध्याय करने और सम्यक्चारित्र के लिए हिंसादि पापों का त्याग करके व्रतादि का पालन करने का उपदेश देते हैं।

निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के लिए स्वपरभेदविज्ञान पूर्वक तत्त्वश्रद्धान करने का और सम्यक्चारित्र के लिए रागादि भाव दूर करने का उपदेश देते हैं।

चरणानुयोग में छद्मस्थ की बुद्धिगोचर स्थूलपने की अपेक्षा लोक

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २७७

प्रवृत्ति की मुख्यता से उपदेश देते हैं; केवलज्ञानगम्य सूक्ष्मपने की अपेक्षा उपदेश नहीं देते; क्योंकि उसका आचरण संभव नहीं है।

आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि शास्त्रों में पात्र जीव को दान देने का आदेश है और पात्र तीन प्रकार के बताये गये हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान में रहनेवाले मुनिराज उत्तम पात्र हैं, व्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं; शेष सभी मिथ्यादृष्टि अपात्र हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो यह एकदम सही है; पर व्यावहारिक दृष्टि से पात्र व्यक्ति के संबंध में निर्णय करना आसान नहीं है। इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''तथा चरणानुयोग में व्यवहार-लोक-प्रवृत्ति की अपेक्षा ही नामादिक कहते हैं। जिसप्रकार सम्यक्त्वी को पात्र कहा तथा मिथ्यात्वी को अपात्र कहा; सो यहाँ जिसके जिनदेवादिक का श्रद्धान पाया जाये वह तो सम्यक्त्वी, जिसके उनका श्रद्धान नहीं है, वह मिथ्यात्वी जानना। क्योंकि दान देना चरणानुयोग में कहा है; इसलिए चरणानुयोग के ही सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करना।

करणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करने से वही जीव ग्यारहवें गुणस्थान में था और वही अन्तर्मुहूर्त में पहले गुणस्थान में आये तो वहाँ दातार पात्र-अपात्र का कैसे निर्णय कर सके ?

तथा द्रव्यानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करने पर मुनिसंघ में द्रव्यलिंगी भी हैं और भावलिंगी भी हैं; सो प्रथम उनका ठीक (निर्णय) होना कठिन है; क्योंकि बाह्य प्रवृत्ति समान है।

तथा यदि कदाचित् सम्यक्त्वी को किसी चिह्न द्वारा ठीक (निर्णय) हो जाये और वह उसकी भक्ति न करे तो औरों को संशय होगा कि इसकी भक्ति क्यों नहीं की ?

इसप्रकार उसका मिथ्यादृष्टिपना प्रगट हो तब संघ में विरोध उत्पन्न हो; इसलिए यहाँ व्यवहार सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा कथन जानना।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

यहाँ कोई प्रश्न करे सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगी को अपने से ही हीनगुणयुक्त मानता है, उसकी भक्ति कैसे करें ?

समाधान व्यवहारधर्म का साधन द्रव्यलिंगी के बहुत है और भक्ति करना भी व्यवहार ही है। इसलिए जैसे कोई धनवान हो, परन्तु जो कुल में बड़ा हो, उसे कुल अपेक्षा बड़ा जानकर उसका सत्कार करता है; उसीप्रकार आप सम्यक्त्व गुण सहित है, परन्तु जो व्यवहारधर्म में प्रधान हो, उसे व्यवहारधर्म की अपेक्षा गुणाधिक मानकर उसकी भक्ति करता है, ऐसा जानना।

इसीप्रकार जो जीव बहुत उपवासादि करे उसे तपस्वी कहते हैं; यद्यपि कोई ध्यान-अध्ययनादि विशेष करता है, वह उत्कृष्ट तपस्वी है; तथापि यहाँ चरणानुयोग में बाह्यतप की प्रधानता है, इसलिए उसी को तपस्वी कहते हैं। इसप्रकार अन्य नामादिक जानना।[१]''

इसप्रकार चरणानुयोग के प्रयोजन और उसकी कथन पद्धति का स्वरूप कहा। अब द्रव्यानुयोग के बारे में बात करते हैं।

द्रव्यानुयोग में जैन तत्त्वज्ञान से अपरिचित जीवों को जैन तत्त्वज्ञान से परिचित कराने के लिए जीवादि द्रव्यों व तत्त्वों का स्वपरभेदविज्ञान की मुख्यता से उदाहरणों के माध्यम से सयुक्ति विवेचन करते हैं। इससे उनकी अनादि अज्ञानता दूर होती है। तत्त्वज्ञानी जीवों को यह सभी कथन अपने श्रद्धान के अनुसार ही प्रतिभासित होता है।

द्रव्यानुयोग में मोक्षमार्ग का श्रद्धान कराने के लिए जीवादि तत्त्वों का युक्ति, हेतु और दृष्टान्तों द्वारा विशेष निरूपण करते हैं। जिसप्रकार स्वपर-भेदविज्ञान हो, उसप्रकार जीव-अजीव का निर्णय कराते हैं और जिसप्रकार वीतरागभाव प्रगट हो, उसप्रकार आस्रवादि का स्वरूप बताते हैं।

उक्त संदर्भ में सचेत करते हुए पण्डित टोडरमलजी कहते हैं

''तथा द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म-उपदेश की प्रधानता हो,

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २८३-२८४

वहाँ व्यवहार धर्म का भी निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभव का उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्ड में मग्न हैं, उनको वहाँ से उदास करके आत्मानुभवनादि में लगाने के लिए व्रत-शील-संयमादिक का हीनपना प्रगट करते हैं।

वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि इनको छोड़कर पाप में लगना है; क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन अशुभ में लगाने का नहीं है। शुद्धोपयोग में लगाने को शुभोपयोग का निषेध करते हैं।[१]

तथा जो जीव जिनबिम्ब भक्ति आदि कार्यों में ही मग्न हैं, उनको आत्मश्रद्धानादि कराने के लिए 'देह में देव है, मंदिरों में नहीं' इत्यादि उपदेश देते हैं। वहाँ ऐसा नहीं जान लेना कि भक्ति छोड़कर भोजनादिक से अपने को सुखी करना; क्योंकि उस उपदेश का प्रयोजन ऐसा नहीं है।

इसीप्रकार अन्य व्यवहार का निषेध करते हैं, उसे जानकर प्रमादी नहीं होना। ऐसा जानना कि जो केवल व्यवहार साधन में ही मग्न हैं, उनको निश्चय रुचि कराने के अर्थ व्यवहार को हीन बतलाया है।[२]''

द्रव्यानुयोग में भी चरणानुयोग के समान ग्रहण-त्याग कराने का प्रयोजन है; इसलिए छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा कथन किया है। मात्र इतना ही अन्तर है कि **चरणानुयोग में बाह्य क्रिया की मुख्यता से कथन होता है और द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से निरूपण करते हैं। करणानुयोग के समान सूक्ष्म वर्णन उक्त दोनों ही अनुयोगों में नहीं होता।**

जहाँ एक ओर चरणानुयोग कहेगा कि आचरण सुधरेगा तो परिणाम भी सुधर जावेंगे, इसलिए पहले आचरण तो सुधारो; वहीं दूसरी ओर द्रव्यानुयोग में यह कहा जायेगा कि परिणाम सुधरे बिना कोरे बाह्य क्रिया-काण्ड से कुछ नहीं होता। यदि परिणाम सुधर गये तो आचरण भी सुधरे बिना नहीं रहेगा। अध्यात्म उससे भी आगे जायेगा और कहेगा कि

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २८४
२. वही, पृष्ठ २८५

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

अभिप्राय ठीक हुए बिना, मिथ्यात्व गये बिना, **आत्मानुभूति हुए बिना न क्रियाकाण्ड रूप सदाचार काम आयेगा और न शुभ परिणामों से ही कुछ होगा।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रयोजन विशेष से अलग-अलग स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के कथन मिलेंगे। अत: हमारा कर्तव्य है कि हम प्रयोजन को ध्यान में रखकर विभिन्न अपेक्षाओं से किये गये कथनों के मर्म को समझे; उन्हें विरोधाभासी समझकर दिग्भ्रमित न हों।

यदि हम इन अनुयोगों के निरूपण की पद्धति को अच्छी तरह नहीं समझेंगे तो हमें जिनागम में कदम-कदम पर विरोध नजर आयेगा। आजकल बहुत कुछ ऐसा हो भी रहा है। **कुछ लोग कहते हैं कि शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान और उसके ऊपर के गुणस्थानों में ही होता है; किन्तु कुछ लोगों का कहना यह है कि धर्म का आरंभ शुद्धात्मानुभूति अर्थात् शुद्धोपयोग से चौथे गुणस्थान में भी हो सकता है, होता है।**

आज जिन समस्याओं का समाधान बड़े-बड़े पण्डित और संतजन भी मिलकर नहीं कर पा रहे हैं; उनका समाधान आज से ढाई सौ वर्ष पहले पण्डित टोडरमलजी ने अपनी कोठरी में बैठे-बैठे निकाल लिया था।

''उपयोग के शुभ, अशुभ, शुद्ध ऐसे तीन भेद कहे हैं; वहाँ धर्मानुरागरूप परिणाम वह शुभोपयोग, पापानुरागरूप व द्वेषरूप परिणाम वह अशुभोपयोग और राग-द्वेषरहित परिणाम वह शुद्धोपयोग ऐसा कहा है; सो इस छद्मस्थ के बुद्धिगोचर परिणामों की अपेक्षा यह कथन है; करणानुयोग में कषायशक्ति की अपेक्षा गुणस्थानादि में संक्लेश-विशुद्ध परिणामों की अपेक्षा निरूपण किया है, वह विवक्षा यहाँ नहीं है।

करणानुयोग में तो रागादि रहित शुद्धोपयोग यथाख्यातचारित्र होने पर होता है, वह मोह के नाश से स्वयमेव होगा; निचली अवस्था वाला शुद्धोपयोग का साधन कैसे करे ?

तथा द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग करने का ही मुख्य उपदेश है; इसलिए वहाँ छद्मस्थ जिस काल में बुद्धिगोचर भक्ति आदि व हिंसा आदि कार्यरूप परिणामों को छोड़कर आत्मानुभवनादि कार्यों में प्रवर्ते, उसकाल उसे शुद्धोपयोगी कहते हैं।

यद्यपि यहाँ केवलज्ञानगोचर सूक्ष्मरागादिक हैं; तथापि उसकी विवक्षा यहाँ नहीं की, अपनी बुद्धिगोचर रागादिक छोड़ता है, इस अपेक्षा उसे शुद्धोपयोग कहा है।[१]''

निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''इसलिए द्रव्यानुयोग के कथन की विधि करणानुयोग से मिलाना चाहे तो कहीं तो मिलती है, कहीं नहीं मिलती। जिसप्रकार यथाख्यात चारित्र होने पर तो दोनों अपेक्षा शुद्धोपयोग है, परन्तु निचली दशा में द्रव्यानुयोग अपेक्षा से तो कदाचित् शुद्धोपयोग होता है, परन्तु करणानुयोग अपेक्षा से सदाकाल कषाय अंश के सद्भाव से शुद्धोपयोग नहीं है। इसीप्रकार अन्य कथन जान लेना।[२]''

इसप्रकार द्रव्यानुयोग का प्रयोजन और पद्धति का निरूपण किया।

प्रथमानुयोग में अलंकार शास्त्र की व काव्यादि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है, करणानुयोग में गणित आदि शास्त्रों की पद्धति मुख्य है, चरणानुयोग में सुभाषित नीतिशास्त्रों की पद्धति मुख्य है और द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य है।

यद्यपि जैनदर्शन में अधिकांश शास्त्र तो इन चार अनुयोगों में गर्भित हो जाते हैं; तथापि इनके अतिरिक्त न्याय, छन्द, कोश, वैद्यक, ज्योतिष, मंत्रादि शास्त्र भी जैनमत में पाये जाते हैं।

उक्त शास्त्रों का स्वाध्याय करने या न करने के संबंध में जो मार्गदर्शन पण्डितजी ने दिया है; वह इसप्रकार है

''भाषा तो अपभ्रंशरूप अशुद्धवाणी है, देश-देश में और-और हैं; वहाँ महन्त पुरुष शास्त्रों में ऐसी रचना कैसे करें ?

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २८५-२८६ २. वही, पृष्ठ २८६

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

तथा व्याकरण-न्यायादि द्वारा जैसे यथार्थ सूक्ष्म अर्थ का निरूपण होता है, वैसी सीधी भाषा में नहीं हो सकता; इसलिए व्याकरणादिक की आम्नाय से वर्णन किया है। सो अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ा-बहुत इनका अभ्यास करके अनुयोगरूप प्रयोजनभूत शास्त्रों का अभ्यास करना।[१]

यहाँ इतना है कि ये भी जैनशास्त्र हैं ऐसा जानकर इनके अभ्यास में बहुत नहीं लगना। यदि बहुत बुद्धि से इनका सहज जानना हो और इनको जानने से अपने रागादिक विकार बढते न जाने, तो इनका भी जानना होओ। अनुयोगशास्त्रवत् ये शास्त्र बहुत कार्यकारी नहीं हैं; इसलिए इनके अभ्यास का विशेष उद्यम करना योग्य नहीं है।[२]''

यदि ऐसी बात है तो हम इन्हें पढे ही क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''तथा व्याकरण-न्यायादिक शास्त्र हैं, उनका भी थोड़ा-बहुत अभ्यास करना; क्योंकि उनके ज्ञान बिना बड़े शास्त्रों का अर्थ भासित नहीं होता। तथा वस्तु का स्वरूप भी इनकी पद्धति जानने पर जैसा भासित होता है, वैसा भाषादिक द्वारा भासित नहीं होता; इसलिए परम्परा कार्यकारी जानकर इनका भी अभ्यास करना; परन्तु इन्हीं में फँस नहीं जाना। इनका कुछ अभ्यास करके प्रयोजनभूत शास्त्रों के अभ्यास में प्रवर्तना।

तथा वैद्यकादि शास्त्र हैं, उनसे मोक्षमार्ग में कुछ प्रयोजन ही नहीं है; इसलिए किसी व्यवहारधर्म के अभिप्राय से बिना खेद के इनका अभ्यास हो जाये तो उपकारादि करना, पापरूप नहीं प्रवर्तना और इनका अभ्यास न हो तो मत होओ, कुछ बिगाड़ नहीं है।[३]''

अरे, भाई ! यदि आपकी उम्र हो गई है तो न्याय-व्याकरणादि में

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २८७
२. वही, पृष्ठ २८८
३. वही, पृष्ठ २९४

समय खराब नहीं करना ही समझदारी है; किन्तु यदि अभी किशोरावस्था ही है तो इनका थोड़ा-बहुत अभ्यास अवश्य करना।

जरा, विचार तो करो ! कोई व्यक्ति अपनी माँ की भाषा ही न जाने और अपनी माँ से बात करने के लिए भी उसे दुभाषिया की आवश्यकता पड़े इससे बड़ा दुर्भाग्य जगत में और कौन होगा ?

जिनवाणी भी हमारी माता है और वह मूलत: तो प्राकृत-संस्कृत में ही है। उसे समझने के लिए हमें जीवन भर दूसरों का मुँह ताकना पड़े, पण्डितों के भरोसे रहना पड़े यह कोई अच्छी बात नहीं है।

अत: यदि अभी किशोरावस्था ही है तो वर्ष-दो वर्ष प्राकृत-संस्कृत भाषा सीखने में लग जावें तो कोई हानि नहीं है।

इसीप्रकार न्यायशास्त्र पढे बिना वस्तुस्वरूप को तर्क की कसौटी पर कसना संभव नहीं है। उसके बिना तत्त्वनिर्णय में दृढता नहीं आती; इसलिए **नई उम्रवालों को थोड़ा-बहुत न्यायशास्त्रों का अभ्यास करना भी अनुपयुक्त नहीं है, उपयोगी ही है; परन्तु न्याय-व्याकरण में जीवन लगा देना तो किसी को भी उपयुक्त नहीं है।**

पण्डित टोडरमलजी ने स्वयं उपयोगी समझकर आवश्यकतानुसार थोड़ा-बहुत न्याय-व्याकरण शास्त्रों का अभ्यास किया था और शेष जीवन करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग के शास्त्रों के पठन-पाठन में बिताया, अध्यात्मशास्त्रों के स्वाध्याय में लगाया। वे यही सलाह हमें और आपको दे रहे हैं। वे उन पण्डितों में से नहीं थे, जो लोग जगत को जो रास्ता बताते हैं; उस पर स्वयं नहीं चलते।

इसप्रकार चार अनुयोगों की कथन पद्धति और प्रयोजन को समझाया। ●

मेरा यह त्रिकाली ध्रुव परमात्मा देहदेवल में विराजमान होने पर भी अदेही है, देह से भिन्न है। **गागर में सागर, पृष्ठ-२०**

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

बाईसवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक का आठवाँ अधिकार चल रहा है। इसमें उपदेश का स्वरूप समझाया जा रहा है। उपदेश के स्वरूप के अंतर्गत चार अनुयोगों की चर्चा चल रही है। विगत प्रवचन में अनुयोगों का प्रयोजन, व्याख्यान विधान और कथन पद्धति की चर्चा हुई।

अब अनुयोगों के संबंध में जिन दोषों की कल्पना की जाती है; उन कल्पनाओं का निराकरण करते हैं।

प्रथमानुयोग के संबंध में कुछ लोग कहते हैं कि पुराणों में रागवर्द्धक शृंगारादिक का और द्वेषवर्धक युद्धों का वर्णन बहुत करते हैं; उनके निमित्त से राग-द्वेष बढते हैं; इसलिए ऐसा कथन करना ठीक नहीं है, ऐसे कथनों को सुनना-पढना भी ठीक नहीं है।

ऐसे लोगों से कहते हैं कि यदि कथा कहना हो तो सभी बातों का वर्णन करना जरूरी होता है, परोक्ष कथन को बढा-चढाकर न कहें तो उसका स्वरूप भासित नहीं होता। यदि अन्त में भोगों के त्याग करने की महिमा बताना है तो पहले भोगों का विस्तृत वर्णन अपेक्षित ही है; क्योंकि असीम भोगों की उपलब्धि होने पर भी उन्हें तृणसम त्याग दिया ऐसा कथन करने से भोगों के त्याग की महिमा आये बिना नहीं रहती।

अरे, भाई ! रागी जीवों का मन अकेले वैराग्य कथन में नहीं लगता। इसलिए जिसप्रकार बालक को कड़वी औषधि मीठे बतासे में रखकर खिलाई जाती है; उसीप्रकार **यहाँ आचार्यदेव रागी जीवों को भोगादि के कथन के माध्यम से धर्म की रुचि कराते हैं।** फिर भी यदि किसी तीव्र रागी की धर्म में रुचि न जगे और रागादिक बढ जावें तो आचार्य क्या करें?

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''जैसे कोई चैत्यालय बनवाये, उसका प्रयोजन तो वहाँ धर्मकार्य कराने का है; और कोई पापी वहाँ पापकार्य करे तो चैत्यालय बनवानेवाले का तो दोष नहीं है। उसीप्रकार श्रीगुरु ने पुराणादि में शृंगारादिक का वर्णन किया; वहाँ उनका प्रयोजन रागादिक कराने का तो है नहीं, धर्म में लगाने का प्रयोजन है; परन्तु कोई पापी धर्म न करे और रागादिक ही बढाये तो श्रीगुरु का क्या दोष है ?[१]''

आचार्यों ने तो महापुरुषों के चरित्र के माध्यम से रागी जीवों को भी धर्म से लगाने के लिए प्रथमानुयोग के शास्त्रों की रचना की है; यदि किसी तीव्र रागी जीव को उनके अध्ययन से भी राग का ही पोषण होता है, तो फिर इसमें आचार्यों का तो कोई दोष है नहीं।

दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार कामी पुरुषों की कथा सुनने पर सुननेवाले को काम वासना बढती है, कामभाव का प्रेम उमड़ता है; उसीप्रकार **धर्मात्मा पुरुषों की कथा सुनने से सुननेवाले को धर्मप्रेम उत्पन्न होता है; इसलिए प्रथमानुयोग का अभ्यास करना योग्य ही है।**

कुछ लोग कहते हैं कि करणानुयोग के स्वाध्याय करने से गुणस्थान, मार्गणास्थान, कर्मप्रकृतियों और त्रिलोकादि का जानना होता है; उससे अपना कुछ कार्य तो होता नहीं। इससे तो यही अच्छा है कि भक्ति करें, व्रत-दानादि करें या आत्मानुभव करें तो अपना कुछ भला हो।

ऐसे लोगों से पण्डित टोडरमलजी कहते हैं

''परमेश्वर तो वीतराग हैं; भक्ति करने से प्रसन्न होकर कुछ करते नहीं हैं। भक्ति करने से कषाय मंद होती है, उसका स्वयमेव उत्तम फल होता है। सो करणानुयोग के अभ्यास में उससे भी अधिक मंद कषाय हो सकती है, इसलिए उसका फल अति उत्तम होता है।

तथा व्रत-दानादिक तो कषाय घटाने के बाह्य निमित्त के साधन हैं और करणानुयोग का अभ्यास करने पर वहाँ उपयोग लग जाये, तब रागादिक दूर होते हैं सो यह अंतरंग निमित्त का साधन है; इसलिए यह विशेष कार्यकारी है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २८९

तथा आत्मानुभव सर्वोत्तम कार्य है; परन्तु सामान्य अनुभव में उपयोग टिकता नहीं है, इसलिए अन्य विकल्प होते हैं; वहाँ करणानुयोग का अभ्यास हो तो उस विचार में उपयोग को लगाता है।

यह विचार वर्तमान में भी रागादिक घटाता है और आगामी रागादिक घटाने का कारण है; इसलिए यहाँ उपयोग लगाना।

जीव-कर्मादिक के नानाप्रकार से भेद जाने, उनमें रागादिक करने का प्रयोजन नही हैं, इसलिए रागादिक बढते नहीं हैं; वीतराग होने का प्रयोजन जहाँ-तहाँ प्रगट होता है, इसलिए रागादिक मिटाने का कारण है।[१]''

मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त कथन में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह समझाया गया है कि ऐसा तो है नहीं कि भक्ति करने से भगवान प्रसन्न हो जावेंगे और तुझे कुछ दे देंगे, तेरी मनोकामना पूरी कर देंगे; क्योंकि **जैन मान्यतानुसार तो भगवान पूर्ण वीतरागी हैं, वे किसी का कुछ करते नहीं हैं। वस्तुत: बात तो यह है कि कोई किसी का भला-बुरा कर ही नहीं सकता है; क्योंकि दो द्रव्यों के बीच में अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है।**

हाँ, यह बात अवश्य है कि भक्ति के काल में जो पुण्यबंध होता है, उसके उदय में आने पर बाह्य में कुछ अनुकूलता हो जाती है; पर करणानुयोग के स्वाध्याय से तो ज्ञान होने के साथ-साथ भक्ति से भी अधिक पुण्यबंध होता है; क्योंकि **भक्ति में मात्र पुनरावृत्ति (रिपीटीसन) होती है; अत: मन यहाँ-वहाँ अशुभ में भी चला जाता है; पर करणानुयोग के स्वाध्याय में नया-नया विषय जानने में आने से उपयोग भटकता नहीं है, अशुभ में जाता नहीं है; इसकारण उत्कृष्ट शुभभाव होने से उत्कृष्ट कोटि का और अधिक पुण्यबंध होता है। अत: भक्ति से स्वाध्याय हर दृष्टि से श्रेष्ठ ही है; क्योंकि इसमें पुण्यबंध के साथ-साथ ज्ञान की भी प्राप्ति होती है, दुहरा लाभ है।**

पंचास्तिकाय की समय व्याख्या टीका में तो लिखा है कि भक्ति की

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९०

प्रधानतावाली भक्ति तो अज्ञानियों के होती है। तीव्र राग-ज्वर मिटाने के लिए और अस्थान में राग न हो जावे इसलिए कभी-कभी ज्ञानियों के भी होती है। अत: **भक्ति के नाम पर स्वाध्याय का निषेध करना ठीक नहीं है।**

रही आत्मानुभव की बात, सो आत्मानुभव तो सर्वोत्कृष्ट है ही, पर यह आत्मा आत्मानुभव में सदा रह नहीं सकता; अत: **जब आत्मानुभव में उपयोग न रहे, तब तो करणानुयोग का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।**

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि हम स्वाध्याय का निषेध नहीं करते, परन्तु करणानुयोग में कठिनता बहुत है, इसलिए उसके अभ्यास से खेद होता है। अत: करणानुयोग में उलझने से कोई लाभ नहीं है हम तो मात्र यह कहते हैं।

ऐसे लोगों को समझाने हेतु पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''यदि वस्तु शीघ्र जानने में आये तो वहाँ उपयोग उलझता नहीं है; तथा जानी हुई वस्तु को बारम्बार जानने का उत्साह नहीं होता, तब पापकार्यों में उपयोग लग जाता है; इसलिए अपनी बुद्धि अनुसार कठिनता से भी जिसका अभ्यास होता जाने, उसका अभ्यास करना तथा जिसका अभ्यास हो ही न सके, उसका कैसे करे?

तथा तू कहता है खेद होता है; परन्तु प्रमादी रहने में तो धर्म है नहीं; प्रमाद से सुखी रहे, वहाँ तो पाप ही होता है; इसलिए धर्म के अर्थ उद्यम करना ही योग्य है।[१]''

सरल विषय का स्वाध्याय करने से उपयोग में वैसी एकाग्रता नहीं होती, जैसे कठिन विषय को समझने के प्रयास में होती है; इसलिए भी प्रमाद छोड़कर करणानुयोग के स्वाध्याय में उपयोग को लगाना चाहिए।

कठिन विषय के स्वाध्याय में खेद होता है यह कहकर प्रमाद का पोषण करना तो किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। अत: करणानुयोग के

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९१

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

विषय को समझने में शक्ति अनुसार उद्यम तो करना ही चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि चरणानुयोग में बाह्य व्रतादि पालने का उपदेश है; परन्तु इसमें कुछ लाभ तो है नहीं, अपने परिणाम निर्मल होना चाहिए।

उनसे कहते हैं कि अपने परिणामों और बाह्य प्रवृत्ति में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; क्योंकि छद्मस्थ की क्रियायें परिणामपूर्वक ही होती हैं।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''तथा यदि बाह्य संयम से कुछ सिद्धि न हो तो सर्वार्थसिद्धिवासी देव सम्यग्दृष्टि बहुत ज्ञानी हैं, उनके तो चौथा गुणस्थान होता है और गृहस्थ श्रावक मनुष्यों के पंचम गुणस्थान होता है, सो क्या कारण है? तथा तीर्थंकरादिक गृहस्थपद छोड़कर किसलिए संयम ग्रहण करें ?

इसलिए यह नियम है कि बाह्य संयम-साधन बिना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते; इसलिए बाह्य साधन का विधान जानने के लिए चरणानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।[१]''

ध्यान रहे, पण्डित टोडरमलजी का स्पष्टरूप से यह कहना है कि परिणामों की निर्मलता के लिए जीवन का निर्मल होना अत्यन्त आवश्यक है। परिणामों में निर्मलता से जीवन निर्मल होता है और जीवन की निर्मलता से परिणाम निर्मल होते हैं। ऐसा ही परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सहज संबंध है।

मनुष्यगति में तो संयम की ही प्रधानता है; क्योंकि देवगति और नरकगति में तो संयम होता ही नहीं है तथा तिर्यंचगति में भी मात्र देशसंयम ही होता है। मात्र मनुष्यगति ही ऐसी है कि जिसमें पूर्ण संयम हो सकता है। **चरणानुयोग के शास्त्रों के स्वाध्याय बिना जब हमें यही पता नहीं होगा कि जीव कहाँ-कहाँ हैं, किन-किन खाद्य पदार्थों में अनंत स्थावर जीव हैं, त्रस जीव हैं; तो फिर हम उनकी दया का पालन कैसे कर सकेंगे, हमारा आचरण अहिंसक आचरण कैसे होगा ?**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९२

हमारा खान-पान, हमारा उठना-बैठना, पहिनना-ओढना कैसा होना चाहिए यह जाने बिना हमारा जीवन शुद्ध और सात्त्विक कैसे होगा ? यह सब सोचने की बात है।

इन सबकी जानकारी के लिए हमें चरणानुयोग का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि द्रव्यानुयोग में व्रत-संयमादि व्यवहार धर्म को हेय कहा है और सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादि को भी निर्जरा का कारण कहा है। इसे सुनकर लोग स्वच्छन्द हो जावेंगे और पुण्य कार्यों को छोड़कर पाप कार्यों में लगेंगे। इसलिए द्रव्यानुयोग के शास्त्रों को पढना-सुनना ठीक नहीं है।

ऐसे लोगों को समझाने हेतु पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''जैसे गधा मिश्री खाकर मर जाये तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ेंगे; उसीप्रकार विपरीतबुद्धि अध्यात्मग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्द हो जाये तो विवेकी तो अध्यात्मग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ेंगे।

इतना करे कि जिसे स्वच्छन्द होता जाने; उसे जिसप्रकार वह स्वच्छन्द न हो, उसप्रकार उपदेश दे।

तथा अध्यात्मग्रन्थों में भी स्वच्छन्द होने का जहाँ-तहाँ निषेध करते हैं; इसलिए जो भली-भाँति उनको सुने, वह तो स्वच्छन्द होता नहीं; परन्तु एक बात सुनकर अपने अभिप्राय से कोई स्वच्छन्द हो तो ग्रन्थ का तो दोष है नहीं, उस जीव ही का दोष है।

तथा यदि झूठे-दोष की कल्पना करके अध्यात्मशास्त्रों को पढने-सुनने का निषेध करें तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ ही है; उसका निषेध करने से तो मोक्षमार्ग का निषेध होता है।

जैसे मेघवर्षा होने पर बहुत से जीवों का कल्याण होता है और किसी को उल्टा नुकसान हो तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना; उसीप्रकार सभा में अध्यात्म उपदेश होने पर बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु कोई उल्टा पाप में प्रवर्ते,

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

तो उसकी मुख्यता करके अध्यात्मशास्त्रों का तो निषेध नहीं करना।

तथा अध्यात्म ग्रंथों से कोई स्वच्छन्द हो; सो वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था, अब भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर कुगति होगी। परन्तु अध्यात्म उपदेश न होने पर बहुत जीवों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इसमें बहुत जीवों का बहुत बुरा होता है; इसलिए अध्यात्म उपदेश का निषेध नहीं करना।[१]''

देखो, पण्डितजी कितने कठोर शब्दों में बता रहे हैं कि गधा मिश्री खाने से मर जाये तो सज्जन तो मिश्री खाना छोड़ते नहीं हैं; उसीप्रकार **यदि कोई विपरीत बुद्धि जीव अध्यात्म ग्रन्थों को पढकर भ्रष्ट हो जावें तो उसको आधार बनाकर समझदार लोगों को तो अध्यात्म ग्रंथों के स्वाध्याय से विरक्त नहीं होना चाहिए।**

हाँ, इस संदर्भ में सावधानी अवश्य रखना चाहिए। यही कारण है कि अध्यात्म ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर सावधान किया है, स्वच्छन्द होने का निषेध किया है। हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि स्वयं तो सावधान रहें ही, समय-समय पर अन्य साधर्मी भाई-बहिनों को भी सावधान करते रहें। फिर भी कोई अज्ञानी सावधानी न रखे और स्वच्छन्द हो जावे तो इसमें अध्यात्म शास्त्रों का तो कोई दोष नहीं है, उसका ही दोष है।

यदि स्वच्छन्द होने के झूठे भय से अध्यात्म शास्त्रों के अध्ययन-मनन-चिन्तन का निषेध किया जायेगा तो मोक्षमार्ग का ही निषेध हो जावेगा; क्योंकि मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो अध्यात्मशास्त्रों में ही है।

पण्डितजी ने मेघवर्षा का उदाहरण देकर यह समझाया है कि मेघवर्षा से किसी को जुखाम हो जाये तो क्या हम बरसात का ही निषेध कर देंगे ?

नहीं, कदापि नहीं; उसीप्रकार अध्यात्मचर्चा सुनकर एकाध जीव स्वच्छन्द हो जावे तो क्या उसके भय से सभा में अध्यात्मशास्त्रों पर

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९२

प्रवचन करना बन्द कर देना समझदारी का काम है ? नहीं, कदापि नहीं।

पण्डितजी तो यहाँ तक लिखते हैं कि जो व्यक्ति अध्यात्म सुनकर स्वच्छन्द होता है, वह तो पहिले भी मिथ्यादृष्टि था और अभी भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। विशेष नुकसान क्या हुआ ?

हाँ, यह बात अवश्य है कि शुभभाव और शुभ क्रियाओं के कारण कदाचित् उसे देवादि गति की प्राप्ति हो जाती; परन्तु अब उन शुभभावों और शुभक्रियाओं से विरक्त हो जाने के कारण और अशुभभावों व अशुभक्रियाओं में प्रवृत्त हो जाने से कदाचित् नरकादि में जाना पड़े; परन्तु देवगति और नरकगति तो संसार के ही रूप हैं; आखिर तो वह संसार ही में रहा; मुक्तिमार्ग में न तो पहले था और न अब ही रहा; अत: कोई खास नुकसान नहीं हुआ।

यदि उसके उस **थोड़े से नुकसान को ध्यान में रखकर अध्यात्मशास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन, मनन, चिंतन इन पर होनेवाले प्रवचनों को बंद कर देंगे तो फिर मोक्षमार्ग ही अवरुद्ध हो जायेगा।** यदि ऐसा हुआ तो फिर जैन शास्त्रों के स्वाध्याय की उपयोगिता क्या रही ?

अत: आध्यात्मिक शास्त्रों के पठन-पाठन, सभा में उन पर प्रवचनों को रोकना जैनदर्शन का विरोध है, नरक-निगोद का कारण है।

यह एक ऐसा महापाप है कि जिसके कारण मोक्षमार्ग का ही निर्मूलन हो जाता है। अत: आत्मार्थियों को इस महापाप से अवश्य बचना चाहिए और अन्य साधर्मी भाई-बहिनों को भी बचाना चाहिए।

प्रश्न : अरे, भाई ! समयसार पढकर पण्डित बनारसीदासजी जैसे लोग भी भ्रष्ट हो गये थे, उन्होंने अपनी आत्मकथा **'अर्द्धकथानक'** में स्वयं लिखा है

(चौपाई)

तब बनारसि बांचै नित्त। भाषा अरथ बिचारै चित्त।
पावै नहीं अध्यात्म पेच। मानै बाहिज किरिआ हेच।।५९४।।

(दोहा)

करनी कौ रस मिटि गयौ, भयौ न आतमस्वाद।
भई बनारसि की दसा, जथा ऊंट कौ पाद।।५९५

(चौपाई)

ऐसी दसा भई एकंत। कहौं कहां लौं सो बिरतंत।
बिनु आचार भई मति नीच। सांगानेर चले इस बीच।।५९९।।

(दोहा)

चन्द्रभान बनारसी, उदैकरन अरु थान।
चारौं खेलहिं खेल फिरि, करहिं अध्यातम ग्यान।।६०२।।
नगन हौंहि चारौं जनें, फिरहिं कोठरी मांहि।
कहहिं भए मुनिराज हम, कछू परिग्रह नांहि।।६०३।।[1]

अरथमलजी ढोर ने पण्डित बनारसीदासजी से पाण्डे राजमलजी कृत समयसार के कलशों की टीका को पढने का आग्रह किया। बनारसीदासजी ने उसे पढा, पर उसमें प्रतिपादित अध्यात्म का रहस्य तो समझ नहीं पाये; पर बाह्य धर्माचरण को हेय मानने लगे। सदाचार का रस तो मिट गया, पर आत्मा का स्वाद नहीं आया

अध्यात्म के एकान्त से ऐसी दशा हो गई कि उसका वर्णन करना संभव नहीं है। बनारसीदास, चन्द्रभान, उदयकरण और थानमल चारों लोग नग्न होकर कोठरी में चक्कर लगाने लगे तथा कहने लगे कि देखो, हमारे पास कोई परिग्रह नहीं है, इसलिए यह समझो कि हम मुनिराज हो गये हैं।

देखो, भाई ! जब बनारसीदासजी जैसे विद्वानों की भी समयसार पढने से ऐसी दशा हो गई थी तो फिर हम और आप कौन से खेत की मूली हैं ? इसलिए मेरा कहना तो यही है कि समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों का स्वाध्याय हम और आप जैसे साधारण लोगों को तो करना ही नहीं चाहिए।

१. कविवर बनारसीदास, अर्द्धकथानक, पृष्ठ ६६-६७

उत्तर : क्या आपने बनारसीदासजी की कहानी इतनी ही पढी है, उसके आगे क्या हुआ, इसका पता तुम्हें नहीं है।

अरे, भाई ! शृंगार रस के रसिया कवि बनारसीदासजी ने अपनी शृंगार रस की कविताओं को इसी समयसार के प्रभाव से गोमती नदी में बहा दिया था। यदि बनारसीदासजी समयसार नहीं पढते तो नाटक g_` g ma H$s aMZmH$g oH$aVo? **अन्ततोगत्वा उनका जीवन समयसार के स्वाध्याय से ही अध्यात्ममय बना था।**

पण्डित रूपचन्दजी ने जब उन्हें गोम्मटसार पढाया तो उनकी सभी गलतियाँ सुधर गईं। यही कारण है कि उन्होंने नाटक समयसार में एक गुणस्थान अधिकार पृथक् से लिखा और उसमें चतुर्थ-पंचम गुणस्थान की चर्चा करते हुए विस्तार से श्रावक के आचरण पर प्रकाश डाला।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग के साथ-साथ उन्होंने करणानुयोग और चरणानुयोग का भी स्वाध्याय किया और वे सही रास्ते पर आ गये। हम भी तो पीछे करणानुयोग और चरणानुयोग के स्वाध्याय की प्रेरणा दे आये हैं; उनका स्वाध्याय करने का आग्रह कर चुके हैं। हम यह कहाँ कह रहे हैं कि आप अकेले अध्यात्म ग्रंथों का ही अध्ययन करें।

हमारी दृष्टि में तो चारों अनुयोगों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक है। किसी अनुयोग को पढना ही नहीं ऐसा तो हम नहीं कहते। हम तो यह कहते हैं कि चारों अनुयोगों का यथासाध्य स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

इस पर भी यदि कोई यह कहे कि भले ही आप अध्यात्मशास्त्रों का स्वाध्याय करें; पर सबसे पहले तो इनको नहीं पढना चाहिए। जब आपका जैनदर्शन का गहरा अध्ययन हो जावे, तब इन्हें पढें।

उक्त संदर्भ में जैनदर्शन में स्वाध्याय करने का क्रम प्रस्तुत करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''जिनमत में तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है फिर व्रत होते हैं; वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो इसप्रकार मुख्यरूप से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है; गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने, उसे पहले किसी व्रतादिक का उपदेश देते हैं; इसलिए ऊँची दशावालों को अध्यात्म-अभ्यास योग्य है, ऐसा जानकर निचली दशावालों को वहाँ से परांगमुख होना योग्य नहीं है।[१]''

समयसारादि अध्यात्मग्रंथों में उस भगवान आत्मा का स्वरूप समझाया गया है, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसके जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और जिसमें जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है। **अतः जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति करना है, उन्हें सबसे पहले उन्हीं ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए, जिनमें मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के नाश का उपाय बताया गया हो।**

तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं और तत्त्वार्थों का वर्णन द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में होता है। छहढाला द्रव्यानुयोग अर्थात् अध्यात्म का ग्रन्थ है। क्या प्राथमिक भूमिकावालों को छहढाला का स्वाध्याय भी नहीं करना चाहिए?

पण्डित टोडरमलजी तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि सबसे पहले द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित तत्त्वार्थों का श्रद्धान कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए। तदुपरान्त चरणानुयोगानुसार चारित्र धारण करना चाहिए।

उनका तो स्पष्ट आदेश है कि निचलीदशावालों को भी द्रव्यानुयोग में समाहित अध्यात्म के अध्ययन से विमुख नहीं होना चाहिए।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि ये ऊँची-ऊँची बातें निचली दशावालों की समझ में नहीं आतीं। ऐसे लोगों को थोड़ा डाँटते हुए पण्डित टोडरमलजी कहते हैं

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९२

''और तो अनेक प्रकार की चतुराई जानें और यहाँ मूर्खपना प्रगट करें, वह योग्य नहीं है। अभ्यास करने से स्वरूप भली-भाँति भासित होता है, अपनी बुद्धि अनुसार थोड़ा-बहुत भासित हो; परन्तु सर्वथा निरुद्यमी होने का पोषण करें, वह तो जिनमार्ग का द्वेषी होना है।

तथा यदि कहोगे कि यह काल निकृष्ट है, इसलिए उत्कृष्ट अध्यात्म-उपदेश की मुख्यता नहीं करना।

तो उनसे कहते हैं यह काल साक्षात् मोक्ष न होने की अपेक्षा निकृष्ट है, आत्मानुभवनादिक द्वारा सम्यक्त्वादिक होना इस काल में मना नहीं है; इसलिए आत्मानुभवनादिक के अर्थ द्रव्यानुयोग का अभ्यास अवश्य करना।[१]''

लौकिक कार्यों में तो जगत कठिन से कठिन विषय को समझने का पुरुषार्थ करता है; क्योंकि आर्थिकलाभ भी कठिन विषयों के विशेषज्ञों को अधिक प्राप्त होता है; परन्तु धर्म के प्रकरण में कठिन विषयों से बचना चाहता है। **इसका तो स्पष्टभाव यह है कि जैसी रुचि हमारी विषय-कषाय के पोषण में है, वैसी धर्म के संबंध में नहीं है। पण्डितजी तो अत्यन्त कठोर शब्दों में कह रहे हैं कि इसप्रकार की वृत्ति और प्रवृत्ति तो धर्म का द्वेषी होना है।**

जमाने को दोष देनेवालों को भी सावधान करते हुए पण्डितजी कह रहे हैं कि यह काल साक्षात् मुक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा भले ही निकृष्ट है, पर आत्मानुभव कर सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने की अपेक्षा तो निकृष्ट नहीं है; क्योंकि इस काल में भी न केवल सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, अपितु देशचारित्र और सकलचारित्र भी होता है।

इसलिए स्पष्ट आदेश देते हुए पण्डितजी कह रहे हैं कि आत्मानुभवादि के लिए द्रव्यानुयोग अर्थात् अध्यात्म का अभ्यास अवश्य करना।

यद्यपि द्रव्यानुयोग में न्याय ग्रंथ भी आते हैं, तथापि यहाँ भी मुख्यता अध्यात्म की ही है; क्योंकि लोग समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों के पढने

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९३

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

का ही निषेध करते दिखाई देते हैं। **न्याय ग्रंथों के पढने का न तो किसी को विशेष आग्रह है और न कोई उनका निषेध ही करता है।** व्याकरण के साथ न्याय ग्रंथों के थोड़े-बहुत अध्ययन करने की चर्चा पहले की जा चुकी है।

आदिपुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि पुराणग्रंथ प्रथमानुयोग के ग्रंथ हैं; रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, अनगारधर्मामृत, सागार धर्मामृत आदि मुनि-श्रावकों के आचरण संबंधी ग्रंथ चरणानुयोग के ग्रंथ हैं; गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, त्रिलोकसार आदि ग्रंथ करणानुयोग के ग्रंथ हैं और तत्त्वार्थसूत्र, पंचास्तिकाय, द्रव्यसंग्रह आदि सिद्धान्त ग्रंथ, समयसारादि अध्यात्मग्रंथ एवं परीक्षामुख, न्याय दीपिका आदि न्याय ग्रंथ द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं।

यद्यपि उक्त बंटवारा जिनवाणी में प्राप्त होता है और विषयों को अनुयोगों में बाँटना भी संभव है, पर सभी ग्रन्थों को अनुयोगों में बांटना संभव नहीं है; क्योंकि **पुराणों में भी बीच-बीच में आत्मा-परमात्मा की चर्चा, कर्मों की चर्चा आती है और भूगोल की चर्चा भी यथास्थान आती ही है। इसीप्रकार अन्य ग्रंथों के बारे में कहा जा सकता है। यह संभव है कि किसी ग्रन्थ विशेष में एक अनुयोग का विषय हो; पर वर्तमान में प्राप्त अनेक ग्रन्थों में एक से अधिक अनुयोगों का विषय भी पाया जाता है।**

मोक्षमार्गप्रकाशक में अध्यात्म की चर्चा तो है ही, न्यायग्रंथों में आनेवाला परमतखण्डन और स्वमतमण्डन भी है। कर्मकाण्ड और जीवकाण्ड की विषयवस्तु भी उसमें प्राप्त होती है। आगे चलकर तो वे एक पूरा कर्माधिकार लिखनेवाले थे।

इसीप्रकार नाटक समयसार अध्यात्म का ग्रंथ है, पर उसमें गुणस्थानाधिकार भी प्राप्त होता है। गुणस्थानों की चर्चा में कौनसे गुणस्थान में कैसा आचरण होता है इसकी चर्चा करके चरणानुयोग भी समाहित कर लिया गया है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि सभी अनुयोग अपने-अपने विषय

प्रतिपादन में महान हैं और एक-दूसरे के विषयों को समझने में सहायक भी हैं। अतः सभी का यथायोग्य स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

अनुयोगों के अभ्यास क्रम के सम्बन्ध में पंडितजी का मार्गदर्शन इसप्रकार हैं

''पहले इसका अभ्यास करना, फिर इसका करना ऐसा नियम नहीं है, परन्तु अपने परिणामों की अवस्था देखकर, जिसके अभ्यास से अपनी धर्म में प्रवृत्ति हो, उसी का अभ्यास करना, अथवा कभी किसी शास्त्र का अभ्यास करे, कभी किसी शास्त्र का अभ्यास करे।

तथा जैसे रोजनामचे में तो अनेक रकमें जहाँ-तहाँ लिखी हैं, उनकी खाते में ठीक खतौनी करे तो लेन-देन का निश्चय हो; उसीप्रकार शास्त्रों में तो अनेक प्रकार का उपदेश जहाँ-तहाँ दिया है, उसे सम्यग्ज्ञान में यथार्थ प्रयोजनसहित पहिचाने तो हित-अहित का निश्चय हो।[१]''

यहाँ पर तो पण्डित टोडरमलजी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि अनुयोगों के अध्ययन क्रम के सम्बन्ध में कुछ भी सुनिश्चित नियम नहीं है। अतः प्रत्येक साधर्मी भाई-बहिन का कर्तव्य है कि वह अपनी क्षमता और परिणामों की अवस्था के अनुसार अनुयोगों का क्रम इसप्रकार से सुनिश्चित करे कि जिससे उसकी प्रवृत्ति धर्म में बनी रहे।

ऐसा भी किया जा सकता है कि पलट-पलट कर कभी किसी अनुयोग का और कभी किसी अन्य अनुयोग का स्वाध्याय करे, परन्तु अनुयोगों की कथन पद्धति और अपने हित-अहित को ध्यान में रखकर ही उसका भाव ग्रहण करे।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि पहले तो यह कह आये हैं कि पहले द्रव्यानुयोग के शास्त्रों का अध्ययन कर तत्त्वार्थों को समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए; तदुपरान्त चरणानुयोगानुसार चारित्र धारण करना चाहिए; किन्तु अब यहाँ यह बताया जा रहा है कि अनुयोगों के अध्ययन का कोई सुनिश्चित क्रम जिनागम में नहीं है। उक्त दोनों कथनों में तो

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०४

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

परस्पर विरोध स्पष्ट दिखाई दे रहा है। आखिर हम करें क्या ? कौन से आदेश का पालन करें ?

अरे, भाई ! वहाँ शिष्य बार-बार यही कह रहा था कि द्रव्यानुयोग में व्रतादि की हीनता दिखाई है; अत: उसका स्वाध्याय करना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसे कथनों को पढकर तो लोग व्रतादि का पालन करना छोड़ देंगे। यदि पढना ही है तो सब शास्त्रों का अध्ययन हो जाने के बाद सबसे अन्त में द्रव्यानुयोग पढा जाना चाहिए।

उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था कि **जिनमत में तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है और फिर व्रत होते हैं। वह सम्यक्त्व स्व-पर के श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग के स्वाध्याय करने पर होता है; इसलिए पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादि धारण कर व्रती हो।**

यह बात द्रव्यानुयोग का अध्ययन करने का निषेध करनेवाले एकान्ती को समझाई थी। वहाँ अनुयोगों का अध्ययन क्रम बताने की बात नहीं थी। वह कथन मतार्थ की अपेक्षा था और यहाँ अनुयोगों के क्रम के संबंध में बताया गया है कि शास्त्रों में इसप्रकार के किसी सुनिश्चित क्रम का कथन नहीं है।

उक्त दोनों कथन अपनी-अपनी अपेक्षा न केवल सत्य हैं, अपितु अत्यन्त उपयोगी भी हैं; क्योंकि यह सत्य है कि पाठकों को अध्ययन करने के लिए किसी सुनिश्चित क्रम में नहीं बांधा जा सकता है; किन्तु आत्महित की भावना से अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थों के अध्ययन की सलाह तो दी ही जा सकती है। कोई नियम बनाना अलग बात है और सही सलाह देना अलग बात है। दोनों के अन्तर को समझा जाना चाहिए।

अभी यहाँ तो सभी अनुयोगों के शास्त्रों के अध्ययन करने की प्रेरणा दी जा रही है। शास्त्राभ्यास की महिमा बताते हुए पंडित टोडरमलजी सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका की पीठिका में लिखते हैं

१. गुणस्थान विवेचन, पृष्ठ-२८

"हे भव्य जीवो! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं। **शब्द या अर्थ का बाँचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारम्बार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं,** वहाँ जैसे बने तैसे अभ्यास करना। यदि सर्व शास्त्रों का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम व दुर्गम, अनेक अर्थों का निरूपण है; वहाँ जिसका बने, उसका ही अभ्यास करना; परन्तु अभ्यास में आलसी नहीं होना।

देखो! शास्त्राभ्यास की महिमा! जिसके होने पर जीव परम्परा से आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, जिससे मोक्षरूप फल प्राप्त होता है।

यह तो दूर ही रहो, शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं

१. क्रोधादि कषायों की मंदता होती है।
२. पंचेन्द्रियों के विषयों में होनेवाली प्रवृत्ति रुकती है।
३. अति चंचल मन भी एकाग्र होता है।
४. हिंसादि पाँच पाप नहीं होते।
५. स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल संबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है।
६. हेय-उपादेय की पहचान होती है।
७. आत्मज्ञान सन्मुख होता है। (ज्ञान आत्मसन्मुख होता है।)
८. अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है।
९. लोक में महिमा/यश विशेष होता है।
१०. सातिशय पुण्य का बंध होता है।

इतने गुण तो शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही प्रगट होते हैं, इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।[१]"

उक्त कथन के माध्यम से पण्डित टोडरमलजी ने आध्यात्मिक लाभ के साथ-साथ लौकिक लाभ बताकर सभी को नियम से नित्य स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी है; इसको ध्यान में रखकर हम सभी प्रतिदिन नियमित स्वाध्याय करने का संकल्प लें इस मंगलभावना से विराम लेता हूँ। ●

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

तेईसवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक का आठवाँ अधिकार चल रहा है। इसमें उपदेश के स्वरूप के अंतर्गत चार अनुयोगों की चर्चा चल रही है। विगत प्रवचनों में अनुयोगों का प्रयोजन, व्याख्यान का विधान, कथनपद्धति और दोष कल्पनाओं का निराकरण आदि विषयों पर चर्चा हुई। अब अनुयोगों में दिखाई देनेवाले विरोध का निराकरण करते हैं।

यद्यपि जिनागम में कहीं भी परस्पर विरुद्ध कथन नहीं होता; तथापि विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं से विभिन्न कथन होते हैं। जो लोग उक्त अपेक्षाओं को नहीं समझते हैं; उन्हें उक्त कथनों में परस्पर विरोध भासित होता है। इस प्रकरण में उक्त भासित होनेवाले विरोधों का निराकरण करते हैं।

प्रत्येक अनुयोग की अपनी स्वतंत्र कथन शैली है, सभी अनुयोग अपनी-अपनी शैली से ही कथन करते हैं। जो लोग उक्त कथन शैलियों से परिचित नहीं होते, उन्हें परस्पर विरोध भासित होता है।

विभिन्न अनुयोगों में प्राप्त परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले कथनों के सन्दर्भ में पण्डित टोडरमलजी के विचार इसप्रकार हैं

''प्रथमादि अनुयोगों की आम्नाय के अनुसार जहाँ जिसप्रकार कथन किया हो, वहाँ उसप्रकार जान लेना; अन्य अनुयोग के कथन को अन्य अनुयोग के कथन से अन्यथा जानकर सन्देह नहीं करना।

जैसे कहीं तो निर्मल सम्यग्दृष्टि के ही शंका, कांक्षा, विचिकित्सा का अभाव कहा; कहीं भय का आठवें गुणस्थान पर्यन्त, लोभ का दसवें पर्यन्त, जुगुप्सा का आठवें पर्यन्त उदय कहा; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना।

सम्यग्दृष्टि के श्रद्धानपूर्वक तीव्र शंकादिक का अभाव हुआ है अथवा मुख्यत: सम्यग्दृष्टि शंकादि नहीं करता, उस अपेक्षा चरणानुयोग में सम्यग्दृष्टि के शंकादिक का अभाव कहा है; परन्तु सूक्ष्मशक्ति की अपेक्षा भयादिक का उदय अष्टमादि गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है; इसलिये करणानुयोग में वहाँ तक उनका सद्भाव कहा है।

इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

सम्यग्दृष्टि के निशंकित, निकांक्षित,निर्विचिकित्सा आदि आठ अंग होते हैं और उन अंगों के विरोधी शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि आठ दोष नहीं होते। एक ओर चरणानुयोग में यह कहा गया है और दूसरी ओर करणानुयोग में यह कहते हैं कि भय और जुगुप्सा आठवें गुणस्थान तक और लोभ दशवें गुणस्थान तक रहता है।

ध्यान रहे, शंका को भय, कांक्षा को लोभ और विचिकित्सा को जुगुप्सा भी कहते हैं।

यहाँ विरोध की बात यह है कि जब चौथे गुणस्थान में ही शंका, कांक्षा और विचिकित्सा नहीं होती तो फिर भय, जुगुप्सा आठवें गुणस्थान तक और लोभ दशवें गुणस्थान तक कैसे हो सकते हैं ?

इसका सीधा सच्चा उत्तर यह है कि चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को जिस भय, जुगुप्सा और लोभ का अभाव कहा गया है, वह अनंतानुबंधी संबंधी है और आठवें या दशवें गुणस्थान तक जो भय, जुगुप्सा और लोभ कहे गये हैं, वे संज्वलन संबंधी हैं।

इसलिए उक्त कथनों में कोई विरोध नहीं है।

जिसप्रकार क्रोधादि कषायों में अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानादि भेद पड़ते हैं; उसीप्रकार के भेद हास्य, रति, अरति आदि नोकषायों में भी पड़ सकते हैं। तारतम्य भेद तो अनन्त हो सकते हैं और उनका वर्गीकरण भी अनेकप्रकार से किया जा सकता है।

उक्त कथन में तो विभिन्न अनुयोगों के कथन में दिखाई देनेवाले परस्पर विरोध की बात कही, अब यह कहते हैं कि कभी-कभी एक ही

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९४

अनुयोग में भी ऐसे कथन प्राप्त हो जाते हैं कि जिनमें परस्पर विरोध प्रतिभासित होता है।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है

''तथा एक ही अनुयोग में विवक्षावश अनेकरूप कथन करते हैं। जैसे करणानुयोग में प्रमादों का सातवें गुणस्थान में अभाव कहा, वहाँ कषायादिक प्रमाद के भेद कहे; तथा वहीं कषायादिक का सद्भाव दसवें आदि गुणस्थान पर्यन्त कहा, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना, क्योंकि यहाँ प्रमादों में तो जिन शुभाशुभभावों के अभिप्राय सहित कषायादिक होते हैं, उनका ग्रहण है और सातवें गुणस्थान में ऐसा अभिप्राय दूर हुआ है, इसलिए उनका वहाँ अभाव कहा है। तथा सूक्ष्मादि भावों की अपेक्षा उन्हीं का दसवें आदि गुणस्थान पर्यन्त सद्भाव कहा है।

तथा चरणानुयोग में चोरी, परस्त्री आदि सप्तव्यसन का त्याग पहली प्रतिमा में कहा है, तथा वहीं उनका त्याग दूसरी प्रतिमा में कहा है; वहाँ विरुद्ध नहीं जानना, क्योंकि सप्तव्यसन में तो चोरी आदि कार्य ऐसे ग्रहण किये हैं, जिनसे दंडादिक पाता है, लोक में अति निन्दा होती है। तथा व्रतों में ऐसे चोरी आदि त्याग करने योग्य कहे हैं कि जो गृहस्थ धर्म से विरुद्ध होते हैं व किंचित् लोकनिंद्य होते हैं ऐसा अर्थ जानना।

इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

पन्द्रह प्रकार के प्रमादों में चार कषाय, चार विकथायें, पाँच इन्द्रिया-धीनता, निद्रा और स्नेह आते हैं। इनके परस्पर मिलान करने से ८० भंग बन जाते हैं। इन्हें ८० प्रकार के प्रमाद भी कहा जाता है।

यहाँ विरोध प्रतिभासित होने का स्वरूप यह है कि जब प्रमादों में कषाय शामिल है तो अप्रमत्त गुणस्थान में कषाय नहीं होना चाहिए; पर बात यह है कि प्रमत्त गुणस्थानवाले प्रमादों में अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान संबंधी कषाय है और **अप्रमत्त गुणस्थानों में दशवें**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९५

गुणस्थान तक संज्वलन कषाय होती है। इसलिए इस कथन में भी कोई विरोध नहीं है।

इसीप्रकार चोरी आदि पापों के स्तर में भी बहुत से भेद होते हैं। सात व्यसनों में उसप्रकार की चोरी का निषेध है कि जिसमें राज्य से दण्ड का विधान हो और उसके ऊपर सूक्ष्म चोरी का भी त्याग होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ऊपर से जहाँ विरोध प्रतिभासित होता है, वहाँ गहराई में जाने पर पता चलता है कि इनमें तो कोई विरोध है ही नहीं।

इसप्रकार अबतक विभिन्न अनुयोगों के कथनों में दिखाई देनेवाले विरोध और एक ही अनुयोग में दिखाई देनेवाले विरोधों और उनके निराकरण की चर्चा हुई।

अब अनेकप्रकार के भावों की अपेक्षा एक भाव का अन्य-अन्य प्रकार से निरूपण करने में दिखाई देनेवाले विरोध और उक्त विरोध का निराकरण करते हैं।

उक्त संदर्भ में टोडरमलजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है

''तथा नाना भावों की सापेक्षता से एक ही भाव का अन्य-अन्य प्रकार से निरूपण करते हैं। जैसे कहीं तो महाव्रतादिक को चारित्र के भेद कहा, कहीं महाव्रतादि होने पर भी द्रव्यलिंगी को असंयमी कहा, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि सम्यग्ज्ञान सहित महाव्रतादिक तो चारित्र हैं और अज्ञानपूर्वक व्रतादिक होने पर भी असंयमी ही है।

तथा जिसप्रकार पाँच मिथ्यात्वों में भी विनय कहा है और बारह प्रकार के तपों में भी विनय कहा है वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि जो विनय करने योग्य नहीं हैं, उनकी भी विनय करके धर्म मानना; वह तो विनय मिथ्यात्व है और धर्मपद्धति से जो विनय करने योग्य हैं, उनको यथायोग्य विनय करना सो विनय तप है।

तथा जिसप्रकार कहीं तो अभिमान की निन्दा की, और कहीं प्रशंसा की, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि मान कषाय से अपने को

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

ऊँचा मनवाने के अर्थ विनयादि न करे, वह अभिमान तो निंद्य ही है; और निर्लोभपने से दीनता आदि न करे, वह अभिमान प्रशंसा योग्य है।

तथा जैसे कहीं चतुराई की निन्दा की, कहीं प्रशंसा की, वहाँ विरुद्ध नहीं जानना; क्योंकि माया कषाय से किसी को ठगने के अर्थ चतुराई करें, वह तो निंद्य ही है और विवेक सहित यथासम्भव कार्य करने में जो चतुराई हो, वह श्लाघ्य ही है। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

यहाँ चार प्रकार के उदाहरणों के माध्यम से यह बात सिद्ध की गई है कि **एक ही भाव किसी अपेक्षा अच्छा और किसी अपेक्षा बुरा भी हो सकता है।**

तीन कषाय के अभाववाले सम्यग्दृष्टि मुनिराजों को छठवें गुणस्थान में होनेवाले शुभभावरूप और शुभक्रियारूप अहिंसादि पाँच महाव्रतों को संयम (चारित्र) कहा जाता है; तथापि **शुभभाव व शुभक्रियारूप अहिंसादि पंच महाव्रत होने पर भी प्रथम गुणस्थानवाले द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि असंयमी ही हैं।**

इसीप्रकार विनय तो एक ही है, किन्तु जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित कोई महाव्रती विनय करने योग्य भावों या देव-गुरु-धर्म आदि की विनय करते हैं, तब वह विनय तप कहलाती है; लेकिन जब कोई मिथ्यादृष्टि कुदेवों या कुगुरुओं की विनय करता है, तो वह विनय मिथ्यात्व कहा जाता है।

इसीप्रकार अभिमान और चतुराई के संबंध में भी समझना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक ही भाव की कभी प्रशंसा करते हैं और कभी निंदा ऐसा क्यों होता है ?

अरे, भाई ! शुभभाव, अशुभभाव की अपेक्षा अच्छे हैं; इसलिए उन्हें अच्छा कहा जाता है; पर जब उन्हीं शुभभावों की शुद्धभाव से तुलना की जाती है तो उन्हें हीन बताया जाता है; क्योंकि वे शुद्धभावों से हीन ही हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि हमें **जो परस्पर विरुद्ध कथन दिखाई**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९५

देते हैं, वे सब अपेक्षा न समझने के कारण ही दिखाई देते हैं। यदि अपेक्षा लगाकर बात को समझने की कोशिश करेंगे तो सबकुछ समझ में आ जावेगा।

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; अत: प्रत्येक शब्द का अर्थ प्रकरण के अनुसार करना चाहिए। सम्यग्दर्शन में **दर्शन** शब्द का अर्थ श्रद्धान होता है और चक्षुदर्शन में **दर्शन** शब्द का अर्थ देखना होता है; अत: जहाँ सम्यग्दर्शन-मिथ्यादर्शन की बात चल रही हो, वहाँ तो हमें दर्शन का अर्थ श्रद्धान करना चाहिए और जहाँ चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन की बात चल रही हो तो उसका अर्थ सामान्यावलोकन करना चाहिए।

इसीप्रकार समय शब्द के भी आत्मा, देश, काल, छहों द्रव्य, युद्ध आदि अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ भी हमें विवेक से निर्णय करना होगा।

सिंधुदेश में पैदा होनेवाले नमक को सैन्धव कहते हैं और सिन्धु देश में उत्पन्न होनेवाले घोड़े को भी सैन्धव कहते हैं। **सैन्धवमानय**=सैन्धव लाओ जब यह कहा जाये तो हमें इस बात का विवेक रखना बहुत जरूरी है कि यदि कहनेवाला भोजन कर रहा है तो हमें नमक ले जाना चाहिए और कमर कस कर युद्ध में जाने के लिए तैयार खड़ा हो तो सिन्धुदेश की नस्लवाले काबुली घोड़े को ले जाना चाहिए।

इसप्रकार का विवेक तो जिनवाणी के स्वाध्याय करनेवाले को रखना ही चाहिए; अन्यथा लौकिक व्यवहार को निभा पाना भी संभव न होगा। इसप्रकार के **विवेक के बिना जब लौकिक व्यवहार भी संभव नहीं है तो फिर जिनवाणी का मर्म कैसे समझा जा सकता है।**

यद्यपि ये बातें अत्यन्त सामान्य समझ की बातें हैं; तथापि लोक में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है कि जो इन बातों में भी गोते खाते रहते हैं। उनकी सुविधा के लिए ही यहाँ पण्डितजी अनेक उदाहरणों के माध्यम से यह सब स्पष्ट करते हैं। ऐसा नहीं है कि एक ही बात को अनेक उदाहरणों

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

से समझा रहे हैं; प्रत्येक उदाहरण में वे एक नई भूल की संभावना से सावधान करते हैं।

नाम के संदर्भ में अपनी बात को वे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं

''तथा कहीं तो अर्थ अपेक्षा नामादिक कहते हैं, कहीं रूढि अपेक्षा नामादिक कहते हैं। जहाँ रूढि अपेक्षा नामादिक लिखे हों, वहाँ उनका शब्दार्थ ग्रहण नहीं करना; परन्तु उसका जो रूढिरूप अर्थ हो, वही ग्रहण करना। जैसे सम्यक्त्वादि को धर्म कहा, वहाँ तो यह जीव को उत्तम स्थान में धारण करता है, इसलिए इसका नाम सार्थ है तथा धर्मद्रव्य का नाम धर्म कहा वहाँ रूढि नाम है, इसका अक्षरार्थ ग्रहण नहीं करना; परन्तु इस नाम की धारक एक वस्तु है ऐसा अर्थ ग्रहण करना।

इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

जगत में कुछ नाम सार्थक होते हैं, सोच-समझकर रखे जाते हैं; पर कुछ नाम ऐसे भी होते हैं कि जिनमें कोई सार्थकता नहीं होती। धर्म और अधर्म द्रव्यों का लोक में प्रचलित धर्मों से कोई संबंध नहीं है, उनके नाम की व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती। बस बात इतनी ही है कि धर्म और अधर्म नाम के दो स्वतंत्र पदार्थ हैं, जिनकी इस लोक में सत्ता है। ये दोनों द्रव्य न तो जीव के समान चेतन हैं और न पुद्गल के समान मूर्तिक ही हैं; पर धर्म द्रव्य स्वयं चलते हुए जीव व पुद्गल द्रव्यों के गमन में निमित्त होता है। इसीप्रकार अधर्म द्रव्य भी गमनपूर्वक ठहरनेवाले जीव-पुद्गलों के ठहरने में निमित्त होता है।

जब हम आत्मा का कल्याण करनेवाले धर्म की बात करते हैं तो हम व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ करते हैं। कहते हैं

संसारदुखतो सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।[२]

जो जीवों को सांसारिक दुखों से उठाकर उत्तम मोक्षसुख में धरता

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९७

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, छन्द २

(पहुँचाता) है, वह धर्म है अथवा **धारयतीति धर्म** जो धारण किया जाता है, वह धर्म है।

आवश्यकता इस बात की है कि **जहाँ रूढिगत नाम हो, वहाँ रूढिगत अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। रूढिगत शब्द पारिभाषिक होते हैं, उनकी परिभाषा जानना आवश्यक है न कि व्युत्पत्ति।**

जिनवाणी में ऐसे अनेक प्रयोग हैं, जहाँ अभावात्मक पदों का प्रयोग ईषदार्थ में होता है। एकप्रदेशी अणु को अप्रदेशी ही कहा जाता है।

उक्त संदर्भ में टोडरमलजी का कहना इसप्रकार है

''तथा कहीं शब्द का जो अर्थ होता है, वह तो ग्रहण नहीं करना, परन्तु वहाँ जो प्रयोजनभूत अर्थ हो, वह ग्रहण करना। जैसे कहीं किसी का अभाव कहा हो और वहाँ किंचित् सद्भाव पाया जाये तो वहाँ सर्वथा अभाव नहीं ग्रहण करना; किंचित् सद्भाव को गिनकर अभाव कहा है ऐसा अर्थ जानना। सम्यग्दृष्टि के रागादिक का अभाव कहा, वहाँ इसीप्रकार अर्थ जानना। तथा नोकषाय का अर्थ तो यह है कि 'कषाय का निषेध'; परन्तु यह अर्थ ग्रहण नहीं करना; यहाँ तो क्रोधादि समान यह कषाय नहीं है, किंचित् कषाय हैं, इसलिए नोकषाय हैं ऐसा अर्थ ग्रहण करना। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

टोडरमलजी के विवेक का उत्कृष्ट नमूना यह है कि उन्होंने बड़ी ही निर्भीकता से हमारा मार्गदर्शन किया है। उनके निम्नांकित कथन पर विचार कीजिए और सोचिए कि क्या कोई ऐसी बात सोच भी सकता था?

इसीप्रकार प्रत्येक कथन का प्रयोजन समझना चाहिए, कोरे शब्दों को पकड़ शब्दम्लेच्छ बनना ठीक नहीं है।

उक्त संदर्भ में टोडरमलजी का कहना इसप्रकार है

''तथा जैसे कहीं कुछ प्रमाणादिक कहे हों, वहाँ वही नहीं मान लेना, परन्तु प्रयोजन हो, वह जानना। ज्ञानार्णव में ऐसा कहा है 'इस

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९७

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

काल में दो-तीन सत्पुरुष हैं'; सो नियम से इतने ही नहीं हैं, परन्तु यहाँ 'थोड़े हैं' ऐसा प्रयोजन जानना। इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

ज्ञानार्णव के जिस छन्द के आधार पर हमें यह मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है; वह छन्द इसप्रकार है

(शार्दूलविक्रीडितम्)

दुःप्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशयाः।
विद्यन्ते प्रतिमंदिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः।।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरं।
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्री यदि।।[२]

बुद्धि के बल से वस्तुस्वरूप का लोप करनेवाले, सत्यार्थ ज्ञान से शून्य, अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति में उद्यत लोग तो घर-घर में विद्यमान हैं; परन्तु आनन्दरूप अमृत से भरे हुए सागर के शीतल कणों से संसाररूप ज्वर के दाह को मिटाकर जो मुक्तिरूपी स्त्री के मुखरूपी चन्द्रमा को देखने में तत्पर हैं ऐसे ज्ञानीजन मुश्किल से दो-तीन ही होंगे।

इसके आधार पर 'तत्त्वार्थबोध' नामक ग्रंथ में लिखा गया है

(चौपाई)

स्वसंवेद आतमसरधानी, भरतक्षेत्र में विरले प्राणी।
कलिकाल में दुर्लभ पाँच, ज्ञानार्णव में देखो बाँच।।

जब मैं अशोकनगर (म.प्र.) में (अप्रैल १९५७ से जून १९६६ तक) रहता था, तब वहाँ प्रवचन में कविवर बुधजनजी का लिखा तत्त्वार्थबोध चलता था। उस पर प्रवचन करते हुए जब मैंने उक्त पंक्तियाँ पढी तो मैं एकदम अटक गया; क्योंकि इसमें लिखा था कि पंचम काल में मात्र पाँच व्यक्ति ही आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि होंगे; जो मेरे चित्त को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं हो रहा था। लेकिन उसमें तो प्रमाण प्रस्तुत किया गया था- लिखा था कि यह बात ज्ञानार्णव में लिखी है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९८
२. ज्ञानार्णव, सर्ग ५, छन्द २४

मैंने प्रवचन में ही कहा ''मुझे यह बात जँच नहीं रह रही है, इसलिए इसके बारे में अभी कुछ नहीं कहता। ज्ञानार्णव देखूँगा, तब कुछ कहूँगा।''

जब मैंने घर जाकर ज्ञानार्णव देखा तो उसमें मुझे उक्त छन्द प्राप्त हुआ। उसे देखकर मेरा समाधान हो गया कि इसमें तो दो-तीन लिखा है, जो कोई निश्चित संख्या नहीं है; अतः **इसका भाव तो यही है कि इस काल में आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि जीव बहुत-थोड़े होंगे।**

बहुत-थोड़े में हजारों भी हो सकते हैं; क्योंकि अनन्त जीवों में हजारों भी थोड़े ही हैं। ज्ञानार्णव का यह सामान्य कथन है, जो सम्यग्दर्शन की महिमा बता रहा है। यह कथन निश्चितरूप से निश्चित संख्या बताने वाला नहीं है।

मैंने यह बात दूसरे दिन प्रवचन में भी कही और विस्तार से इसका स्पष्टीकरण भी किया। अभी भी मेरे उस समय के कुछ श्रोता विद्यमान होंगे; पर मैं यह नहीं कह सकता कि किसी को यह याद है या नहीं ? पर यह बात अवश्य है कि उस समय यह बात बहुत चर्चित हुई थी।

पर, जब बहुत दिनों बाद मुझे यही बात मोक्षमार्गप्रकाशक में पढने को मिली तो उस समय मुझे कितना आनंद हुआ था, इसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता; क्योंकि मुझे मेरी बात को सिद्ध करने के लिए एक आगमप्रमाण मिल गया था। अब मेरी बात के पीछे महापण्डित टोडरमलजी खड़े थे।

मैंने सभी लोगों को शास्त्रसभा में मोक्षमार्गप्रकाशक का यह अंश भी दिखाया और अपनी बात को जोरदार ढंग से प्रस्तुत किया; क्योंकि उस समय के कुछ लोग इस बात को स्वीकार करने में आनाकानी कर रहे थे।

मेरी दृष्टि में तत्त्वार्थबोध के लेखक से यह बहुत बड़ी भूल हो गई कि उन्होंने दो-तीन का अर्थ जोड़ लगाकर पाँच कर दिया, जो निश्चित

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

संख्या हो गई। अनिश्चित संख्या को इसप्रकार निश्चित कर देने से एक बहुत बड़ा भ्रम खड़ा हो गया।

यदि पण्डित टोडरमलजी जैसे महान विद्वान का यह स्पष्टीकरण प्राप्त नहीं होता तो यह संभव नहीं था कि मैं अपनी बात को अधिक आगे बड़ा पाता; क्योंकि उस समय मेरी उम्र लगभग २४-२५ वर्ष की ही थी।

ये पंक्तियाँ मेरे लिए एक ऐतिहासिक घटना है; यही कारण है कि मैं इन पंक्तियों पर इतना रीझ रहा हूँ। यह एक स्वविवेक से निर्णय करने का बहुत बड़ा साहस था, आत्मविश्वास था।

जिसप्रकार वैद्यक शास्त्रों में सभी प्रकार के रोगों की अनेक प्रकार की औषधियों का वर्णन होता है। उन्हें जानना तो अच्छी बात हो सकती है; परन्तु सभी को ग्रहण करना तो उचित नहीं है, ग्रहण तो उन्हीं का उचित है कि जो बीमारी हमें हो। इसीप्रकार **जैन शास्त्रों में अनेक प्रकार के कथन प्राप्त होते हैं। सभी का जानना तो कदाचित् अच्छी बात हो सकती है, पर ग्रहण तो उसी का करें, जिससे अपना विकार दूर होता हो।**

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का कहना यह है

''जैसे शास्त्रों में कहीं निश्चयपोषक उपदेश है, कहीं व्यवहार-पोषक उपदेश है। वहाँ अपने को व्यवहार का आधिक्य हो तो निश्चय पोषक उपदेश का ग्रहण करके यथावत् प्रवर्ते और अपने को निश्चय का आधिक्य हो तो व्यवहारपोषक उपदेश का ग्रहण करके यथावत् प्रवर्ते। तथा पहले तो व्यहार श्रद्धान के कारण आत्मज्ञान से भ्रष्ट हो रहा था, पश्चात् व्यवहार उपदेश ही की मुख्यता करके आत्मज्ञान का उद्यम न करे, अथवा पहले तो निश्चय-श्रद्धान के कारण वैराग्य से भ्रष्ट होकर स्वच्छन्दी हो रहा था, पश्चात् निश्चय उपदेश ही की मुख्यता करके विषय-कषाय का पोषण करता है।

इसप्रकार विपरीत उपदेश ग्रहण करने से बुरा ही होता है।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९८

वस्तुत: आज स्थिति यह है कि जिसे व्यवहार की रुचि है, वह व्यवहार पोषक कथनों से अपनी रुचि का पोषण करते हैं और जिनकी निश्चय की रुचि है; वे लोग निश्चयपोषक कथनों में अपनी रुचि का पोषण करते हैं। इससे हानि यह होती है कि जो पहले से ही एकान्ती था, अब और अधिक दृढ एकान्ती हो जाता है। **'करेला और नीम चढा'** कहावत को सार्थक करने लगता है।

अरे, भाई ! जिसप्रकार शीत ज्वर का रोगी गर्म औषधि और ताप ज्वर का रोगी शीतल औषधि को ग्रहण करता; उसीप्रकार व्यवहार रुचिवाले जिनागम में प्राप्त निश्चय कथनों के माध्यम से अपने ज्ञान, श्रद्धान और आचरण को संतुलित करें और निश्चय रुचिवाले जिनागम में प्राप्त व्यवहार कथनों के माध्यम से अपना ज्ञान, श्रद्धान और आचरण संतुलित करें।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का कहना यह है

''तथा जैसे किसी को अति शीतांग रोग हो तो उसके अर्थ अति उष्ण रसादिक औषधियाँ कहीं हैं; उन औषधियां को जिसके दाह हो व तुच्छ शीत हो, वह ग्रहण करे तो दु:ख ही पायेगा।

उसीप्रकार किसी के किसी कार्य की मुख्यता हो, उसके अर्थ उसके निषेध का अति खींचकर उपदेश दिया हो; उसे जिसके उस कार्य की मुख्यता न हो व थोड़ी मुख्यता हो, वह ग्रहण करे तो बुरा ही होगा।

यहाँ उदाहरण जैसे किसी के शास्त्राभ्यास की अति मुख्यता है और आत्मानुभव का उद्यम ही नहीं है, उसके अर्थ बहुत शास्त्राभ्यास का निषेध किया है। तथा जिसके शास्त्राभ्यास नहीं है व थोड़ा शास्त्राभ्यास है, वह जीव उस उपदेश से शास्त्राभ्यास छोड़ दे और आत्मानुभव में उपयोग न रहे तब उसका तो बुरा ही होगा।[१]''

आयुर्वेद में कुछ औषधियाँ ऐसी हैं, जिन्हें रस कहा जाता है। उनका उपयोग गंभीर बीमारियों में किया जाता है। जो औषधि गंभीर शीतांग के

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २९९

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

लिए दी जाती है; यदि उसका उपयोग कम शीतांग या उष्णांग रोगवाला करे तो भयंकर कष्ट में पड़ सकता है। उसीप्रकार **जो व्यक्ति दिन-रात स्वाध्याय में लगा रहता है, आत्मानुभव की ओर कुछ ध्यान ही नहीं देता; उससे स्वाध्याय से विरत होने की बात कही जाती है; उसे सुनकर ऐसा व्यक्ति जो स्वाध्याय करता ही न हो या थोड़ा-बहुत करता हो; वह स्वाध्याय करना ही बंद कर दे तो उसका तो बुरा ही होनेवाला है।**

अरे, भाई ! प्रत्येक कार्य में विवेक चाहिए। जबतक यह प्राणी स्वयं के विवेक को जाग्रत नहीं करेगा; तबतक तो जहाँ भी जायेगा, जो कुछ भी करेगा, सर्वत्र कुछ न कुछ हानि ही होनेवाली है।

इस पर कोई कहता है कि साधारण बुद्धिवाले तो इतना विचार नहीं कर सकते; वे बिचारे क्या करें ? उसका समाधान करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''जैसे व्यापारी अपनी बुद्धि के अनुसार जिसमें समझे, सो थोड़ा या बहुत व्यापार करे; परन्तु नफा-नुकसान का ज्ञान तो अवश्य होना चाहिए। उसीप्रकार विवेकी अपनी बुद्धि के अनुसार जिसमें समझे, सो थोड़े या बहुत उपदेश को ग्रहण करे; परन्तु मुझे यह कार्यकारी है, यह कार्यकारी नहीं है इतना तो ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

सो कार्य तो इतना है कि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान करके रागादि घटाना। सो यह कार्य अपना सिद्ध हो, उसी उपदेश का प्रयोजन ग्रहण करे; विशेष ज्ञान न हो तो प्रयोजन को तो नहीं भूले; इतनी तो सावधानी अवश्य होना चाहिए। जिसमें अपने हित की हानि हो, उसप्रकार उपदेश का अर्थ समझना योग्य नहीं है।

इसप्रकार स्याद्वाददृष्टि सहित जैनशास्त्रों का अभ्यास करने से अपना कल्याण होता है।[१]''

साधारण बुद्धिवाले व्यापारी भी तो व्यापार करते हैं और उससे अपनी आजीविका भी चलाते ही हैं। यदि वे अपने लाभ-हानि का

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०१

ध्यान न रखे तो कैसे काम चलेगा ?

इसीप्रकार साधारण बुद्धिवाले भी आत्मकल्याण के कार्य में प्रवृत्त होते हैं और अपना कल्याण करते हैं। शास्त्रों में शिवभूति मुनिराज जैसे लोगों के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं; जिन्होंने अत्यन्त अल्प बुद्धि होने पर भी अपने आत्मा का कल्याण किया। **अल्प बुद्धिवालों को सबसे अधिक सावधानी की बात तो यह है कि वे अपना विवेक जाग्रत रखें और अप्रयोजनभूत विषयों में समय और शक्ति का अपव्यय न करें।**

यहाँ प्रयोजनभूत मूल बात तो मात्र इतनी ही है कि **सही ज्ञान-श्रद्धान करके रागादि को घटाना है**। इस प्रयोजन को ध्यान में रखकर काम करे तो सब ठीक ही होता है।

यहाँ एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिनमत में जो परस्पर विरुद्ध कथन पाये जाते हैं; उन्हें तो तुम अनेक अपेक्षायें बता-बताकर उनका समाधान करते हो और अन्य मतों में परस्पर विरोधी कथनों को उजागर कर उसे अप्रमाण ठहरा रहे हो क्या यह उचित है ?

उक्त दुविधा का निराकरण करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''कथन तो नानाप्रकार के हों और एक ही प्रयोजन का पोषण करें तो कोई दोष है नहीं, परन्तु कहीं किसी प्रयोजन का और कहीं किसी प्रयोजन का पोषण करें तो दोष ही है।

अब, जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है; इसलिए कहीं बहुत रागादि छुड़ाकर थोड़े रागादि कराने के प्रयोजन का पोषण किया है, कहीं सर्व रागादि मिटाने के प्रयोजन का पोषण किया है; परन्तु रागादि बढाने का प्रयोजन कहीं नहीं है, इसलिए जिनमत का सर्व कथन निर्दोष है।

और अन्यमत में कहीं रागादि मिटाने के प्रयोजन सहित कथन करते हैं, कहीं रागादि बढाने के प्रयोजन सहित कथन करते हैं; इसीप्रकार अन्य भी प्रयोजन की विरुद्धता सहित कथन करते हैं, इसलिए अन्यमत

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

का कथन सदोष है। लोक में भी एक प्रयोजन का पोषण करनेवाले नाना कथन कहे, उसे प्रामाणिक कहा जाता है और अन्य-अन्य प्रयोजन का पोषण करनेवाली बात करे, उसे बावला कहते हैं।[१]''

उक्त कथन में मर्म की बात यह है कि एक कथन के पोषक अनेक कथन हों तो आपत्ति नहीं; **परस्पर विरुद्ध प्रयोजन के पोषक कथनों को प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है ?**

जैनदर्शन में राग-द्वेष का कितना कथन क्यों न हो, पर पोषण सर्वत्र वीतरागभाव का ही है; क्योंकि वीतरागता धर्म है। जैनदर्शन में चक्रवर्तियों की विभूति और राग का कितना ही विवेचन क्यों न हो; पर जबतक वे सबकुछ छोड़कर पूर्ण वीतरागी न हों, संयमी न हों; तबतक उन्हें देव-गुरु नहीं माना जाता, अष्टद्रव्य से पूज्य नहीं माना जाता। जबकि अन्य मतों में उन्हें राज्यावस्था में भोग भोगते हुए भी वैसा ही भगवान माना जाता है; जैसा वीतरागी अवस्था में माना जाता है।

यह जो महान अन्तर है, वह ध्यान में रखने योग्य है।

स्वाध्याय के संदर्भ में पण्डितजी का अन्तिम उपदेश इसप्रकार है

''इसलिए स्यात्पद की सापेक्षता सहित सम्यग्ज्ञान द्वारा जो जीव जिनवचनों में रमते हैं, वे जीव शीघ्र ही शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं।[२]

मोक्षमार्ग में पहला उपाय आगमज्ञान कहा है, आगमज्ञान बिना धर्म का साधन नहीं हो सकता; इसलिए तुम भी यथार्थ बुद्धि द्वारा आगम का अभ्यास करना। तुम्हारा कल्याण होगा।[३]''

अत: हमारा भी यही कहना है कि सभी ओर से निशंक होकर तत्त्वार्थ के निरूपक जैनागम का स्वाध्याय विवेक पूर्वक करो, तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा। ●

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०२-३०३
२. समयसार कलश ४
१. मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०४

चौबीसवाँ प्रवचन

अब मोक्षमार्गप्रकाशक के नौवें अधिकार पर चर्चा प्रारंभ करते हैं। इसमें मोक्षमार्ग के स्वरूप पर विचार किया जायेगा। विगत आठ अधिकारों में समागत विषयवस्तु के संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''अब, मोक्षमार्ग का स्वरूप कहते हैं। प्रथम मोक्षमार्ग के प्रतिपक्षी जो मिथ्यादर्शनादिक, उनका स्वरूप बतलाया। उन्हें तो दु:खरूप, दु:ख का कारण जानकर, हेय मानकर उनका त्याग करना।

तथा बीच में उपदेश का स्वरूप बतलाया, उसे जानकर उपदेश को यथार्थ समझना।

अब, मोक्ष के मार्ग जो सम्यग्दर्शनादिक, उनका स्वरूप बतलाते हैं। उन्हें सुखरूप, सुख का कारण जानकर, उपादेय मानकर अंगीकार करना; क्योंकि आत्मा का हित मोक्ष ही है; उसी का उपाय आत्मा का कर्त्तव्य है; इसलिए उसी का उपदेश यहाँ देते हैं।[१]''

मोक्षमार्ग की चर्चा आरंभ करते हुए पण्डितजी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि **अबतक तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग के प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के संबंध में ही चर्चा की है।** उनके स्वरूप को स्पष्ट करने के साथ-साथ यह प्रेरणा भी दी है कि **उन मिथ्यादर्शनादिक को दु:खरूप, दु:ख के कारणरूप जानकर, हेय मानकर उनका त्याग करना।**

अब मोक्षमार्ग का स्वरूप समझा रहे हैं। यद्यपि इस शास्त्र का नाम मोक्षमार्गप्रकाशक है, तथापि अभी मोक्षमार्ग की तो बात ही आरंभ नहीं हुई है। **३०४ पृष्ठ तो मोक्षमार्ग के प्रतिपक्षी संसारमार्ग के स्वरूप को समझाने में चले गये** और अब इस नौवें अधिकार में मोक्षमार्ग की चर्चा आरंभ करते हैं; पर यह नौवाँ अधिकार भी पूरा न हो सका।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०५

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इस मोक्षमार्गप्रकाशक के और न जाने कितने अधिकार लिखे जाने थे ? उक्त संदर्भ में मोक्षमार्गप्रकाशक की मेरे द्वारा लिखी गई प्रस्तावना का निम्नांकित अंश दृष्टव्य है

''अपूर्ण नौवें अधिकार को पूर्ण करने के बाद उसके आगे और भी कई अधिकार लिखने की उनकी योजना थी। न मालूम पण्डितप्रवर टोडरमलजी के मस्तिष्क में कितने अधिकार प्रच्छन्न थे ?

प्राप्त नौ अधिकारों में लेखक ने बारह स्थानों पर ऐसे संकेत दिये हैं कि इस विषय पर आगे यथास्थान विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा।

उक्त संकेतों और प्रतिपादित विषय के आधार पर प्रतीत होता है कि यदि यह महाग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो गया होता तो पाँच हजार पृष्ठों से कम नहीं होता और उसमें मोक्षमार्ग के मूलाधार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का विस्तृत विवेचन होता।

उनके अंतर में क्या था, वे इसमें क्या लिखना चाहते थे यह तो वे ही जानें, पर प्राप्त ग्रंथ के आधार पर हम कह सकते हैं कि उसकी संभावित रूप-रेखा कुछ ऐसी होती।[१]''

इसके बाद प्रस्तावना में एक चार्ट दिया गया है; जिसमें कल्पना के आधार पर यह बताया गया है कि यदि मोक्षमार्गप्रकाशक पूर्ण हो गया होता तो उसमें क्या-क्या होता ? वहीं पर उन बारह संकेतों को भी प्रस्तुत किया गया है, जिनके आधार पर यह चार्ट बनाया गया है।

प्रस्तावना का उक्त अंश मूलत: पठनीय है।

संसारमार्ग और मोक्षमार्ग के बीच में आठवें अधिकार में उपदेश का स्वरूप समझाया गया है; क्योंकि उपदेश के स्वरूप और प्रतिपादन शैली को समझे बिना चार अनुयोगरूप जिनवाणी के मर्म को समझ पाना संभव नहीं है। यही कारण है कि उपदेश के स्वरूप में अनुयोगों का प्रयोजन एवं व्याख्यान का विधान, अनुयोगों की व्याख्यान पद्धति, अनुयोगों में दोष कल्पनाओं का निराकरण और अनुयोगों में दिखाई देनेवाले परस्पर विरोध

१. मोक्षमार्गप्रकाशक प्रस्तावना : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पृष्ठ २७

का निराकरण करके उपदेश के स्वरूप को एकदम स्पष्ट कर दिया है। साथ ही न्याय-व्याकरण शास्त्रों के अध्ययन की उपयोगिता पर भी अत्यन्त उपयोगी तर्कसंगत विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक की मूल विषयवस्तु के प्रतिपादन का आरंभ करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि आत्मा का वास्तविक हित तो मोक्ष की प्राप्ति में ही है। आत्मा में अनेक प्रकार की अवस्थाएँ पाई जाती हैं; परन्तु एक सुख-दु:ख अवस्था को छोड़कर अन्य किसी भी अवस्था से आत्मा का हित-अहित नहीं होता, बिगाड़-सुधार नहीं होता। **दु:ख-सुख अवस्था ही एक ऐसी अवस्था है कि जिससे आत्मा के हित-अहित का सीधा संबंध है।**

उक्त बात को समझाने के लिए वे न तो कोई युक्ति प्रस्तुत करने की आवश्यकता समझते हैं और न कोई उदाहरण देकर समझाने का प्रयास करते हैं; क्योंकि उनके अनुसार यह बात तो सभी को प्रत्यक्ष ही है, अत्यन्त स्पष्ट ही है।

उक्त बात को स्पष्ट करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''आत्मा के नानाप्रकार गुण-पर्यायरूप अवस्थाएँ पाई जाती हैं; उनमें अन्य तो कोई अवस्था हो, आत्मा का कुछ बिगाड़-सुधार नहीं है; एक दु:ख-सुख अवस्था से बिगाड़-सुधार है। यहाँ कुछ हेतु-दृष्टान्त नहीं चाहिए; प्रत्यक्ष ऐसा ही प्रतिभासित होता है।

लोक में जितने आत्मा हैं, उनके एक उपाय यह पाया जाता है कि दु:ख न हो, सुख हो; तथा अन्य भी जितने उपाय करते हैं, वे सब एक इसी प्रयोजन सहित करते हैं, दूसरा प्रयोजन नहीं है। जिनके निमित्त से दु:ख होता जानें उनको दूर करने का उपाय करते हैं और जिनके निमित्त से सुख होता जानें उनके होने का उपाय करते हैं।

तथा संकोच-विस्तार आदि अवस्था भी आत्मा के ही होती है व अनेक परद्रव्यों का भी संयोग मिलता है; परन्तु जिनसे सुख-दु:ख

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

होता न जाने, उनके दूर करने का व होने का कुछ भी उपाय कोई नहीं करता।

सो यहाँ आत्मद्रव्य का ऐसा ही स्वभाव जानना। और तो सर्व अवस्थाओं को सह सकता है, एक दुःख को नहीं सह सकता। परवशता से दुःख हो तो यह क्या करे, उसे भोगता है; परन्तु स्ववशता से तो किंचित् भी दुःख को सहन नहीं करता। तथा संकोच-विस्तारादि अवस्था जैसी हो वैसी होओ, उसे स्ववशता से भी भोगता है; वहाँ स्वभाव में तर्क नहीं है। आत्मा का ऐसा ही स्वभाव जानना।[१]''

उक्त कथन का सार प्रस्तुत करते हुए पण्डित दौलतरामजी छहढाला में लिखते हैं

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त।
तातैं दुखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणा धार।।[२]

तीन लोक में अनन्त संसारी जीव हैं, वे सभी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। यही कारण है कि गुरुदेवश्री अत्यन्त करुणा करके दुःख को दूर करनेवाली और सुख को प्राप्त करानेवाली शिक्षा देते हैं।

शरीर के छोटा-बड़ा होने से या गोरा-काला होने से सुख-दुःख का कोई सीधा संबंध नहीं है। छोटे शरीरवाले को सिरदर्द रहता हो और बड़े शरीरवाले को नहीं। इसीप्रकार सांवले व्यक्ति को पेट में दर्द होता हो और गोरे को नहीं ऐसा नहीं है।

यद्यपि छोटे-बड़े या गोरे-काले शरीर से शारीरिक पीड़ा का कोई संबंध नहीं है; तथापि यदि हमारी धारणा ऐसी हो या जगत में प्रचलित मान्यता ऐसी हो कि लम्बा कद अच्छा होता है, छोटा कद ठीक नहीं होता या गोरा रंग अच्छा होता है और सांवला नहीं, तो फिर शरीर का छोटा-बड़ा होना, गोरा-काला होना हमारे लिए मानसिक सुख-दुःख

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०५-३०६
२. छहढाला, पहली ढाल, छन्द १

का कारण अवश्य हो सकता है। इससे यह सुनिश्चित होता है कि **संयोग अच्छे-बुरे नहीं होते, सुख-दुःख के कारण भी नहीं होते; उनके संबंध में हमारी मान्यता ही मूलतः सुख-दुःख का कारण बनती है।**

यदि हमें सांसारिक सुख-दुःख से बचना है तो संयोगों को नहीं, तत्संबंधी मिथ्या मान्यता को सुधारना चाहिए, बदलना चाहिए।

इस बात को समझाने के लिए पण्डितजी कहते हैं कि **प्रदेशों के संकोच-विस्तार से हित-अहित का कोई संबंध नहीं है; क्योंकि उनके कारण आत्मा सुखी या दुःखी नहीं होता।**

यदि कोई कहे कि ऐसा क्यों है ? तो उसका समाधान करते हुए पण्डितजी स्वभाव का तर्क देते हैं। कहते हैं कि आत्मवस्तु का ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव में तर्क नहीं होता। यह कोई नहीं कहता कि अग्नि गर्म क्यों है, पानी ठंडा क्यों है; क्योंकि वह जानता है कि गर्म होना अग्नि का स्वभाव है, ठंडा होना पानी का स्वभाव है। कदाचित् न भी जाने तो उसे समझाने के लिए इतना कहना ही पर्याप्त है कि अग्नि गर्म होती है और पानी ठंडा।

सभी संसारी जीव दुःखी हैं और वे दुःख दूर करना चाहते हैं और इसके लिए प्रयत्नशील भी रहते हैं, बड़ी से बड़ी कीमत चुकाकर वे दुःख दूर करना चाहते हैं और सुखी होना चाहते हैं। यह सहजसिद्ध और सर्वजन प्रसिद्ध बात है। इस बात को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं

''देखो, दुःखी हो तब सोना चाहता है; वहाँ सोने में ज्ञानादिक मंद हो जाते हैं; परन्तु जड़ सरीखा होकर भी दुःख को दूर करना चाहता है। तथा मरना चाहता है; वहाँ मरने में अपना नाश मानता है, परन्तु अपना अस्तित्व खोकर भी दुःख दूर करना चाहता है। इसलिए एक दुःखरूप पर्याय का अभाव करना ही इसका कर्त्तव्य है।[१]''

दुःख दूर करना इस संसारी जीव की इतनी बड़ी समस्या है कि जड़

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०६

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

जैसा ज्ञानविहीन होकर, अपना अस्तित्व खोकर भी इससे छुटकारा पाना चाहता है। दु:ख का अभाव ही सुख है। आकुलता दु:ख है और आकुलता का अभाव अर्थात् निराकुलता सुख है। इसी प्रकरण का सारांश प्रस्तुत करते हुए पण्डित दौलतमराजी लिखते हैं

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिए।
आकुलता शिव माहिं न तातैं शिव-मग लाग्यो चहिए।।[१]

आत्मा का हित एकमात्र सुख है और वह सुख आकुलता के अभाव में होता है। आकुलता का पूर्णत: अभाव एकमात्र मोक्ष में है; अत: हम सभी को मोक्ष के मार्ग में लगना चाहिए। यही कारण है कि इस अधिकार में मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डाला जा रहा है।

आकुलतारूप दु:ख की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''तथा आकुलता होती है वह रागादिक कषायभाव होने पर होती है; क्योंकि रागादिभावों से यह तो द्रव्यों को अन्य प्रकार परिणमित करना चाहे और वे द्रव्य अन्य प्रकार परिणमित हों; तब इसके आकुलता होती है। वहाँ या तो अपने रागादि दूर हों या आप चाहें उसीप्रकार सर्वद्रव्य परिणमित हों तो आकुलता मिटे; परन्तु सर्वद्रव्य तो इसके आधीन नहीं हैं। कदाचित् कोई द्रव्य जैसी इसकी इच्छा हो, उसीप्रकार परिणमित हो, तब भी इसकी आकुलता सर्वथा दूर नहीं होती; सर्व कार्य जैसे यह चाहे वैसे ही हों, अन्यथा न हों, तब यह निराकुल रहे; परन्तु यह तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन किसी द्रव्य के आधीन नहीं है। इसलिए अपने रागादिभाव दूर होने पर निराकुलता हो; सो यह कार्य बन सकता है; क्योंकि रागादिभाव आत्मा के स्वभावभाव तो हैं नहीं, औपाधिकभाव हैं, परनिमित्त से हुए हैं और वह निमित्त मोहकर्म का उदय है; उसका अभाव होने पर सर्व रागादिक

१. छहढाला, तीसरी ढाल, छन्द १

विलय हो जायें तब आकुलता का नाश होने पर दु:ख दूर हो, सुख की प्राप्ति हो। इसलिए मोहकर्म का नाश हितकारी है।

तथा उस आकुलता का सहकारी कारण ज्ञानावरणादिक का उदय है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण के उदय से ज्ञान-दर्शन सम्पूर्ण प्रगट नहीं होते; इसलिए इसको देखने-जानने की आकुलता होती है। अथवा यथार्थ सम्पूर्ण वस्तु का स्वभाव नहीं जानता तब रागादिरूप होकर प्रवर्तता है, वहाँ आकुलता है।

तथा अंतराय के उदय से इच्छानुसार दानादि कार्य न बनें, तब आकुलता होती है। उनका उदय है, वह मोह का उदय होने पर आकुलता को सहकारी कारण है; मोह के उदय का नाश होने पर उनका बल नहीं है; अंतर्मुहूर्तकाल में अपने आप नाश को प्राप्त होते हैं; परन्तु सहकारी कारण भी दूर हो जाये तब प्रगटरूप निराकुलदशा भासित होती है। वहाँ केवलज्ञानी भगवान अनन्तसुखरूप दशा को प्राप्त कहे जाते हैं।[१]**''**

उक्त कथन में मूलत: तो मोह के उदय में होनेवाले मिथ्यात्व और कषाय भावों को दु:ख का कारण बताया गया है; किन्तु मोह के सद्भाव में ज्ञानावरणादि के उदय में होनेवाले भावों को भी सहयोगी कारण कहा है, पर मोह के अभाव में वे कुछ भी नहीं कर सकते।

इसीप्रकार अनंत आकुलतारूप दु:ख का बाह्य सहयोगी कारण मिथ्यात्व और कषायभावरूप मोह के उदय के साथ होनेवाले अघातिया कर्मों के उदय से प्राप्त संयोगों को भी कहा गया है; पर **मोह के अभाव में संयोग कुछ भी नहीं कर सकते।**

अघातिया कर्मों के संबंध में पण्डितजी के विचार इसप्रकार हैं

''तथा अघाति कर्मों के उदय के निमित्त से शरीरादिक का संयोग होता है; वहाँ मोहकर्म का उदय होने से शरीरादिक का संयोग आकुलता को बाह्य सहकारी कारण है। अंतरंग मोह के उदय से रागादिक हों

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०६-३०७

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

और बाह्य अघाति कर्मों के उदय से रागादिक के कारण शरीरादिक का संयोग हो, तब आकुलता उत्पन्न होती है। तथा मोह के उदय का नाश होने पर भी अघाति कर्म का उदय रहता है, वह कुछ भी आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकता; परन्तु पूर्व में आकुलता का सहकारी कारण था, इसलिए अघाति कर्म का नाश भी आत्मा को इष्ट ही है।

केवली को इनके होने पर भी कुछ दु:ख नहीं है, इसलिए इनके नाश का उद्यम भी नहीं है; परन्तु मोह का नाश होने पर यह कर्म अपने आप थोड़े ही काल में सर्वनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

इसप्रकार सर्व कर्मों का नाश होना आत्मा का हित है। तथा सर्व कर्म के नाश ही का नाम मोक्ष है। इसलिए आत्मा का हित एक मोक्ष ही है और कुछ नहीं ऐसा निश्चय करना।[१]''

उक्त कथन का सार यह है कि न तो अघातिया कर्मों के उदय में प्राप्त संयोगों में सुख है और न घातिया कर्मों के उदय में प्राप्त होनेवाले मोहादिरूप विकारीभावों में ही सुख है; सुख तो एकमात्र भगवान आत्मा में ही है और वह आत्मा के आश्रय से ही प्राप्त होता है, आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र से ही प्राप्त होता है। अत: **जिन्हें अनाकुलतारूप सच्चे सुख की कामना हो; वे अपने आत्मा को जानें, पहिचानें, उसमें ही अपनापन स्थापित करें, उसमें ही जम जावे, रम जावे, समा जावे, उसका ही ध्यान करें; क्योंकि सच्चे सुख की प्राप्ति का एकमात्र यही उपाय है और इसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहते हैं।**

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि न सही अनाकुलतारूप मोक्षसुख, पर संसार में पुण्योदय से प्राप्त इष्ट संयोगों से प्राप्त होनेवाला सांसारिक सुख तो प्राप्त होगा ही।

उक्त अभिप्राय पर विचार करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''संसारदशा में सुख तो सर्वथा है ही नहीं; दु:ख ही है। परन्तु

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०७

किसी के कभी बहुत दु:ख होता है, किसी के कभी थोड़ा दु:ख होता है; सो पूर्व में बहुत दु:ख था व अन्य जीवों के बहुत दु:ख पाया जाता है, उस अपेक्षा से थोड़े दु:खवाले को सुखी कहते हैं।

तथा उसी अभिप्राय से थोड़े दु:खवाला अपने को सुखी मानता है; परमार्थ से सुख है नहीं। तथा यदि थोड़ा भी दु:ख सदाकाल रहता हो तो उसे भी हितरूप ठहरायें, सो वह भी नहीं है; थोड़े काल ही पुण्य का उदय रहता है और वहाँ थोड़ा दु:ख होता है, पश्चात् बहुत दु:ख हो जाता है; इसलिए संसार-अवस्था हितरूप नहीं है।[१]''

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि संसार में सच्चा सुख है ही नहीं। **सच्चा सुख तो एकमात्र मोक्ष में ही है।** इतना स्पष्ट हो जाने के बाद मोक्ष में जाने की भावना रखनेवाले सच्चे मुमुक्षु की ओर से पण्डितजी प्रश्न उपस्थित करते हैं

''यहाँ प्रश्न है कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यानुसार बनता है या मोहादि के उपशमादि होने पर बनता है या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है सो कहो?

यदि प्रथम दोनों कारण मिलने पर बनता है तो हमें उपदेश किसलिए देते हो? और पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं, उनमें कोई उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता है; सो कारण क्या?[२]''

यहाँ प्रश्नकार ने मोक्ष के उपाय बनने में तीन विकल्प खड़े किये हैं

१. काललब्धि आने पर भवितव्यानुसार।

२. मोहादि के उपशम होने पर।

३. पुरुषार्थ से उद्यम करने पर।

आरंभ के दो उपायों पर तो प्रश्नकार ने ही 'तो फिर हमें उपदेश क्यों देते हो?' यह कहकर प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया है और तीसरे पर

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०७

२. वही, पृष्ठ ३०९

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

यह कहा कि उपदेश तो सभी सुनते हैं; पर कोई उपाय कर सकता है और कोई नहीं इसका क्या कारण है ?

प्रश्नकार का कहना यह है कि यदि काललब्धि आने पर ही मोक्ष का उपाय होता है तो फिर जब काललब्धि आयेगी, तब हो जायेगा; हम क्या करें ? और कर्मों के उपशमादि होने पर होता है तो जब कर्मों के उपशमादि होंगे, तब हो जायेगा; इसमें भी हम क्या करें ? क्योंकि न तो काललब्धि लाना हमारे हाथ में है और न परद्रव्यरूप कर्मों में कुछ करना। अत: आप हमें मोक्षमार्ग प्रगट करने का उपदेश क्यों देते हो, प्रेरणा क्यों देते हो? तात्पर्य यह है कि ऐसी स्थिति में उपदेश देना, प्रेरणा देना तो निरर्थक ही है।

दूसरे यदि उपदेश से मुक्ति का मार्ग प्रगट करने का पुरुषार्थ प्रगट होगा तो फिर सभी उपदेश सुननेवालों को मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रगट होना चाहिए; पर ऐसा होता नहीं है। इसका कारण क्या है ? इसप्रकार प्रश्न के रूप में शंकाकार ने अपना पक्ष सतर्क प्रस्तुत किया है।

आठवें अधिकार में उपदेश का स्वरूप विस्तार से स्पष्ट किया गया है; पर यहाँ शिष्य की ओर से यह कहा गया है कि जीव को उपदेश देना व्यर्थ है; क्योंकि उसके हाथ में मोक्ष का उपाय करना है ही नहीं। जो होना है, वह (होनहार) और जब होना है, तब (काललब्धि) यह सब तो सभी का अनादि से अनंत कालतक का सुनिश्चित है। जब उसमें कुछ फेरफार संभव ही नहीं है, तब मोक्ष का उपाय करो यह कहने का क्या अर्थ है ?

इसीप्रकार कर्म के उपशमादि भी हमारे लिए परद्रव्य की क्रियायें हैं। उनमें भी हमारा कुछ नहीं चलता; क्योंकि उनके और हमारे बीच में अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है। अत: उनमें भी कुछ करने का उपदेश निरर्थक ही है।

यदि पुरुषार्थपूर्वक उद्यम की बात करें, तब भी उपदेश निरर्थक ही है; क्योंकि उपदेश सुनकर भी कुछ लोग पुरुषार्थ कर सकते हैं और कुछ

नहीं। यदि उपदेश से पुरुषार्थ होता होता तो सभी को पुरुषार्थ होना चाहिए था; पर ऐसा होता नहीं। अत: उपदेश निरर्थक है।

सारी बात उपदेश की है। उक्त सम्पूर्ण कथन उपदेश की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लगाने का प्रयास है।

उक्त कथन का निराकरण करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्ष का उपाय बनता है, वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं और नहीं बनता वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते।

पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु नहीं है; जिस काल में कार्य बनता है, वही काललब्धि और जो कार्य हुआ, वही होनहार।

तथा जो कर्म के उपशमादिक हैं, वह पुद्गल की शक्ति है; उसका आत्मा कर्ता-हर्ता नहीं है। तथा पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं, सो यह आत्मा का कार्य है; इसलिए आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।

वहाँ यह आत्मा जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य हो, उस कारणरूप उद्यम करे; वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं और कार्य की भी सिद्धि होती ही होती है।

तथा जिस कारण से कार्य की सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो, उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि होती है, न मिलें तो सिद्धि नहीं होती।

सो जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है, इससे मोक्ष होता ही होता है। इसलिए जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है, उसके काललब्धि व होनहार भी हुए और कर्म के उपशमादि हुए हैं तो वह ऐसा उपाय करता है। इसलिए जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है, उसको सर्व कारण मिलते हैं और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा निश्चय करना। तथा जो जीव

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसके काललब्धि व होनहार भी नहीं और कर्म के उपशमादि नहीं हुए हैं तो यह उपाय नहीं करता।

इसलिए जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसको कोई कारण नहीं मिलते और उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ऐसा निश्चय करना।

तथा तू कहता है उपदेश तो सभी सुनते हैं, कोई मोक्ष का उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता; सो कारण क्या ?

उसका कारण यही है कि जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं, वे मोक्ष का उपाय कर सकते हैं; और जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे मोक्ष का उपाय नहीं कर सकते। उपदेश तो शिक्षामात्र है, फल जैसा पुरुषार्थ करे, वैसा लगता है।[१]''

यहाँ जिन कारणों की चर्चा की है, उनमें कार्योत्पत्ति के समय होनेवाले पाँच समवाय समाहित हैं ऐसा समझना चाहिए।

देखा, पण्डित टोडरमलजी आरंभ में ही यह बात कह देते हैं कि प्रत्येक कार्य के होने में अनेक कारण होते हैं। चूंकि यहाँ मोक्ष के उपायरूप अर्थात् मोक्षमार्गरूप कार्य की चर्चा चल रही है; अत: मोक्षमार्ग पर ही इस बात को घटित किया गया है। कहा गया है कि जहाँ मोक्ष का उपायरूप कार्य होता है, वहाँ उक्त तीनों कारण मिलते ही मिलते हैं और जहाँ मोक्ष के उपायरूप कार्य नहीं होता, वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते, तीनों में से एक भी कारण नहीं मिलता।

ऐसा नहीं है कि कुछ कारण तो मिल गये, पर कुछ नहीं मिल पाये; इसलिए कार्य नहीं हुआ; क्योंकि ऐसा होता ही नहीं है।

ध्यान रहे हमें कभी-कभी लगता है कि मैंने पुरुषार्थ तो खूब किया, पर काललब्धि नहीं आई, इसलिए कार्य नहीं हुआ; कर्म के उपशमादि नहीं हुए, इसलिए कार्य अटक गया; पर इस बात में कुछ भी दम नहीं है;

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३०९-३१०

क्योंकि **जब कार्य होना होता है, तब सभी कारण मिलते ही मिलते हैं और जब कार्य नहीं होना होता है, तब सही रूप में एक भी कारण नहीं मिलता।**

इस बात को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि काललब्धि और होनहार तो कुछ वस्तु ही नहीं है; जिस काल में जो कार्य होना हो; वही उस कार्य की काललब्धि है और उस कार्य का होना ही होनहार है।

'कुछ वस्तु नहीं है' का अर्थ मात्र इतना ही है कि उसमें तुझे कुछ नहीं करना है; क्योंकि काललब्धि और होनहार तो सदा ही रहते हैं। प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्य की कोई न कोई पर्याय (कार्य) होती ही है। इसमें वह पर्याय होनहार है और वह समय काललब्धि है।

जब यह कहा जाता है कि अभी काललब्धि नहीं आई; तब वह किसी विशेष (Particular) कार्य की बात होती है। यहाँ मोक्ष के उपायरूप कार्य की बात है। उसकी काललब्धि नहीं है ऐसा आशय है।

काललब्धि, होनहार और कर्मों के उपशमादि के लिए तुझे कुछ भी नहीं करना है; तू यदि आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मध्यानरूप पुरुषार्थ करे तो शेष अन्य कारण भी मिलते ही हैं; क्योंकि मोक्ष के उपायरूप कार्य का सच्चा पुरुषार्थ एकमात्र यही है।

जब मैं उक्त पुरुषार्थ करूँगा, तब काललब्धि आ जावेगी, होनहार भी हो जावेगी तथा कर्म का उपशम भी हो ही जायेगा न ?

अरे, भाई ! जब तेरी काललब्धि आवेगी, होनहार होगी और कर्म के उपशमादि होंगे; तभी तुझसे सम्यक् पुरुषार्थ होगा। **जबतक का अर्थ आगे-पीछे नहीं, सब एक साथ ही होते हैं। तीनों कारण अपने-अपने कारण एक साथ ही होते हैं।**

इस पर वह कहता है कि द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि तो भरपूर पुरुषार्थ करते हैं; पर उनको सिद्धि क्यों नहीं होती ?

अरे, भाई ! बाह्य क्रियाकाण्ड और शुभभावरूप पुरुषार्थ का फल तो स्वर्गादि है; वह उसको मिलते ही हैं; पर जबतक वह शुद्धोपयोगरूप

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

सच्चा पुरुषार्थ नहीं करेगा; तबतक कार्यसिद्धि कैसे हो सकती है ?

जब यह अज्ञानी जीव सच्चा पुरुषार्थ न करने में कर्मोदयादि का दोष बताकर अपने उत्तरदायित्व से बचना चाहता है तो पण्डितजी कहते हैं

''तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग न लगाये, वह तो इसी का दोष है। तथा पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाये, तब स्वयमेव ही मोह का अभाव होने पर सम्यक्त्वादिरूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है।

इसलिए मुख्यता से तो तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना। तथा उपदेश भी देते हैं, सो यही पुरुषार्थ कराने के अर्थ दिया जाता है। तथा इस पुरुषार्थ से मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ अपने आप सिद्ध होगा।

और तत्त्वनिर्णय न करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है; परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है; सो जिन-आज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। तुझे विषय-कषायरूप ही रहना है, इसलिए झूठ बोलता है।

मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिए बनाये ?

सांसारिक कार्यों में अपने पुरुषार्थ से सिद्धि न होती जाने; तथापि पुरुषार्थ से उद्यम किया करता है, यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा; इसलिए जानते हैं कि मोक्ष को देखादेखी उत्कृष्ट कहता है; उसका स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता। हित जानकर उसका उद्यम बने सो न करे यह असंभव है।[१]''

देखो, यहाँ पण्डितजी बहाने बनाकर सम्यक् पुरुषार्थ से विमुख रहने वाले अज्ञानियों को दोषी, अनैतिक, कषायी, झूठा, पुरुषार्थहीन, अनुद्यमी आदि विशेषणों से अलंकृत कर रहे हैं और तत्त्वनिर्णय करने की दिशा में सही पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दे रहे हैं।

मुक्ति के मार्ग में बुद्धिपूर्वक किये जानेवाला पुरुषार्थ तो एकमात्र तत्त्वनिर्णय करना ही है, तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाना ही है; क्योंकि इसप्रकार के प्रयास से अर्थात् तत्त्वनिर्णय से ही सम्यग्दर्शनादिरूप

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३११

मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ प्रगट होता है।

पण्डित टोडरमलजी यहाँ इस बात की गारंटी दे रहे हैं कि यदि **विचार शक्ति सहित मंद रागी जीव तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगावें तो उनका उपयोग तत्त्वनिर्णय करने में अवश्य लगेगा और उन्हें तत्त्वों के संबंध में सही निर्णय भी अवश्य होगा।**

अपनी बात स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं

''विचारशक्तिसहित जो एकेन्द्रियादिक हैं, उनके तो उपदेश समझने का ज्ञान ही नहीं है; और तीव्र रागादि सहित जीवों का उपयोग उपदेश में लगता नहीं है। इसलिए जो जीव विचारशक्तिसहित हों, तथा जिनके रागादि मन्द हों; उन्हें उपदेश के निमित्त से धर्म की प्राप्ति हो जाये तो उनका भला हो; तथा इसी अवसर में पुरुषार्थ कार्यकारी है।

एकेन्द्रियादिक तो धर्मकार्य करने में समर्थ ही नहीं हैं, कैसे पुरुषार्थ करें ? और तीव्र कषायी पुरुषार्थ करे तो वह पाप ही का करे, उनसे धर्मकार्य का पुरुषार्थ हो नहीं सकता।

इसलिए जो विचारशक्तिसहित हो और जिसके रागादिक मन्द हों, वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो।

यदि इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवाये या तो मन्दरागादि सहित विषयकषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते या व्यवहारधर्मकार्यों में प्रवर्ते; तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।

तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढेगी; उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में अपने आप दर्शनमोह का उपशम होगा; तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आयेगी। सो इसका तो कर्त्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है, इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है; उसमें जीव का कर्त्तव्य कुछ नहीं है।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१२

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीव तो क्षयोपशमलब्धि से रहित हैं और सैनी पंचेन्द्रिय तीव्र कषायी जीव विशुद्धिलब्धि से वंचित होते हैं; अत: उन्हें दिया गया उपदेश तो निरर्थक ही जानेवाला है।

यही कारण है कि ज्ञानी जीव उन्हें समझाने का प्रयास नहीं करते; किन्तु जो सैनी पंचेन्द्रिय जीव विशेष कर मनुष्य विचार शक्ति सहित हैं और मंदकषायी हैं; यहाँ उन्हें समझाने का प्रयास करते हैं।

वे लोग इस बात को गंभीरता से लें और तत्त्वनिर्णय करने में अपने उपयोग को लगावें इस भावना से उन्हें सावधान करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि **बड़े भाग्य से यह अवसर प्राप्त हुआ है; इसलिए अपने उपयोग को यहाँ-वहाँ उलझाकर या प्रमाद में पड़कर समय बर्बाद मत करो; क्योंकि ऐसी स्थिति सदाकाल रहनेवाली नहीं है।**

विषय-कषाय के कार्यों में तो समय खराब करना ही नहीं है; **व्यवहार-धर्म के कार्यों में भी समय व्यतीत करना समझदारी का काम नहीं है।**

कर्मों के उपशमादि का बहाना लेकर भी अनुद्यमी रहना सही नहीं है; क्योंकि कर्मों के उपशमादि भी तत्त्वनिर्णय में लगे पुरुषार्थ से ही हो जाते हैं। तदर्थ अलग से कोई पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं है।

इस प्रकरण का समापन करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

''इसलिए अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब सर्व प्रकार से अवसर आया है, ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है। इसलिए श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्यजीवों को प्रवृत्ति करना।[१]''

जो जीव मनुष्य हैं, जैन कुल में पैदा हुए हैं; आत्मकल्याण के इच्छुक हैं, स्वाध्याय करते हैं और **मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ को आरंभ से पढते हुए यहाँ तक आ गये हैं; उन लोगों के लिए तो सभीप्रकार से अवसर आ गया है।**

ऐसा अवसर प्राप्त होना सहज बात नहीं है। यदि प्राप्त होने पर भी हमने कुछ नहीं किया तो दुबारा प्राप्त होना भी अत्यन्त दुर्लभ ही है। इसलिए इसी समय मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना अत्यन्त आवश्यक है। ●

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१३

पच्चीसवाँ प्रवचन

यह मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र का नौवाँ अधिकार है। **आरंभ के सात अधिकारों में मंगलाचरणादि के उपरान्त अगृहीत-गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप संसारमार्ग का निरूपण विस्तार से किया गया** और आठवें अधिकार में उपदेश का स्वरूप बताया गया।

नौवें अधिकार में अबतक यह बताया जा चुका है कि आत्मा का हित मोक्ष ही है और उसका उपाय तत्त्वज्ञान की सच्ची समझ में ही निहित है; अत: **अपने उपयोग को प्रयोजनभूत तत्त्वों के निर्णय में लगाना ही हम सबका परम कर्त्तव्य है।**

अब मोक्षमार्ग के स्वरूप की चर्चा आरंभ करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं

''वहाँ कारण तो अनेक प्रकार के होते हैं। कोई कारण तो ऐसे होते हैं, जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता और जिनके होने पर कार्य हो या न भी हो। जैसे मुनिलिंग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता; परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता।

तथा कितने ही कारण ऐसे हैं कि मुख्यत: तो जिनके होने पर कार्य होता है, परन्तु किसी के बिना हुए भी कार्यसिद्धि होती है। जैसे अनशनादि बाह्यतप का साधन करने पर मुख्यत: मोक्ष प्राप्त करते हैं; परन्तु भरतादिक के बाह्य तप किये बिना ही मोक्ष की प्राप्ति हुई।

तथा कितने ही कारण ऐसे हैं कि जिनके होने पर कार्यसिद्धि होती ही होती है, और जिनके न होने पर सर्वथा कार्यसिद्धि नहीं होती। जैसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होने पर तो मोक्ष होता ही होता है, और उनके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता।

ऐसे वह कारण कहे, उनमें अतिशयपूर्वक नियम से मोक्ष का साधक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकीभाव सो मोक्षमार्ग

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

जानना। इन सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र में एक भी न हो तो मोक्षमार्ग नहीं होता।[१]''

उक्त कारणों में अनशनादि बाह्य तप तो मात्र नाम के कारण हैं; क्योंकि उनके होने पर मुक्ति की प्राप्ति होगी ही इस बात की गारंटी तो है ही नहीं; पर उनके बिना भी मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। **उनको तो मात्र इसलिए कारण कह दिया है कि ये अधिक काल तक मुक्तिमार्ग में चलनेवालों के प्राय: होते देखे जाते हैं।**

यद्यपि यह परम सत्य है कि मुनिलिंग धारण किये बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी; तथापि मुनिलिंग धारण करने पर हो ही जावेगी इस बात की गारंटी नहीं है; अत: यह कारण भी नियामक कारण नहीं है।

मुक्ति का एकमात्र नियामक कारण तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता है। यही कारण है कि जिनागम में सर्वत्र मुक्ति के मार्ग के रूप में इनका ही प्रतिपादन होता है।

ध्यान रहे, ये अलग-अलग तीन मार्ग नहीं हैं, अपितु तीनों मिलकर एक मार्ग हैं।

अब इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के स्वरूप पर विस्तार से विचार करते हैं। सबसे पहले सम्यग्दर्शन की चर्चा आरंभ करते हैं।

लक्षण द्वारा ही लक्ष्य की पहिचान होती है और लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोष से रहित होना चाहिए। जो लक्षण पूरे लक्ष्य में व्याप्त न हो, वह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है और जो लक्षण लक्ष्य में तो व्याप्त हो, पर अलक्ष्य में भी पाया जाये, वह अतिव्याप्ति दोष से दूषित है तथा जो लक्षण लक्ष्य में हो ही नहीं, वह असंभव दोष से दूषित है।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं और इनका विपरीत अभिनिवेश (उल्टी मान्यता) रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१३-३१४

सम्यग्दर्शन का उक्त लक्षण सभी सम्यग्दृष्टियों में पाया जाता है और किसी भी मिथ्यादृष्टि में नहीं पाया जाता; इसलिए इसमें न तो अव्याप्ति दोष है और न अतिव्याप्ति दोष है; क्योंकि सच्चा तत्त्वार्थ श्रद्धान मात्र सम्यग्दृष्टि के ही होता है।

प्रत्येक सम्यग्दृष्टि के नियम से पाया जाने के कारण इसमें असंभव दोष भी नहीं है।

उक्त लक्षण पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रंथ में पाया जाता है; जो इसप्रकार है

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्।।[१]

जीवाजीवादि तत्त्वार्थों का विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है; अत: उन जीवादि तत्त्वार्थों का सदा श्रद्धान करना चाहिए; क्योंकि वह श्रद्धान आत्मस्वरूप ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र का पण्डित टोडरमलजी पर पर्याप्त प्रभाव है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में भी वे लिखते हैं कि वर्तमानकाल में **अध्यात्मतत्त्व तो आत्मख्याति-समयसारग्रन्थ की अमृतचन्द्र आचार्यकृत संस्कृत टीका-में है।** जब मोक्षमार्गप्रकाशक का सातवाँ अधिकार लिखा जा रहा था, उसीसमय उन्होंने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका लिखना आरंभ किया था। यही कारण है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टोडरमलजी कृत हिन्दी टीका के मंगलाचरण पर मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार का प्रभाव देखने में आता है। मंगलाचरण का उक्त छन्द इसप्रकार है

(मनहरण)

कोई नर निश्चय से आत्मा को शुद्ध मान,
भये हैं स्वच्छन्द न पिछानें निज शुद्धता।
कोई व्यवहार दान शील तप भाव ही कौ,
आतम कौ हित जानि छोड़ै नहीं मुद्धता।

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द २२

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

कोई व्यवहारनय निश्चय के मारग कौ,
भिन्न-भिन्न जानि, पहचानि करै उद्धता।
जब जाने, निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता।।[१]

उक्त छन्द में निश्चयाभासी, उभयाभासी और सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख तो हो ही गया है, संक्षेप में उनका स्वरूप भी आ गया है। मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में भी इन्हीं का विस्तार से विवेचन है।

दुर्भाग्य की बात यह है ये दोनों ग्रन्थ ही पूर्ण न हो सके। टीका ग्रंथ होने से अधूरी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका को तो उनके ही समकालीन पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल ने पूरी कर दी; किन्तु मौलिक ग्रन्थ होने से अधूरे मोक्षमार्गप्रकाशक का काम हाथ में लेने की हिम्मत कोई न जुटा सका। ब्र. शीतलप्रसादजी ने प्रयास किया; पर उसे सफल प्रयोग नहीं कहा जा सकता।

पण्डित टोडरमलजी ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा लिखते समय न तो आचार्य उमास्वामी के तत्वार्थसूत्र को प्रस्तुत किया और न आचार्य समत्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार को ही याद किया; मुख्यरूप से आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय को ही आधार बनाया।

यद्यपि बाद में सम्यग्दर्शन की प्राप्त सभी परिभाषाओं में सतर्क समन्वय स्थापित किया है; तथापि मुख्यता इसी को दी।

तत्त्वार्थश्रद्धान में तत्त्व और अर्थ - इन दो पदों (शब्दों) का प्रयोग करने के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं

यहाँ प्रश्न है कि 'तत्त्व' और 'अर्थ' यह दो पद कहे, उनका प्रयोजन क्या?

समाधान :- 'तत्' शब्द है सो 'यत्' शब्द की अपेक्षा सहित है;

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, मंगलाचरण, छन्द ५

इसलिये जिसका प्रकरण हो उसे तत् कहा जाता है और जिसका जो भाव अर्थात् स्वरूप सो तत्त्व जानना। कारण कि 'तस्य भावस्तत्त्वं' ऐसा तत्त्व शब्द का समास होता है।

तथा जो जानने में आये ऐसा 'द्रव्य' व 'गुण-पर्याय' उसका नाम अर्थ है। तथा 'तत्त्वेन अर्थस्तत्त्वार्थः' तत्त्व अर्थात् अपना स्वरूप, उससे सहित पदार्थ उनका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है।

यहाँ यदि तत्त्वश्रद्धान ही कहते तो जिसका यह भाव (तत्त्व) है, उसके श्रद्धान बिना केवल भाव ही का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। तथा यदि अर्थश्रद्धान ही कहते तो भाव के श्रद्धान बिना पदार्थ का श्रद्धान भी कार्यकारी नहीं है।

जैसे - किसी को ज्ञान-दर्शनादिक व वर्णादिक का तो श्रद्धान हो - यह जानपना है, यह श्वेतपना है, इत्यादि प्रतीति हो; परन्तु ज्ञान-दर्शन आत्मा का स्वभाव है, मैं आत्मा हूँ; तथा वर्णादि पुद्गल का स्वभाव है, पुद्गल मुझसे भिन्न-अलग पदार्थ है; ऐसा पदार्थ का श्रद्धान न हो तो भाव का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है।

तथा जैसे 'मैं आत्मा हूँ' - ऐसा श्रद्धान किया; परन्तु आत्मा का स्वरूप जैसा है, वैसा श्रद्धान नहीं किया तो भाव के श्रद्धान बिना पदार्थ का भी श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। इसलिये तत्त्वसहित अर्थ का श्रद्धान होता है सो ही कार्यकारी है।

अथवा जीवादिक को तत्त्वसंज्ञा भी है और अर्थ संज्ञा भी है, इसलिये 'तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः' जो तत्त्व सो ही अर्थ, उनका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है।

इस अर्थ द्वारा कहीं तत्त्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहे और कहीं पदार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहे, वहाँ विरोध नहीं जानना।

इस प्रकार 'तत्त्व' और 'अर्थ' दो पद कहने का प्रयोजन है।[१]''

उक्त कथन में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि चाहे अकेला तत्त्वश्रद्धान

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१५-१६

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

लिखा हो या अकेला अर्थश्रद्धान लिखा हो या तत्त्वार्थ श्रद्धान लिखा हो – तीनों का एक ही अर्थ है। तात्पर्य यह है कि जीवादिक पदार्थों का स्वरूप तत्त्व और अर्थ – दोनों दृष्टियों से जानना-मानना आवश्यक है। न केवल उन्हें जानना ही है, अपितु उनके बीच जो भेद है, उसे भी जानना है। तात्पर्य यह है कि भेदविज्ञानपूर्वक जानना है, उसमें हेय-उपादेय का ज्ञान भी करना है। तत्त्वार्थश्रद्धान का यही स्वरूप है।

यद्यपि तत्त्वार्थ अनन्त हैं; तथापि यहाँ मोक्षमार्ग के प्रयोजन की अपेक्षा से सात या नौ ही कहे हैं। उनमें भी सामान्यापेक्षा जीव और अजीव दो और विशेष अपेक्षा आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष ये पाँच तत्त्व हैं। इनमें पुण्य और पाप को भी मिला दें तो ये सात हो जाते हैं।

जीव और अजीव में स्व-पर का भेद करने के लिये जीव-अजीव को जानना बहुत जरूरी है। मोक्ष को न पहिचाने और उसे हितरूप न जानें तो उसका उपाय क्यों करें? मोक्ष का उपाय संवर-निर्जरा हैं, उन्हें न पहिचाने तो उनरूप प्रवर्तन कैसे करें? इसीप्रकार आस्रव-बंध को न जानें तो उनके नाश का उपाय कैसे करें? इसीप्रकार पुण्य और पाप को आस्रव-बंधरूप न जाने तो उनसे बचने का उपाय भी क्यों करें, कैसे करें ? अतः इन सात या नौ प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

'अभिनिवेश' शब्द का अर्थ अभिप्राय होता है; अतः विपरीत-अभिनिवेश का अर्थ उल्टा अभिप्राय हुआ।

अभिप्राय शब्द का भाव स्पष्ट करते हुये पण्डितजी लिखते हैं

''तत्त्वार्थश्रद्धान करने का अभिप्राय केवल उनका निश्चय करना मात्र ही नहीं है; वहाँ अभिप्राय ऐसा है कि जीव-अजीव को पहिचानकर अपने को तथा पर को जैसा का तैसा माने, तथा आस्रव को पहिचानकर उसे हेय माने, तथा बन्ध को पहिचानकर उसे अहित माने, तथा संवर को पहिचानकर उसे उपादेय माने, तथा निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण माने, तथा मोक्ष को पहिचानकर उसको अपना परमहित माने – ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है; उससे उलटे अभिप्राय का नाम विपरीताभिनिवेश है।

सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान होने पर इसका अभाव होता है। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेशरहित है – ऐसा यहाँ कहा है।[१]''

उक्त सात या नौ तत्त्वों को मात्र जानना ही नहीं है; उनके संबंध में हेय, उपादेय, ज्ञेय और ध्येय संबंधी निर्णय भी करना है।

परद्रव्य मात्र ज्ञेय (जानने योग्य) हैं, आस्रव-बंध हेय (छोड़ने योग्य) हैं, संवर-निर्जरा प्रगट करने की अपेक्षा एकदेश उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं और मोक्ष परम उपादेय है, पूरी शक्ति लगाकर प्राप्त करने योग्य है तथा स्वद्रव्यरूप जीवतत्त्व परमज्ञेय और ध्येय (ध्यान करने योग्य) है।

परपदार्थों को तो मात्र जानना है, उनमें जमना-रमना नहीं है; परन्तु निजात्मा को जानना है, पहिचानना है, उसमें अपनापन स्थापित करना है, उसका ध्यान करना है, उसका ध्यान रखना है, उसी में जम जाना है, रम जाना है, समा जाना है; क्योंकि हमारा सबकुछ वही है, हम वही हैं।

पर में अपनापन उल्टा अभिप्राय है, विपरीत मान्यता है, विपरीताभि-निवेश है। रागादि को उपादेय मानना, पुण्य को धर्म समझना उल्टा अभिप्राय है, विपरीत मान्यता है। इसीप्रकार संवर-निर्जरा को कष्टदायक मानना तथा मोक्ष सुख और संसार सुख के अन्तर को नहीं समझना आस्रवादि तत्त्वों के संबंध में विपरीत अभिप्राय है, उल्टी मान्यता है।

यह मान्यता मिथ्यात्व है, अज्ञान है तथा उक्त संदर्भ में सही समझ पूर्वक श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसीलिये कहा गया है कि विपरीताभिनिवेश रहित तत्त्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जो तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीवादिक तत्त्वों के नाम भी नहीं जानते; उनमें तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण संभव नहीं है; अतः यह असंभव एवं अव्याप्ति दोष से दूषित है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१८

इस शंका का समाधान करते हुए पंडित टोडरमलजी लिखते हैं

''जीव-अजीवादिक के नामादिक जानो या न जानो या अन्यथा जानो, उनका स्वरूप यथार्थ पहिचानकर श्रद्धान करने पर सम्यक्त्व होता है।

वहाँ कोई सामान्यरूप से स्वरूप को पहिचानकर श्रद्धान करता है, कोई विशेषरूप से स्वरूप को पहिचानकर श्रद्धान करता है। इसलिये जो तुच्छज्ञानी तिर्यंचादिक सम्यग्दृष्टि हैं; वे जीवादिक का नाम भी नहीं जानते, तथापि उनका सामान्यरूप से स्वरूप पहिचानकर श्रद्धान करते हैं; इसलिये उनके सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

जैसे कोई तिर्यंच अपना तथा औरों का नामादिक तो नहीं जानता; परन्तु आप ही में अपनत्व मानता है, औरों को पर मानता है।

उसीप्रकार तुच्छज्ञानी जीव-अजीव का नाम नहीं जानता; परन्तु जो ज्ञानादिस्वरूप आत्मा है, उसमें तो अपनत्व मानता है, और जो शरीरादि हैं, उनको पर मानता है ऐसा श्रद्धान उसके होता है; वही जीव-अजीव का श्रद्धान है।

तथा जैसे वही तिर्यंच सुखादिक के नामादिक नहीं जानता है, तथापि सुख अवस्था को पहिचानकर उसके अर्थ आगामी दुःख के कारण को पहिचानकर उसका त्याग करना चाहता है, तथा जो दुःख का कारण बन रहा है, उसके अभाव का उपाय करता है।

उसीप्रकार तुच्छज्ञानी मोक्षादिक का नाम नहीं जानता, तथापि सर्वथा सुखरूप मोक्ष अवस्था का श्रद्धान करता हुआ उसके अर्थ आगामी बन्ध का कारण जो रागादिक आस्रव उसके त्यागरूप संवर करना चाहता है, तथा जो संसार दुःख का कारण है; उसकी शुद्धभाव से निर्जरा करना चाहता है। इसप्रकार आस्रवादिक का उसके श्रद्धान है।

इसप्रकार उसके भी सप्ततत्त्व का श्रद्धान पाया जाता है। यदि ऐसा श्रद्धान न हो तो रागादि त्यागकर शुद्धभाव करने की चाह न हो।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१९-३२०

उक्त कथन में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह समझाया गया है कि तुच्छ बुद्धि मनुष्यों और तिर्यंचों को सम्यग्दर्शन के योग्य मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत तत्त्वार्थों का ज्ञान हो सकता है, श्रद्धान हो सकता है और तदनुसार परिणमन भी हो सकता है।

इसलिए सम्यग्दर्शन का विपरीताभिनिवेशरहित तत्त्वार्थश्रद्धान यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है।

इसी के साथ पण्डितजी यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि भले ही उपयोग विषय-कषायादि में क्यों न हो, तो भी तत्त्वार्थश्रद्धान कायम रहता है; अतः सम्यग्दर्शन भी कायम रहता है; क्योंकि सम्यग्दर्शन का लक्षण तो विपरीताभिनिवेश रहित तत्त्वार्थश्रद्धान है। **ध्यान रहे श्रद्धान तो प्रतीतिरूप होता है, उपयोगरूप नहीं।**

यहाँ अव्याप्ति दोष के निराकरण में पण्डितजी ने तीन बातें उठाई हैं १. तिर्यंच या तुच्छबुद्धिवाले सम्यग्दृष्टियों की, २. भोग व युद्धकालवाले सम्यग्दृष्टियों की और ३. निर्विकल्प आत्मानुभववाले शुद्धोपयोगी सम्यग्दृष्टियों की।

तिर्यंच और तुच्छबुद्धिवालों की बात तो स्पष्ट की ही जा चुकी है। भोग भोगते और युद्ध करते समय भी यद्यपि तत्त्वार्थों संबंधी विकल्प नहीं रहते; पर प्रतीति कायम रहती ही है। **निर्विकल्प अनुभूति के काल में भी विकल्पों का ही निषेध है, प्रतीति का नहीं, श्रद्धान का नहीं।**

कुछ लोग कहते हैं कि सिद्ध सम्यग्दृष्टियों पर यह लक्षण घटित नहीं होता; क्योंकि उन्हें तो ऐसे विचार ही नहीं आते कि मैं परपदार्थों से भिन्न चैतन्यतत्त्व हूँ। उन्हें तत्त्वविचार के बिना स्व-पर भेदविज्ञान कैसे होता होगा ?

उनसे कहते हैं कि स्व-पर का भेदविज्ञान विचाररूप नहीं, ज्ञानरूप है; अतः सिद्धों में भेदविज्ञानरूप ज्ञान और स्व में एकत्वरूप प्रतीति श्रद्धान होने में कोई बाधा नहीं है।

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इसप्रकार सम्यग्दृष्टियों की सभी अवस्थाओं में विपरीताभिनिवेश रहित प्रतीतिरूप तत्त्वार्थश्रद्धान रहता है; इसकारण तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में अव्याप्तिदोष नहीं है।

अतिव्याप्ति दोष के संदर्भ में यह कहा गया है कि मिथ्यादृष्टियों के भी तत्त्वार्थश्रद्धान पाया जाता है, इसकारण यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है; क्योंकि लक्षण अपक्ष में चला गया। इसके उत्तर में कहा गया है कि मिथ्यादृष्टियों का तत्त्वार्थश्रद्धान नाममात्र का है, वह सच्चा श्रद्धान नहीं है। अत: इसमें अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है।

सभी सम्यग्दृष्टियों को सहज संभव होने से असंभव दोष तो हो ही नहीं सकता। इसप्रकार सम्यग्दर्शन का यह लक्षण सर्वांग निर्दोष ही है।

इसके बाद पण्डितजी सम्यग्दर्शन के विभिन्न ग्रंथों में प्राप्त विभिन्न लक्षणों में परस्पर सतर्क समन्वय स्थापित करते हैं; जो इसप्रकार है

''यहाँ प्रश्न है कि ऐसा है तो शास्त्रों में आपापर के श्रद्धान को व केवल आत्मा के श्रद्धान ही को सम्यक्त्व कहा व कार्यकारी कहा; तथा नवतत्त्व की संतति छोड़कर हमारे एक आत्मा ही होओ ऐसा कहा, सो किसप्रकार कहा ?

समाधान जिसके सच्चा आपापर का श्रद्धान व आत्मा का श्रद्धान हो, उसके सातों तत्त्वों का श्रद्धान होता ही होता है तथा जिसके सच्चा सात तत्त्वों का श्रद्धान हो, उसके आपापर का व आत्मा का श्रद्धान होता ही होता है ऐसा परस्पर अविनाभावीपना जानकर आपापर के श्रद्धान को या आत्मश्रद्धान को ही सम्यक्त्व कहा है।[१]

इसलिए प्रयोजनभूत आस्रवादिक विशेषों सहित आपापर का व आत्मा का श्रद्धान करना योग्य है अथवा सातों तत्त्वार्थों के श्रद्धान से रागादिक मिटाने के अर्थ परद्रव्यों को भिन्न भाता है व अपने आत्मा ही को भाता है, उसके प्रयोजन की सिद्धि होती है; इसलिए मुख्यता से भेदविज्ञान को व आत्मज्ञान को कार्यकारी कहा है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२४

तथा तत्त्वार्थश्रद्धान किए बिना सर्व जानना कार्यकारी नहीं है; क्योंकि प्रयोजन तो रागादिक मिटाने का है; सो आस्रवादिक के श्रद्धान बिना यह प्रयोजन भासित नही होता; तब केवल जानने ही से मान को बढाता है; रागादिक नहीं छोड़ता, तब उसका कार्य कैसे सिद्ध होगा ?

तथा नवतत्त्व संतति का छोड़ना कहा है; सो पूर्व में नवतत्त्व के विचार से सम्यग्दर्शन हुआ, पश्चात् निर्विकल्प दशा होने के अर्थ नवतत्त्वों के भी विकल्प छोड़ने की चाह की। तथा जिसके पहले ही नवतत्त्वों का विचार नहीं है, उसको वह विकल्प छोड़ने का क्या प्रयोजन है ? अन्य अनेक विकल्प आपके पास पाये जाते हैं, उन्हीं का त्याग करो।

इसप्रकार आपापर के श्रद्धान में व आत्मश्रद्धान में सातत्त्वों के श्रद्धान की सापेक्षता पायी जाती है, इसलिए तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण है।[१]**''**

उक्त विश्लेषण से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि आत्मश्रद्धान, आपापर का श्रद्धान और तत्त्वार्थश्रद्धान में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि सात या नौ तत्त्वार्थों के श्रद्धान में आत्मा का श्रद्धान और स्व तथा पर श्रद्धान भी आ ही जाता है। कथन में जो अन्तर दिखाई देता है, वह मतभेद नहीं, विवक्षाभेद है।

सात तत्त्वों के श्रद्धान बिना अकेले आत्मा का श्रद्धान संभव ही नहीं है और जिसे अपने आत्मा का परिज्ञानपूर्वक सम्यक्श्रद्धान है, उसे सात तत्त्वों का ज्ञान-श्रद्धान होता ही है।

इसीप्रकार जिसे तत्त्वों का ज्ञान-श्रद्धान है, उसे स्व-पर भेदविज्ञान होता ही है और जिसे सही रूप में स्व-पर भेदविज्ञान है, उसे भी तत्त्वार्थों का ज्ञान-श्रद्धान होता ही है।

यदि यह बात है तो फिर ऐसा क्यों लिखा कि हमें नौ तत्त्व की संतति वाला सम्यग्दर्शन नहीं चाहिए ?

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२४-३२५

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

नौ तत्त्व संबंधी विकल्पों को तोड़कर निर्विकल्प होने की भावना से ऐसा कहा है। नौ तत्त्वों का स्वरूप जानने के लिए जो अध्ययन, मनन, चिन्तन चल रहा था, विकल्प चल रहे थे; जब नौ तत्त्वों को भलीभाँति जान लिया तो फिर अब उन विकल्पों से क्या लाभ है ? अब तो उन्हें तोड़कर निर्विकल्प में जाना ही श्रेयस्कर है।

इसीप्रकार का कथन देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहने के संदर्भ में भी पाया जाता है; जो इसप्रकार है

''सप्ततत्त्वों के श्रद्धान में अरहंतादिक का श्रद्धान गर्भित है; क्योंकि तत्त्वश्रद्धान में मोक्षतत्त्व को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, वह मोक्षतत्त्व तो अरहंत-सिद्ध का लक्षण है। जो लक्षण को उत्कृष्ट माने वह उसके लक्ष्य को उत्कृष्ट माने ही माने; इसलिए उनको भी सर्वोत्कृष्ट माना, और को नहीं माना; वही देव का श्रद्धान हुआ।

तथा मोक्ष के कारण संवर-निर्जरा हैं, इसलिए इनको भी उत्कृष्ट मानता है; और संवर-निर्जरा के धारक मुख्यत: मुनि हैं, इसलिए मुनि को उत्तम माना, और को नहीं माना; वही गुरु का श्रद्धान हुआ।

तथा रागादिक रहित भाव का नाम अहिंसा है, उसी को उपादेय मानते हैं, और को नहीं मानते; वही धर्म का श्रद्धान हुआ।

इसप्रकार तत्त्वश्रद्धान में गर्भित अरहंतदेवादिक का श्रद्धान होता है।

अथवा जिस निमित्त से इसके तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उस निमित्त से अरहंतदेवादिक का भी श्रद्धान होता है। इसलिए सम्यक्त्व में देवादिक के श्रद्धान का नियम है।[१]

इसलिए जिसके जीवादिक तत्त्वों का श्रद्धान नहीं है, उसके अरहंतादिक का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। तथा मोक्षादिक तत्त्व के श्रद्धान बिना अरहंतादिक का माहात्म्य यथार्थ नहीं जानता।

लौकिक अतिशयादि से अरहंत का, तपश्चरणादि से गुरु का

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२६

और परजीवों की अहिंसादि से धर्म की महिमा जानता है, सो यह पराश्रितभाव हैं।

तथा आत्माश्रित भावों से अरहंतादिक का स्वरूप तत्त्वश्रद्धान होने पर ही जाना जाता है; इसलिए जिसके सच्चा अरहंतादिक का श्रद्धान हो उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही होता है ऐसा नियम जानना।[१]''

यद्यपि जीवादि तत्त्वों में देव-गुरु-धर्म आ जाते हैं, तथापि गृहीत मिथ्यात्व के निषेध के लिए उनकी श्रद्धा को भी सम्यग्दर्शन कहा है।

जहाँ कुदेव-कुगुरु-कुधर्म नहीं है, इसकारण गृहीत मिथ्यात्व भी नहीं होता; वहाँ इसके प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं है, किन्तु इस क्षेत्र और इस काल में इनकी अधिकता होने से तत्संबंधी सावधानी अत्यन्त आवश्यक है।

स्वर्ग, नरक या विदेहादिक क्षेत्रों में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की प्रवृत्ति न होने से वहाँ गृहीत मिथ्यात्व की मुख्यता नहीं है; पर भरतक्षेत्र में वर्तमानकाल में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की प्रवृत्ति विशेष होने से यहाँ देव-गुरु-धर्म संबंधी सही निर्णय होना अत्यन्त आवश्यक है।

देहादिक में एकत्वादि बुद्धिरूप अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व ही वास्तविक मिथ्यात्व है, कुदेवादिक संबंधी मान्यतवाला गृहीत मिथ्यात्व तो उक्त अनादिकालीन मिथ्या मान्यता का पोषक होने के कारण मिथ्यात्व है।

यही कारण है कि यहाँ गृहीत मिथ्यात्व छोड़ने पर अधिक जोर दिया जाता है; क्योंकि गृहीत मिथ्यात्व छूटे बिना अगृहीत मिथ्यात्व छूटता ही नहीं है।

'सम्यग्दर्शन की उक्त परिभाषाओं का किस क्रम से विचार किया जाना चाहिए' इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित होने पर पण्डितजी कहते हैं

''पहले तो देवादिक का श्रद्धान हो, फिर तत्त्वों का विचार हो, फिर आपापर का चिंतवन करे, फिर केवल आत्मा का चिंतवन करे

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२६

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM

इस अनुक्रम से साधन करे तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर कोई जीव सिद्धपद को भी प्राप्त कर ले।

तथा इस अनुक्रम का उल्लंघन करके, जिसके देवादिक की मान्यता का तो कुछ ठिकाना नहीं है और बुद्धि की तीव्रता से तत्त्व-विचारादि में प्रवर्तता है; इसलिए अपने को ज्ञानी जानता है अथवा तत्त्वविचार में भी उपयोग नहीं लगाता, आपापर का भेदविज्ञानी हुआ रहता है; अथवा आपापर का भी ठीक नहीं करता, और अपने को आत्मज्ञानी मानता है। सो यह सब चतुराई की बातें हैं, मानादिक कषाय के साधन हैं, कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

इसलिए जो जीव अपना भला करना चाहे, उसे जबतक सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो, तबतक इनको भी अनुक्रम से ही अंगीकार करना।[१]''

देखो, यहाँ पण्डितजी कहते हैं कि देव-गुरु-धर्म का सही स्वरूप समझे बिना तत्त्वविचारादि में लगकर अपने को ज्ञानी मानना; तत्त्वविचार में भी उपयोग नहीं लगाना और स्वयं को भेदविज्ञानी समझना; अथवा स्व-पर में भेदविज्ञान बिना ही स्वयं को आत्मज्ञानी मानना ये सब चतुराई की बातें हैं, मानादिक कषायों की पोषक बाते हैं, इनसे कुछ भी होनेवाला नहीं है। **चतुराई की बातें** इस व्यंग्योक्ति में बहुत गंभीर भाव भरा है। इसके माध्यम से वे यह कहना चाहते हैं कि इसप्रकार की प्रवृत्ति न केवल दूसरों को ठगने की वृत्ति है, अपितु स्वयं को भी गफलत में रखने की बात है।

वर्तमान में भी ऐसे लोग प्राप्त होते हैं कि जिन्हें न तो देव-गुरु-धर्म के बारे में कुछ विवेक है, न सही रूप में तत्त्व ही समझते हैं, स्व और पर की भी सही पहिचान नहीं है; फिर भी स्वयं को आत्मज्ञानी मानते हैं, दूसरों से स्वयं को आत्मज्ञानी मनवाते हैं, दूसरों को आत्मज्ञान देने का

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३२८

ढोंग करते हैं, उन्हें आत्मज्ञानी घोषित करते हैं। इसप्रकार गृहीत मिथ्यात्व का वातावरण निर्मित करते हैं। टोडरमलजी के जमाने में भी कुछ लोग ऐसे रहे होंगे। यही कारण है कि उन्होंने यह सब कुछ लिखा है।

पण्डितजी का मार्गदर्शन एकदम स्पष्ट है कि यदि तुम अपना भला चाहते हो तो जबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो, तबतक उपरिलिखित क्रम से ही प्रयास करो। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का राजमार्ग यही है।

एक भाई कहने लगे कि जब हम तत्त्व की बात सही समझते हैं, पर और पर्याय से भिन्न आत्मा की बात भी हमारे ख्याल में है और त्रिकाली ध्रुव आत्मा में ही हमारा अपनापन है, हम निरंतर उसी का ध्यान भी करते हैं; तो फिर इससे क्या फर्क पड़ता है कि हम किस मंदिर में जाते हैं, किसकी पूजा करते हैं या किस गुरु को मानते हैं। हम तो सब जगह जाते हैं, सबकी सुनते हैं; इससे आत्मानुभव का क्या संबंध है ?

ऐसे लोगों का यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि सच्चे देव-गुरु-धर्म के बारे में सही निर्णय होना अत्यन्त आवश्यक है, सभी को एक समान मानना, सभी की समान विनय करना विनय मिथ्यात्व है। इसलिए तत्त्वार्थश्रद्धान, आत्मानुभूति और भेदविज्ञान के साथ-साथ सच्चे देव-गुरु-धर्म का निर्णय भी अत्यन्त आवश्यक है, व्यवहारिक विवेक भी अत्यन्त आवश्यक है।

इसके बाद सम्यग्दर्शन के भेदों की चर्चा की गई है। भेदों में सबसे पहले निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन की बात है। उसके बाद आज्ञा सम्यक्त्व आदि दश भेदों की चर्चा की गई है।

तदुपरान्त औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन का निरूपण किया गया है। अन्त में सम्यक्त्वमार्गणा की अपेक्षा कहे जानेवाले छह प्रकारों की चर्चा है।

इसके बाद सम्यग्दर्शन के नि:शंकादि आठ अंगों की सामान्य चर्चा

Created by demo-version of Universal Document Converter. Full version doesn't add this stamp.
WWW.PRINT-DRIVER.COM